

अथर्ववेद

चतुर्थ भाग

(अथर्ववेदके काण्ड ११ से १८ तक)

[मूल मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और सुभाषितोंका संग्रह और उनके उपयोग करनेकी विधिके साथ]

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

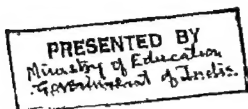
अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

*

मूल्य १०) रु.

प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]



संवत् २०१५ : शक १८८० : सन् १९५८



तृतीय बार

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]



अथर्ववेदके सुभाषित

सूक्ति-संग्रह

विभाग ४, काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण विभागसे ही काण्ड विभाग हैं। इसलिये सुभाषित भी प्रायः उसी क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार इधर उधर किये हैं। शेष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितं (११।७।२)— ईश्वरमें द्यु, पृथिवी तथा जो बना है वह सब टिक रहा है।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्टे (११।७।५)— ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः (११।७।१४)— नौ भूमियां, सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (११।७।१७)— सत्य, ऋत, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी, बलिष्ठका बल यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः (११।७।२३)—जो प्राणसे जीवित है, जो आंखसे देखता है, जो द्युलोकमें या अन्यत्र देव हैं वे सब परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२४)— ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२५)— प्राण, अपान, आंख, कान, भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२६)— आनंद, मोद, विशेष आनन्द, प्रत्यक्ष आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२७)— देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सराएं ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान, स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु (१३।१।१)— जिस देवने यह सब उत्पन्न किया वह तुझे इस राष्ट्रके लिये उत्तम भरण-पोषण-पूर्वक धारण करे।

द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः (१३।२।२६)— द्यु और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते (१३।३।१)— जो द्यु और पृथ्वीको उत्पन्न करता है और जो सब भुवनोंको अपना चोगा बनाकर पहनता है।

यो मारयति प्राणयति, यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)— जो जीवित रखता है और मारता है, जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (१३।३।१५)— जिसने यह सब भुवन बनाया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१३।३।२४)— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं।

कीर्तिश्च यशश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च, य एतं देवं एकवृतं वेद (१३।५।१४)— कीर्ति, यश, अवकाश, ब्रह्मतेज, अन्न, खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (१३।५।१६)- वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है।

स एष एक एकवृदेक एव (१३।५।२०)— वह देव एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।५।२१)— इसमें सब देव एकरूप होते हैं।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् (१८।१।२)— बडे ईश्वरके सुकोकका धारण करनेवाले वीर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुसंबंधका निषेध करते हैं।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुं उग्रम् (१८।१।४०)— रथमें बैठनेवाले भयकर उग्र शत्रुको समीपसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो- रुद्रदेवकी स्तुति करो।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् (१८।१।४०)— हे रुद्र ! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर, हमसे भिन्न दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु, कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (११।१।२८)— यह मेरा परिपक्व तेजस्वी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है, यह धन मैं ब्राह्मणोंमें बाँटता हूं। यह पितरोंमें स्वर्गीय मार्ग मैं करता हूं।

एतं शुभ्रम् गृहराजस्य भागं (११।१।२९)— यह श्रेष्ठ घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं।

अथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्— और यह विपत्तिका भाग है ऐसा जानते हैं।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि (११।१।३१)— घीसे सब गात्र शुद्ध कर।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वं (११।१।३३)— सब देव पके अन्नका रक्षण करें।

धेनुं सदनं रयीणां (११।१।३४)— गौ धनोंका घर है।

प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायुः रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम (११।१।३४)— संतान, अमरत्व, दीर्घ आयु, धन, पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं।

इषं दधानो, वहमानो अश्वैः, आ स द्युमां अमवान् भूषति द्यून् (१८।१।२४)— अन्नका धारण करनेवाला, घोडोंके वाहनसे जानेवाला, तेजस्वी और बलवान् दिनोंको (अपने व्यवहारसे) सुशोभित करता है।

पत्नी

एमा अगुर्योषितः शुम्भमानाः (११।१।१४)— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं।

उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व— स्त्री उठ, बलसे भर।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन।

प्रजया प्रजावती— संतानसे संतानवाली हो।

अयं यज्ञो गातुवित् नाथवित्, प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु— (११।१।१५)— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजा देनेवाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला, वीर पुत्रपौत्र देनेवाला हो।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः (११।१।१७)— ये स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हैं।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः—हमें संतान और बहुत पशु दे देवें।

ब्रह्मणा शुद्धा, उत पूता घृतेन सोमस्यांशवः तण्डुला यज्ञिया इमे (११।१।१८)— ज्ञानसे पवित्र, घीसे शुद्ध, सोमके अंश ये चावल यज्ञके लिये योग्य हैं।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां (११।१।२१)— हे वेदि! इसको उन्नत कर, प्रजासे इस स्त्रीको बढाओ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर।

प्रतरं धेह्येनाम्— इन स्त्रीको विशेष उन्नत कर ।

श्रिया समानानति सर्वान्त्स्याम— ऐश्वर्यसे हम सब समानोंसे विशेष हों ।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— द्वेष करनेवालोंको नीचे गिराते हैं ।

मा त्वा प्रापत् छपथो माभिचारः (११।१।२२)— तुझे शाप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनाम् (११।१।२२)— इस पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो ।

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज— अपने क्षेत्रमें नीरोग होकर विराजो ।

असंर्द्री शुद्धामुप धेहि नारि, तत्रौदनं सादय दैवानाम् (११।१।२३)— शुद्ध न टूटी थालीको, हे स्त्री ! चूलेपर रख, उसमें देवोंके लिये अन्न पकाओ।

ते मा रिषन् प्राशितारः (११।१।२५)— इस अन्नको पीनेवाले नष्ट न हों । (अन्नमें दोष न हो ।)

दयाशील स्त्री

अहं पचामि, अहं ददामि, ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया, कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् (१२।३।४७)— मैं पकाता हूं, मैं देता हूं, मेरी पत्नी दयाके कर्ममें यत्न करती है, हमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है । उच्च अवस्था प्राप्त करता हुआ उच्च जीवन व्यतीत करे ।

दान

ददामीत्येव ब्रूयात् (१२।४।१)— देता हूं देता ही कहना चाहिये ।

पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्त्वंहसः (११।६।१-२२)— वे हमें पापसे बचावें ।

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम (१८।१।४)— जो पहिले किया नहीं वह अब कैसा करें, सत्य बोलनेवाले असत्य कार्य कैसे करें ?

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति (१८।१।९)— देवोंके पास यहां जो चलते हैं, वे न ठहरते हैं न आंखें बंद करते हैं (वे पापीको पकडते ही हैं ।)

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् (१८।१।१४)— बहिनके पास जाना पाप कहलाता है ।

पुत्रकामना

ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा (११।१।१)— पुत्रकी इच्छा करनेवाली माता ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है ।

अद्रोघाविता वाचमच्छ (११।१।२)— द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेकी भाषा बोल ।

पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त शत्रून् (११।१।२)— सेनाका पराभव करनेवाला उत्तम वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं।

अजनिष्ठा महते वीर्याय (११।१।३)— बडे पराक्रम करनेके लिये जन्म लो ।

अस्मै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ — सब पुत्रपौत्रोंके साथ रहनेवाला धन इसको दो ।

विद्वान् देवान् यज्ञियां एह वक्षः (११।१।४)— तू विद्वान् पूजनीय देवोंको यहां ले आ ।

न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् (११।१।६)— द्वेष करनेवाले सपत्नोंको दूर कर ।

सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु (११।१।६)— स्वजातियोंको कर देनेवाले करे ।

उदुञ्जैनां महते वीर्याय (११।१।७)— महान् पराक्रम करनेके लिये ऊंची प्रेरणा कर ।

गच्छेम सुकृतस्य लोकं (११।१।८)— पुण्यकर्म करनेवालेके लोकको हम जांय ।

ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह (११।१।९)— प्रजाका उद्धार करनेके लिये ऊपर उठावो ।

श्रिया समानानति सर्वान् स्याम (११।१।१२)— धनसे हम सब समानोंसे आगे बढेंगे ।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— शत्रुको नीचे गिरा देते हैं ।

पशु पालन

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः (११।२।१)— हमारे द्विपाद, चतुष्पादोंकी हिंसा न करो।

प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे (११।४।१)— जिसके अधीन सब है उस प्राणके लिये नमस्कार करता हूं।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्— प्राण सबका ईश्वर है और उसमें सब रहा है।

यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे (११।४।९)— हे प्राण! जो तेरे अन्दर औषध है वह दीर्घ जीवनके लिये मुझे दो।

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न (११।४।१०)— जो जीवित है और जो अचेतन है, उन सबका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते (११।४।११)— प्राण मृत्यु है, प्राण शक्ति है, इस लिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं।

प्राणमाहुः प्रजापतिम् (११।४।१२)— प्राण ही प्रजापालक है।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा (११।४।१४)— आत्मा गर्भमें प्राण और अपानके कार्य करता है।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् (११।४।१५)— प्राणमें भूत, भविष्य सर्व प्राणमें रहता है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि (११।४।१६) — आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानवी ये औषधियां तब कार्य करती हैं जब प्राण प्रेरणा देता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेत् नैवाद्य न श्वः स्यात्, न रात्री नाहः स्यात्, न व्युच्छेत्कदा चन (११।४।२१)- हंस जलसे ऊपर उड़ता हुआ एक पांव अंदर रखता है, यदि वह दूसरा पांव भी ऊपर उठावेगा तो आजकल, रातदिन कुछ भी नहीं होगा। अंधेरा भी नहीं होगा।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि (११।४।२६)— हे प्राण! तू मुझसे पृथक न हो, मुझसे दूर न जा।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति (११।५।१)— ब्रह्मचारी शक्तिको इच्छा करता हुआ दोनों लोकोंमें चलता है, उसके लिये सब देव अनुकूल उसके साथ सहायक होते हैं।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे (११।५।२)— ब्रह्मचारीके अनुकूल पितर, देवजन, देव ये सब रहते हैं।

त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः। सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति— तैंतीस, तीन सौ, छः हजार इन सब देवोंको वह अपने तपसे प्रसन्न करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (११।५।३)— आचार्य उपनयन करके ब्रह्मचारीको अपने (विद्यामाताके) गर्भमें रखता है।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः — उस ब्रह्मचारीको वह आचार्य तीन रात्री तक अपने उदरमें रखता है। जब वह बाहर आता है तब उसको सब देव देखनेके लिये आते हैं।

ब्रह्मचारी……लोकांस्तपसा पिपर्ति (११।५।४)— ब्रह्मचारी……लोकोंको अपने तपसे पूर्ण करता है।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् (११।५।६)— वह ब्रह्मचारी पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक लोकसंग्रह करता है और उनको सदाचारका उपदेश देता है।

तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् (११।५।१०)— वह ज्ञानी केवल ज्ञानका प्रचार करता है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः (११।५।१६) —शिक्षक ब्रह्मचारी हों, और प्रजापालक ब्रह्मचारी हों।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति (११।५।१७) —ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी सुरक्षा करता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते— आचार्य ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचारीको इच्छा करता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (११।५।१८) —ब्रह्मचर्य पालन करके कन्या युवा पतिको प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (११।५।१९)— ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् (११।५।२२)— ब्रह्मचारीने धारण किया ब्रह्म उन सबको रक्षा करता है।

मातृभूमि

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (१२।१।१)— सत्य, बृहत् ऋत, उग्रवीरता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु— वह भूत और भविष्यकी पालन करनेवाली मातृभूमि हमारे लिये विशेष विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु (१२।१।२)— जिस मातृभूमिके मानवोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस कारण झगडे नहीं हैं।

पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः— हमारी मातृभूमि हमारे यशकी वृद्धि करे।

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः (१२।१।३)— जिस मातृभूमिमें किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजाते हैं।

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय देवे।

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु (१२।१।४)— वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों और अन्नमें धारण करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे (१२।१।५)— जिस मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे।

यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्— जिस मातृभूमिमें देवोंने असुरोंका पराभव किया था।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु— गौवें, घोडे, और पक्षियोंका जो स्थान है वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् (१२।१।७)— जिस मातृभूमिका संरक्षण देव प्रमाद न करते हुए सदा करते रहते हैं।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा— वह मातृभूमि हमें प्रिय मधुर रस देवे, और तेजसे युक्त करे।

यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः (१२।१।८)— जिस मातृभूमिकी कौशल्ययुक्त कर्मोंसे बुद्धिमान् लोग सेवा करते हैं।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे।

विष्णुर्यस्यां विचक्रमे (१२।१।१०)— विष्णु जिस मातृभूमिमें पराक्रम करता रहा।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिको शत्रुरहित किया।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् (१२।१।११) --अपराजित, अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृभूमिका अध्यक्ष होऊंगा।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२)— मेरी माता, भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूं।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१२।१।१३)— वह हमारी मातृभूमि बढाई जानेपर हमारा संवर्धन करे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासान्मनसा, यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि (१२।१।१४)— हे मातृभूमे ! जो हमारा द्वेष करता है, जो हमपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास बनाना चाहता है, जो वध करता है, हे शत्रुनाश करनेवाली ! उसका नाश कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१२।१।१५)— तेरेसे उत्पन्न हुए मानव तेरे ऊपर संचार करते हैं। तू द्विपाद और चतुष्पादोंका धारण करती है।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये पांचों प्रकारके मानव तेरे ही पुत्र हैं।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतां। शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा (१२।१।१७)— धर्मसे धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।

मा नो द्विक्षत कश्चन (१२।१।१८)— हमारा कोई द्वेष न करे।

त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु (१२।१।२१)— मातृभूमि मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण करे।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः (१२।१।२२) —भूमिमें मर्त्य मनुष्य धारक पोषक अन्न खानेसे जीवित रहते हैं।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदृष्टिं मा पृथिवी कृणोतु— वह हमारी मातृभूमि मेरे अन्दर प्राण और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला करे।

तेन मा सुरभिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमी उस सुवाससे मुझे सुगंधयुक्त करे।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)- उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाली मातृभूमिके लिये मैं नमन करता हू।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल हमारे शरीरके लिये बहे।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्म — जो दुष्ट है उसको अप्रिय अवस्थामें रखते हैं।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि— हे पृथिवी ! पवित्रसे मैं अपने आपको पवित्र करता हू।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशायें घूमनेवाले मुझे सुखदायक हो, भूमिपर रहनेवाले मुझे कोई न गिरावे।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमे ! तू हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो।

मा विदन् परिपन्थिन — शत्रु हमें न जाने।

वरीयो यावया वधम्— शस्त्र हमसे दूर जाय।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी (१२।१।३४)— सबको आश्रय देनेवाली मातृभूमि ! मेरी हिंसा न कर।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः (१२।१।३९)- प्राचीनकालका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने वाणीसे तेरी स्तुति गायी।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे (१२।१।४०) — वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए और जिस भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं।

युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः — जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं, और जिसमें दुन्दुभि बजता है।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— वह मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रुरहित बनावे।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३) — जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रमणीय बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धनका खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न और सुवर्ण देवे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान् देवी मातृभूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसं (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलनेवाले, नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहनेवालोंके समान धारण करती है।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (१२।१।४५)—वह हमारी मातृभूमि, न हिलनेवाली गौके समान, हमें धनकी सहस्रों धाराएं देवे।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुख दे।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः तं पन्थानं जयेम अनमित्रमतस्करं (१२।१।४७)— जो बहुतसे मार्ग जाने-आनेके और रथके हैं जिनपर सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और चोररहित हों।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः (१२।१।५४)— मैं विजयी और अपनी मातृ-

भूमिपर श्रेष्ठ हूं। सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला, प्रत्येक दिशामें विजयी हूं।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदामि ते (१२।१।५६)— जो ग्राम हैं, जो अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियां होती हैं, जो युद्ध होते हैं उनमें मैं हे मातृभूमि! तेरे विषयमें उत्तम भाव रखनेवाला भाषण करूंगा।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (१२।१।५८)—जो बोलूगा वह मीठा ही बोलूगा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हन्मि दोधतः— मैं तेजस्वी हू, और प्रगति करनेवाला हू। जो हमारी भूमिको दुःख देते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूं।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य (१२।१।६१)— हे मातृभूमि! जो तेरे अन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णता सत्यका प्रथम प्रवर्तक प्रजापति करता है।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः (१२।१।६२)— हे मातृभूमि! तुम्हारे अन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः— हम ज्ञानी हों और हमारी आयु दीर्घ हो।

वयं तुभ्य बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना बली देनेवाले हों।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (१२।१।६३) — हे मातृभूमे! मुझे कल्याणसे संयुक्त कर।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्— प्रतिदिन जाननेवाली होकर तू मुझे पृथिवीमें संपत्तिमें रख (भरपूर संपत्ति दो।)

युद्ध

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि। सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु उदारांश्च प्र दर्शय (११।९।१)— जो वीरोंके बाहु, बाण, धनुष्य, पराक्रम, तलवारें, फरशियां, आयुध, हृदयमें जो विचार हैं, हे सेनापते! तू यह सब शत्रुओंको दिखाओ और स्फोटक बम भी दिखाओ। (जो देखकर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो।)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२)— उठो, तैयार हो जाओ।

संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखे और सुरक्षित हों।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्यां, अमित्राणां सेना अभि धत्तं (११।९।३)— उठो, आदान सदान करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको पकडो।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ (११।९।५)— हे देवजन सेनापते! तू सेनाके साथ उठो। शत्रुकी सेनाको अपनी पकडोंसे पकडकर नष्ट कर।

उत्तिष्ठ सेनया (११।९।६)— सेनासे उठो।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते (११।९।७)— छाती पीटती, आखोंमें अश्रुवाली, कानमें आभूषण न हों ऐसी, पुरुष मरनेपर बिखरे बालवाली शत्रु स्त्री आक्रोश करे।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः। पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव (११।९।१०)— हे सेनापते, तेरा आक्रमण होनेपर जो प्रेत रणक्षेत्रमें पडेंगे उनपर सब पशु, मक्खियां, क्रिमी तृप्त होते रहें।

मुह्यन्त्वेषां बाहवः चित्ताकूतं च यद्धृदि। मैषामुच्छेषि कश्चन रदिते अर्बुदे तव। (११।९।१३) — हे सेनापति! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुओंमेंसे कोई न रहे, उनके बाहु मोहित हो, उनके मनमें जो हो वह भी भ्रान्त बने।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिच। जयांश्च जिष्णुश्चामित्रॉ जयतां (११।९।१८)— शत्रुके सेनासमूहोंको कपायमान् करो, शत्रुको जीतो, अपने वीर विजयी हों।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरं वरं (११।९।२०)— प्रेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरको मारे।

अमित्रान् नो वि विध्यतां (११।९।२३)— शत्रुओंको वींधो।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२६) — इन शत्रुओंके तुम स्वामी हो, उठो, तैयार हो जाओ।

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्— इस संग्रामको जीतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं उदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यनु धावत। (११।१०।१)— उठो, अपने ध्वजोंसे तैयार हो जाओ, हे सर्पों और इतर जनो! राक्षसोंपर हमला चढाओ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह (११।१०।५)— हे देवजन सेनापते! तू उठ, सेनाके साथ चढाई कर।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व (११।१०।१८)— शत्रुको जीत और अपने अधीन कर।

तमसा त्वममित्रान् परि वारय (११।१०।१९)— तू तमसास्त्रसे शत्रुका निवारण कर।

मामीषां मोचि कश्चन— उन शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणां अमूः सिचः(११।१०।२०) —इन शत्रुओंके सेनासमूहपर श्वेत पांववाली शक्ति गिरे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां— शत्रुकी सेनायें मोहित हों।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरं(११।१०।२१)— हे सेनापते! शत्रुसेना मूढ बनी है, इनके मुखिया वीरोंको मार।

अनया जहि सेनया— इस सेनासे जीतो।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयाम् (११।१०।२२)— जो शत्रु कवचधारी है, जो कवचसे रहित है, जो रथपर बैठा है, वह शत्रु ज्यापाशोंसे, कवचपाशोंसे तथा रथके आघातसे मरा होकर भी जाय।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्तानर्बुदे हतान् श्वानोऽदन्तु भूम्याम् (११।१०।२३)— जो कवचधारी अथवा कवचके विना शत्रु हैं, ये सब युद्धमें मरें और भूमिमें पडे। इनके प्रेत कुत्ते खायें।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः। सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः (११।१०।२४)— जो रथी, जो रथके विना, जो घोडोंवाले अथवा जो घोडोंके विना शत्रु हैं, उन सबको युद्धमें मरनेपर गीध, श्येन आदि पक्षी खायें।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानां। विविद्धा ककजाकृता (११।१०।२५)— युद्धमें मारी गयी, शस्त्रोंसे वींधी और विकृत आकारवाली होकर शत्रुसेना सहस्रों प्रेतोंमें युद्धभूमीपर शयन करे।

शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत(११।८।९)— इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा और धातासे धाता हुआ। (ये देव पुत्र शरीरमें आकर रहे हैं।)

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते(११।८।१०) —पूर्व समयमें दस देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न हुए। पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस लोकमें भला रहने लगे हैं?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१३) —सिंचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब संभार इकट्ठा किया। सब मर्त्यको जीवनरससे सिंचित करके ये सब देव शरीरमें आकर रहे हैं।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१८)- मर्त्य घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः (११।८।२३) —विद्या, अविद्या (विज्ञान), और जो उपदेश करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ, वही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हैं।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।२९)- रेतका घी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इद ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२) —इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते— सब देवताएं यहां, गोशालामें जैसी गौवें रहती हैं, वैसी रहती हैं।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि (१२।२।१)— यह सीस तेरा भाग्य है।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि— जो क्षयरोग गौओंमें और पुरुषोंमें होगा, उसको तुम दूर कर।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)- क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूं।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिं अजामसि (१२।२।३) —हम मृत्यु, दुःख और शत्रुको दूर करते हैं।

यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने— जो हमारा द्वेष करता है, हे अग्ने! उसे खा।

त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)— ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे।

ते ते यक्ष्मं स चेदसो दूराद्दूरमनीनशन् (१२।२।१४) — वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें।

शुद्धा भवत यज्ञियाः (१२।२।२०)— शुद्ध और पूजनीय बनो।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)— यहां ये वीर बहुत हों।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य (१२।२।२२)— हमारी ईश्वर प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय (१२।२।२२)— नाचने और हसनेके लिये हम आगे बढें।

सुवीरासो विदथमा वदेम— उत्तम वीर बनकर युद्धका विचार करेंगे।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतं (१२।२।२३)— मानवप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है, नीच बनकर इस आयुरूपी धनका कोई नाश न करे।

शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन— सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढके द्वारा) मृत्युको दूर रखे।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ (१२।२।२४)— वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो, एकके पीछे दूसरे सिद्धितक यत्न करो।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय— उत्तम जन्मवाला कार्यकारी त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे।

यथा न पूर्वं अपरो जहाति, धातरायूंषि कल्पयैषां (१२।२।२५)— जिस तरह पूर्व जन्मके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता! इनकी आयुकी योजना कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)— पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है, हे मित्रो! संभालो और वीरता धारण करो।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्— जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, हम पार होनेपर रोगरहित अन्न प्राप्त करेंगे।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयं (१२।२।२७)— उठो और तैरो। हे मित्रो! यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्— जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, अब हम पार हो जांयगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)— सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढानेके लिये प्रारंभ करो, तुम शुद्ध, पवित्र और मलरहित बनो।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम— पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आनंदसे रहेंगे।

मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन (१२।२।२९)— अपने आचरणसे मृत्युको दूर करते हैं ।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः (१२।२।३०)— मृत्युके पांवको दूर करके, दीर्घ आयुको अति दीर्घ करके धारण करके चलो ।

आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो, और यदि जीवेंगे, सभामें यज्ञकी बात करेंगे ।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् । अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे (१२।२।३१)— ये स्त्रियां उत्तम पत्नीयां हों, विधवा न हों, अंजन और घी लगावें, रोगरहित, अश्रुरहित, उत्तम रत्न धारण करनेवाली स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे स्थानपर चढ़ें ।

दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि (१२।२।३२)— इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं ।

ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन् म्रियते पतिः (१२।२।३९)— जब स्त्रीका पति मरता है तब घर-पीडाओंसे युक्त होते हैं ।

जीवानामायुः [redacted] तिर (१२।२।४५)— जीवितोंकी आयु दीर्घ कर ।

पयो ऊर्जं रयिं अस्मासु धेहि (१२।२।४६)— इनका बल और धन हमें दे ।

दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि (१२।२।५५)— मैं इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं ।

इमं जीवं जीवधन्याः समेत्य, तासां भजध्वममृतं यमाहुः (१२।३।४)— जीवनको धन्य करनेवालो ! इस जीवदशाको प्राप्त होकर वहांका अमृत प्राप्त करो ।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् (१२।३।१०)— श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है ।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः (१२।३।१५)— राक्षस और पिशाचोंको दूर करता हुआ [redacted] वनस्पति दिव्य शक्तियोंसे हमारे पास आया है ।

तेन लोकानभि सर्वान् जयेम— उससे सब लोकोंको जीतेंगे ।

विवाह

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यताम् अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि (१४।१।२१)— यहां तेरी प्रजाके लिये समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पालक बनकर जागती रहे ।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व— इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर ।

इहैव स्तं, मा वि यौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (१४।१।२२)— यहीं रहो, मत पृथक् होओ, सब आयु होनेतक मिलकर रहो ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और नातोंके साथ खेलते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो ।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् (१४।१।३४)— कांटोंसे रहित सरल मार्ग हों जिनसे हमारे मित्र कन्याके घर जाते हैं ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्व अमृताय कम् (१४।१।४२)— उत्तम मन, सन्तान और सौभाग्यकी आशा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर अमरत्व प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो ।

यथा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य (१४।१।४३)— वैसी तू पतिके घर पहुंचकर वहां सम्राज्ञी होकर रह ।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु । ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः (१४।१।४४)— श्वशुर, देवर, ननन्द, सास इनके साथ सम्राज्ञी होकर रह ।

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु (१४।१।४७)— सविता तेरी दीर्घ आयु करे ।

तेन गृह्णामि ते हस्तं, मा व्यथिष्ठा, मया सह प्रजया च धनेन च (१४।१।४८)— तेरा हाथ मैं ग्रहण करता हूं, मत घबरा, मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (१४।१।५०)— मैं तेरा हाथ पकडता हूं, मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव (१४।१।५१)– तू मेरी धर्मसे पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूं।

ममेयमस्तु पोष्या, मह्यं त्वादाद्‌बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् (१४।१।५२) —यह स्त्री मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो, बृहस्पतिने तुझे मुझे दिया है। मेरे साथ रहकर, प्रजावाली हो और सौ वर्ष जीवित रह।

शिवा स्योना पतिलोके वि राज (१४।१।६४)— कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पतिके घर विराज।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् (१४।२।२)— इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष जीवित रहता है।

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् (१४।२।४) — धन और पुत्रोंको तथा इस स्त्रीको अग्निने मुझे दिया।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः (१४।२।७)— औषधियां, नदियां, क्षेत्र और जो वन हैं, वे सब पतिके लिये प्रजावाली तुझे राक्षसोंसे सुरक्षित रखें।

यस्मिन्वीरो न रिष्यति, अन्येषां विन्दते वसु (१४।२।८)— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और अन्योंकी अपेक्षा अधिक धन मिलता है।

स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् (१४।२।९)— इस वधुके लिये सब पदार्थ सुखदायी हों, कोई ढोया जानेवाले इस रथका नाश न करे।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतां अप द्रान्त्वरातयः (१४।२।११)— जो शत्रु समीप प्राप्त होंगे वे इस दम्पतीको न जाने, ये वधूवर सुखसे दुर्गम प्रसंगोंके पार जांय, और इनसे शत्रु दूर हों।

सं काशयामि वहतु ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण (१४।२।१२)— मैं पुकारकर कहता हूं कि वधुके दहेजको ज्ञानपूर्वक मित्रकी दृष्टिसे देखें।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु (१४।२।१२)— जो कुछ अनेक रंगरूपवाला यहां इसमें बधा है वह पतिके लिये सुखकर हो ऐसा सविता करे।

शिवा नारीयमस्तमागन् (१४।२।१३)— यह कल्याणी नारी अपने घरको आ रही है।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजासे इसको बढावे।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्, तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धं वृषभस्य रेतः॥ (१४।२।१४)— यह नारी आत्मबलसे युक्त, प्रजा उत्पन्न करनेवाली है, इसमें पुरुष बीज बोये, वह आपके लिये संतान अपने गर्भाशयसे उत्पन्न करे, दूध और वीर्यवान् पुरुषका रेत धारण करे।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना। (१४।२।१७)— प्रेमपूर्ण दृष्टिवाली, पतिका घात न करनेवाली, सुख देनेवाली, सुन्दर, सेवा उत्तम करनेवाली, घरोंके लिये सुखदायक, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, पतिको भाई रहे ऐसी इच्छावाली, उत्तम मनवाली ऐसी स्त्रीसे हम संपन्न हों।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य। (१४।२।१८)— देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, पशुओंका हित करनेवाली, उत्तम नियमसे चलनेवाली, तेजस्विनी, संतानवाली, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, घरमें देवर रहें ऐसी इच्छावाली, कल्याण करनेवाली तू अग्निकी पूजा घरमें कर।

उत्तिष्ठ, इतः किमिच्छन्तीदमागाः, अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् (१४।२।१९)— हे दुर्गति! तू यहांसे उठ, यहां क्या चाहती है, यहां क्यों आ गई है? मैं तेरा पराभव करूंगी, अपने घरसे तुझे दूर करूंगी।

शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः— हे दुर्गति ! तू इस घरको शून्य करना चाहती है, यहांसे उठ, दूर जा, यहां न रममाण हो।

देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा (१४।२।२४)— अग्नि देव सब राक्षसोंको मारता है।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्येष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः— यहां सन्तान उत्पन्न कर, इस पतिके लिये यह श्रेष्ठ पुत्र बने।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् (१४।२।२६)— उत्तम मंगल कामनावाली, घरोंका दुःख दूर करनेवाली, पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली, श्वशुरके लिये सुख देनेवाली, सासके लिये हितकर ऐसी अपने घरमें प्रविष्ट हो।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव (१४।१।२७)— श्वशुरके लिये, पति और घरके लोगोंके लिये, सब प्रजाके लिये सुखकर हो और इनका पोषण करनेवाली हो।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन। (१४।२।२८) — यह वधू उत्तम कल्याण करनेवाली है, आओ और इसे देखो, इसको सौभाग्य देकर दुर्भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ।

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन। (१४।२।२९)— जो दुष्ट हृदयवाली तथा वृद्ध स्त्रियां हैं, वे इस वधूको तेजस्वी होनेका आशीर्वाद दें और अपने घरको जांय।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै (१४।२।३१)— बिछौनेपर चढ़, उत्तम मनवाली इस पतिके लिये सन्तान उत्पन्न कर।

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह (१४।२।३२)— हे स्त्री ! तू इस स्थानमें सूर्यप्रभाके समान महत्वसे अनेक रूपोंको प्राप्त होकर सन्तान उत्पन्न करके पतिके साथ आनन्दसे रह।

मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् (१४।२।३७)— मर्दके समान स्त्रीके साथ रह, प्रजा उत्पन्न कर, और यहां धनको बढाओ।

प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु (१४।२।३९)— यहां प्रजा उत्पन्न करके आनन्दसे रहो, आप दोनोंकी आयु सविता देव लंबी करे।

अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे (१४।२।४०)— दुष्ट भाव छोड़कर पतिके घरमें प्रवेश कर, द्विपाद और चतुष्पादके लिये कल्याण करनेवाली हो।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवौ उषसो विभातीः (१४।२।४३)— हास्यविनोद करनेवाले, सुखदायी स्थानसे उठनेवाले, उत्तम इन्द्रियों और गौवोंसे युक्त उत्तम बालबच्चोंवाले, उत्तम घरवाले स्त्रीपुरुष ये दो जीव प्रकाशमान् उष कालके समान प्रकाशते रहें।

मा वयं रिषाम (१४।२।५०)— हमारा नाश न हो।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत। (१४।२।५२)— पिताके घरसे पतिके घर जानेवाली ये कन्याएं सदिच्छा धारण करें, दक्षतासे रहें।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् (१४।२।६३) — यह स्त्री धानका हवन करती हुई यह कहती है, कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीवे।

चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् (१४।२।६४)— चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान ये दम्पती, ये उत्तम घरवाले प्रजाके साथ पूर्ण आयु प्राप्त करें।

अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् (१४।२।६०)— हम पवित्र और शुद्ध बने और हमारी आयु दीर्घ हो।

अंगादंगाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि (१४।२।६९)— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर करते हैं।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै। (१४।२।७१)— मैं प्राण हूं तू शक्ति है, गान मैं हूं और ऋचा तू है, द्यु मैं हूं पृथिवी तू है, यहां हम इकट्ठे रहें और प्रजा उत्पन्न करें।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१४।२।७५)— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके घरमें जागती रह, सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये यत्न कर।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु— घरमें जा, घरकी स्वामिनी होकर रह, सविता तेरी आयु दीर्घ करे।

व्रात्य

सोऽवर्धत, स महानभवत्स महादेवोऽभवत् (१५।१।४)— वह बढ गया, वह बडा हो गया, वह महादेव हुआ।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् (१५।१।५) —वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ, वह ईश्वर हुआ।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति (१५।१।८)- नीलेसे वह अप्रिय दुष्टको घेरता है और लोहितसे द्वेषीको बींधता है ऐसा ब्रह्मवादियोंका कहना है।

शत्रु दूर करना

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् (१३।१।३)— हे उग्रवीर मरुतो! तुम भूमिको माता माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश करो।

सं ते राष्ट्रं अनक्तु पयसा घृतेन (१३।१।८)— तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर हो।

विशि राष्ट्रे जागृहि (१३।१।९)— प्रजामें तथा राष्ट्रमें जागते रहो।

गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१३।१।१२)— मुझे गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् (१३।१।२०)— सब शत्रुओंपर आक्रमण कर और इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर।

तया वाजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वा पृतना अभि ष्याम (१३।१।२२)— अनेक प्रकारके अन्न और बल जीतेंगे और इससे सब सैन्योंका पराभव करेंगे।

तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (१३।१।२३)— कवि प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं।

सपत्नानधरान् पादयस्मत् (१३।१।३१)— हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे (१३।१।५८)— दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पापोंको हम शुद्ध करते हैं।

सुदृढ शरीर

सर्वांग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद (११।३।३२)— सब अंगोंसे युक्त, सब पर्वोंसे युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान जानता है।

दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः, शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे। मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः (१६।१।१२-१३)— हे जलदेवता! शुभ दृष्टिसे मुझे देखो, शुभ स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो। मुझे तेज और क्षात्रबल धारण करो।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् (१६।२।१)— दुर्गति दूर हो, वाणी मीठी हो।

मधुमती स्थ, मधुमतीं वाचमुदेयम् (१६।२।२)— मीठी वाणी हो, मीठी वाणी हम बोलें।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम् (१६।२।४)— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें, मेरे कान कल्याणवचन सुनें, कल्याणकारक वचन मैं सुनूंगा।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां, सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः (१६।२।५)— उत्तम श्रवण

शक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति मुझे न छोड़ें, गरुड़के समान दृष्टि और बड़ा तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (१६।३।१) धनोंका उच्च स्थान तथा समानोंमें मैं उच्च बनूं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां (१६।३।२)— तेज और कान्ति मुझे न छोड़े ।

मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् — उच्च स्थान और विशेष धर्म मुझे न छोड़े ।

असंतापं मे हृदयं (१६।३।६)— मेरे हृदयको संताप न हो ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं, मा जने प्र मेषि (१६।४।५) —प्राण, अपान मुझे न छोड़ें, मनुष्योंमें मैं घातक न बनूं ।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयं (१६।६।१)— आज हम विजय प्राप्त करेंगे, प्राप्तव्यको प्राप्त किया है, हम निष्पाप हुए हैं ।

द्विषते तत्परा वह, शपते तत्परा वह (१६।६।३)— द्वेष करनेवालेको दूर कर, गाली देनेवालेको दूर कर ।

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः (१६।६।४)— जिसका हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करता है, उसको नीचे पहुंचाते हैं ।

तेऽमुष्मै परा वहन्तु अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः कुम्भीका दूषिकाः पीयकान् (१६।६।७-८)— वे निर्धनता, कष्ट, आपत्तियों, रोग, दोष, विपत्तियोंको दूर ले जाय ।

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि, पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि (१६।७।१)— उससे इस पापका वध करता हूं । दुर्गति, दारिद्र्य और रोगसे शत्रुको बींधता हूं । बाधकपन और अन्धकारसे शत्रुको पीड़ित करता हूं ।

जितमस्माकं उद्भिन्नमस्माकं ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं, यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् (१६।८।१)— हमारे विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, आत्मतेज, यज्ञ, पशु, प्रजा वीर हों । यह सब हमें प्राप्त हों ।

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि (१६।८।३)— वह शत्रु रोगके पाशोंसे न छूटे ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि, इदमेनमधराञ्चं पादयामि (१६।८।४)— इसके तेज, बल, प्राण, आयुको मैं घेरता हूं । इस शत्रुको नीचे गिराता हूं ।

वसुमान् भूयासं, वसु मयि धेहि (१६।९।४)— मैं धनवान् होऊं, धन मेरे पास रख ।

अभ्युदय

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसं । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितं । ईड्यं नाम ह इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् । (१७।१।१) — सामर्थ्यवान्, बलवान्, विजयी शत्रुको दबानेवाले, शक्तिमान्, दिग्विजयी, सबसामर्थ्यसे जीतनेवाले, भूमिको जीतनेवाले, धन जीतनेवाले प्रशंसनीय स्तुत्य इन्द्रकी हम भक्ति करते हैं, मैं दीर्घायु बनूं ।

प्रियो देवानां भूयासं (१७।१।२)— देवोंको मैं प्रिय बनूं ।

प्रियः प्रजानां भूयासं (१७।१।३)— मैं प्रजाओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः पशूनां भूयासं (१७।१।४)— मैं पशुओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः समानानां भूयासं (१७।१।५)— मैं समानोंको प्रिय बनूं ।

द्विषंश्च मह्यं रध्यतु, मा चाहं द्विषते रधं (१७।१।६) — शत्रुओंको मेरे हितके लिये वशमें कर, परंतु मैं कभी शत्रुके अधीन न बनूं ।

सुधायां मा धेहि (१७।१।७)— अमृतमें मुझे रख ।

स नो मृड, सुमतौ ते स्याम (१७।१।८)— वह तू हमें आनंदमें रख, तेरी उत्तम संमतिमें हम रहें ।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् (१७।१।११)— हे इन्द्र ! तू विश्वको जीतनेवाला और सबको जाननेवाला है ।

सपत्नान् मह्यं रन्धयन् (१७।१।२४)— मेरे लिये शत्रुओंका नाश कर।

अरदृष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयं (१७।१।२७)— वृद्ध अवस्थातक वीर्यवान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु होकर विचरूंगा।

सरस्वती

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् (१८।१।४१)— देव बननेकी इच्छा करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, यज्ञ शुरू होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, उत्तम कार्य करनेवाली सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, सरस्वती– विद्या–धन देती है।

अनमीवा इष आ धेह्यस्मे (१८।१।४२)— नीरोग अन्न हमें दे।

सहस्रार्धमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि (१८।१।४३)— हजारों प्रकारका अन्नभाग और धनके साथ पुष्टि यजमानको दे।

पितृमेध

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु (१८।१।४४)— जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने प्राणको प्राप्त किया है। अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं वे सत्य यज्ञको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वासो अपरास ईयुः (१८।१।४६)— जो पूर्व और आधुनिक पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम (१८।१।५२)— हमने मनुष्य होनेसे जो पाप किया हो उसके लिये, हे पितरो! हमारी हिंसा न करो।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः (१८।२।२)— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज ऋषियोंको यह नमन करता हूं।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घायुः प्र जीवसे (१८।२।३)— वह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ आयु देवे।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् (१८।२।१७)— जो शूर युद्धोंमें लडते हैं, युद्धोंमें जो अपना शरीर त्यागते हैं, तथा जो हजारोंका दान करते हैं उनके पास तू जा।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः (१८।२।१९)— हे पृथिवी! इसके लिये सुख देनेवाली हो, कांटोंसे रहित, रहनेके लिये स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और सुख दे।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे (१८।२।३४)— जो गाडे गये, जो बहाये, जो जलाये, जो ऊपर हवामें रखे, उन सब पितरोंको हवि खानेके लिये, हे अग्ने! ले आओ।

उदन्वती द्यौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते (१८।२।४८)— जलवाला द्युलोक सबसे नीचे है, नक्षत्र जिसमें है वह मध्य स्थानमें है, प्रद्यु नामक तीसरा द्युलोक है जिसमें पितर रहते हैं।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे। ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् (१८।२।५६)— प्राण जिसका गया है उसको ले जानेके लिये मैं दो बैल (गाडीको) जोडता हूं। उन दोनोंसे यमके घर जाते हैं, उनके साथ मंडली भी जाय।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत। (१८।३।१३)— जो मानवोंमें प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया, उस वैवस्वत यमराजको, जो जनोंका संगमन करता है, उसको हवि अर्पण कर।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रं, आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः। आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।३।१७)— ज्ञानसे पवित्र होकर नवीन आयु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बने।

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् (१८।३।३९)— जैसा विद्वान् धर्ममार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुंचता है। यह सब अमर देव सुने।

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।३।४३)— दानी मनुष्यके लिये धन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत तं इह ऊर्जं दधात (१८।३।४३)— हे पितरो ! पुत्रोंके लिये उसका धन दो, वे यहां बल धारण करें।

रयिं च नः सर्ववीरं दधात (१८।३।४४)— सब वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र (१८।३।५१)— वे घर सुखदायी, घीसे भरे सर्वदा इसके लिये शरण जाने योग्य हों।

इदेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् (१८।३।६१)— यहां ये वीर पुत्र बहुत हों, गौओं और घोडोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)— मृत्यु दूर हो, अमरत्व हमारे पास आवे।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन (१८।३।६४) —हे ऋषियो ! उत्तम द्युलोकमें चढो, भयभीत न होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु (१८।४।३७)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है, उसके लिये बांधवोंसे युक्त घर करो।

पर्णो राजापिधानं चरूणां ऊर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१८।४।५३)— यह राजा पर्ण चरूपर रखनेका ढक्कन है। यह तेज, बल, ओजके साथ हमारे पास आगया है, यह जीवोंको आयु देता है, सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् (१८।४।६४)— अपने सब अंगोंके साथ पितर स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः (१८।४।७०)— हम सौ वर्ष जीवें, हे राजन् ! तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुभाषित चतुर्थ विभागमें हैं। पाठक इनका योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य।

एकादशं काण्डम्।

लेखक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालंकार
अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि० सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००६, शक १८७१, सन १९५०

ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

(अथर्व० ११।५।१७,—१९)

"ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है, ब्रह्मचर्यसे ही आचार्य ब्रह्मचारीको प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप तपसे ही देवोंने मृत्युको दूर किया, और ब्रह्मचर्यसे ही इन्द्रने देवोंमें तेज भर दिया।"



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

एकादश काण्ड ।

यह ग्यारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय विभागका चौथा काण्ड है। इसके अनुवाक, सूक्त, मंत्र और दशति इस प्रकार हैं।

अनुवाक	सूक्त	दशति+मंत्र	मंत्रसंख्या
१	१	३+७	३७
२	२	३+११	३१
	३	(३ पर्याय)	५६
	४	२+६	२६
३	५	२+६	२६
	६	१+१२	२३
४	७	२+७	२७
	८	२+१४	३४
५	९	२+६	२६
	१०	२+७	२७
५	१०		३१३ कुल मंत्रसंख्या

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३७	ब्रह्मा	ब्रह्मौदनः	त्रिष्टुप्, अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पङ्क्तिः; २, ५ बृहती–गर्भा विराट्; ३ चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती, ४, १५–१६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड् गायत्री; ९ अतिजागतगर्भा जगती १० विराट् पुरोतिजगती विराड् जगती; ११ जगती; १७, २१, २४, २६ विराड् जगती, १८ अतिजागतगर्भा परातिजगती विराड् जगती; २० अतिजगतगर्भा पराशक्वरा, चतुष्पदा भुरिग्जगती; २९, ३१ भुरिक्; २७ अतिजागतगर्भा जगती; ३५ चतुष्पदा ककुम्मती–उष्णिक्; ३६ पुरोविराड् आस्तारपङ्क्तिः; ३७ विराड् जगती।

५	२६	ब्रह्मा	ब्रह्मचारी	त्रिष्टुभ्; १ पुरोतिजागतविराड्गर्भा, २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी; ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ७ विराड्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराट् जगती ९ बृहती गर्भा; १० भुरिक् ११ जगती; १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६-२२ अनुष्टुभ्, २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसाना आर्ची उष्णिक्; २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा ।
६	२२	शन्तातिः	चन्द्रमाः मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुभ्; २३ बृहतीगर्भा ।
७	२७	अथर्वा	अध्यात्मं उच्छिष्टः	अनुष्टुभ्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराड् पथ्या बृहती ।
८	३४	कौरुपथिः	अध्यात्मं, मन्युः	अनुष्टुभ्; ३३ पथ्यापंक्ति ।
९	२६	काङ्कायनः	अर्बुदिः	अनुष्टुभ्; १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना; ३ परोष्णिक् ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदातिजगती; ९ ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः; १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १६ त्र्यव० पंचप० विराट् उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्; १७ त्रिपदा गायत्री ।
१०	२७	भृग्वंगिराः	त्रिषन्धिः	अनुष्टुभ्; १ विराट् पथ्या बृहती, २ त्र्यव० षट्प० त्रिष्टु० गर्भातिजगती; ३ विराडास्तारपंक्तिः, ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुभ्; ९ पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्; १२ पंच पदा० पथ्यापंक्तिः; १३ षट्पदा जगती; १६ त्र्यव० षट्पदा० ककुम्मत्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद्बृहती; २५ प्रस्तार पंक्तिः ।

इस प्रकार इन दस सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं । इनमें अध्यात्म और युद्ध ये दो प्रकरण विशेष महत्त्वके हैं, अतः पाठक इनका अधिक मनन करें । इस काण्डके पश्चात् के बारहवें काण्डमें मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है और इस ग्यारहवें काण्डमें उसके पूर्व युद्धकी तैयारीका वर्णन है । इस तरह यह बडा मनोरंजक विषय इस काण्डमें है, इसका बोध अवश्य प्राप्त करें ।



ओ३म्

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन-सूक्त

(१)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥
अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (जायस्व) प्रकट हो। (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अद्रोह माता (पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृणुत) धूआं करो, अग्निको प्रदीप्त करो। (अद्रोघ—अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली वाणी बोलो। (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) यह अग्नि शत्रु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है। (येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने! हे जातवेद! तू (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) बडा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। [ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे] और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंको उत्पत्ति करनेवाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है। (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ-माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे। जगत्‌के निर्माण करने-वाले सप्त ऋषि उस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, यज्ञ कर, द्रोह करनेवाली भाषा न बोल, तेजस्वी बन, जिससे समरविजयी सुपुत्र होगा, जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बडा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। उत्तम अन्न द्वारा परिपक्व करके उत्पन्न किया है। सृष्टि बनानेवाले सब प्रकारके वीर भावोंसे युक्त सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥
त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥
अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥
साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥
इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना । अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समिधा समिद्धः सं इध्यस्व) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो । [यज्ञियान् देवान् इह आवक्षः] यज्ञके योग्य देवोंको तू यहां ले आ । हे जातवेद ! (तेभ्यः हविः श्रपयन्) उनके लिये हवि पकाता हुआ, [इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय] इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

[यः पुरा त्रेधा भागः निहितः] जो पहले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितॄणां मर्त्यानां) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है । [अहं वः तान् विभजामि] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पण करता हूं । [अंशान् जानीध्वं] उन भागोंको समझो । (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस स्त्रीको आपत्तिसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है । अतः [द्विषतः सपत्नान् नीचः न्युब्ज] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा । [इयं मात्रा मीयमाना मिता च] यह परिमाण मापा हुआ परिमित प्रमाणमें [ते सजातान् बलिहृतः कृणोतु] तेरे सजातीय वीरोंको भेट कर देनेवाला बनावे ॥ ६ ॥

[पयसा सजातैः साकं एधि] तू दूधके साथ स्वजातियोंके साथ बढ । [महते वीर्याय एनां उत् उब्ज] बडे पराक्रमके लिये इसको तैयार कर । [ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टपं अधि रोह] ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ । [यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[इयं मही पृथिवी देवी] यह बडी पृथ्वी देवता [सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु] शुभ विचारवाली होकर यह चर्मकी ढाल अपनी रक्षाके लिये लेवे । इससे [अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भावार्थ-अग्नि प्रदीप्त कर, उसमें हविका हवन कर, इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अलग होता है । अतः उनको वह भाग अर्पण करना उचित है ॥ ५ ॥

बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और वे भेट कर देंगे ऐसा पराक्रम कर ॥ ६ ॥

बडा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो, दूध पी कर सजातियोंके साथ पुष्ट हो । इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके योग्य बन ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बडी देवी है, अपने मनको शुभसंकल्पयुक्त करके चर्मको रक्षाके लिये तैयार रख जिससे पुण्यवानोंका लोक प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु ।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः ।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।
परा पुनीहि य इमाः पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

अर्थ-[एतौ सयुजौ ग्रावाणौ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [चर्मणि युङ्ग्धि] चर्मपर रखो। [यजमानाय अंशून् निर्भिन्धि] यजमानके लिये सोमरसको कूटकर निकालो। [ये इमां पृतन्यवः] जो इस स्त्रीपर हमला करते हैं उनका [निजहि] नाश कर। [अवघ्नती उद्भरन्ती प्रजां ऊर्ध्वं उदूह] कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर [सकृतौ ग्रावाणौ हस्ते गृहाण] उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले। [यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आ अगुः] पूज्य देव तेरे यज्ञमें आजावें। [यतमान् त्वं वृणीषे] जो तू मांगता है वे [त्रयः वराः] तीन वर हैं। [ताः समृद्धीः ते इह राधयामि] उन संपत्तियोंको तेरे लिये सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा पानस्थान है, और [इदं उ ते जनित्रं] यह तेरा जन्मस्थान है। [शूरपुत्रा अदितिः त्वां गृह्णातु] शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे। [ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि] जो सेनावाले शत्रु इस स्त्रीको कष्ट देते हैं उनको दूर कर और [अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ] इसको सर्व वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

[यूयं द्रुवये उपश्वसे सीदत] तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो। हे [यज्ञियासः] याजको! आप [तुषैः विविच्यध्वं] तुषोंको पृथक् करो। हम [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समान जनोंसे धनसे श्रेष्ठ बनेंगे। और मैं [द्विषतः अधः पदं आपादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थ- ये सोमका रस निकालनेवाले पत्थर हैं। इनसे सोमका रस निकालो। जो सेना लेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको इस यज्ञमें बुला। जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न होगा उन वरोंको तुम प्राप्त होंगे और उससे यथेष्ट समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहां यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको परास्त कर और सब वीरोंसे युक्त धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुषोंको दूर फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो, स्वजातियोंको धनसंपत्तिसे युक्त करो और शत्रुओंको दबा दो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वाऽऽगन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाऽध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ- हे नारि ! [परा इहि] दूर जा और [पुनः क्षिप्रं एहि] फिर शीघ्र आ जा। [अपां गोष्ठः भराय त्वा अधि अरुक्षत्] जलोंका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है । [तासां यतमाः यज्ञियाः असन्] उनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके लिये योग्य जल हैं, उनका [गृह्णीतात्] स्वीकार कर और [धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे इतरोंको पृथक् करके छोड दे ॥ १३ ॥

[इमाः योषितः शुम्भमानाः आ अगुः] ये स्त्रियाँ सुशोभित होकर यहां आगई हैं । हे नारि ! [उत्तिष्ठ तवसं रभस्व] उठ और बलसे प्राप्त हो । तू [पत्या सुपत्नी] उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो, [प्रजया प्रजावती] उत्तम संतानसे प्रजावाली हो, [यज्ञः त्वा आ अगन्] यज्ञ तेरे पास पहुंचा है, [कुम्भं प्रति गृभाय] घडेका ग्रहण कर ॥१४॥

हे [आपः] जलो ! [यः वः ऊर्जः भागः पुरा निहितः] जो आपका बलवान् भाग पहिले रखा गया है, [ऋषिप्रशिष्टाः एताः आ भर] ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ। [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ आपके लिये [गातुवित् नाथवित् प्रजावित्] मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, [उग्रः पशुवित् वीरवित् अस्तु] उग्रता देनेवाला, पशु देनेवाला, और वीर बढानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! [यज्ञियः शुचिः तपिष्ठः चरुः त्वा अधि अरुक्षत्] यज्ञके योग्य, पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त अन्न तुझे प्राप्त हुआ है, अतः तू [एनं तपसा तप] इसको अपनी उष्णतासे तपा । [आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः] ऋषियों और देवोंसे उत्पन्न तपस्सामर्थ्य [इमं भागं अभिसंगत्य ऋतुभिः तपन्तु] इस अन्नभागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल तपावे ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्त्री अपने घरके पास सब ओर घूमकर देखे । जलका स्थान जहां हो वहांसे जल भर लावे । जो जल उत्तम हो वही ले आवे । अन्य जल दूर रखे ॥ १३ ॥

स्त्रियां सुंदर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहें । स्त्रियां उत्तम पति प्राप्त करें, सुपुत्र उत्पन्न करें, घरका सौंदर्य बढावें और उत्तम जलसे घडे भर रखें ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढानेवाला हो वही लाया जावे । घर घरमें यजन होता रहे । यही मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्रजाकी उत्पत्ति करनेवाला, बल बढानेवाला, पशुओंकी वृद्धि करनेवाला, वीरभाव बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजस्विता बढानेवाला है, यह अन्न देवताओंको अर्पण किया जावे और इससे संगठित होकर अपना तपःप्रभाव बढावें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥
उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १९ ॥
सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)
उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ-[इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियाँ [शुभ्राः आपः चरुं अवसर्पन्तु] और स्वच्छ जल इस अन्नके पास आजावें। [नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः] हमें संतान और उत्तम पशु देवें। [ओदनस्य पक्ता सुकृतां लोकं एतु] अन्नका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः] ज्ञानसे पवित्र और जलसे वा घीसे पुनीत हुए [सोमस्य अंशवः तण्डुलाः] ये सोमके भाग जैसे चावल हैं। हे [आपः] जलो ! [प्रविशत] तुम अन्दर प्रविष्ट हो जाओ, [वः चरुः प्रति गृह्णातु] तुम्हें यह अन्न प्राप्त हो, (इमं पक्त्वा सुकृतां लोकं एत] इसको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[उरुः महता महिम्ना प्रथस्व] बडा होकर बडे महत्त्वके साथ फैल जा। [सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके] हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज। [पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाः] पितामह, पितर, संतानें और उनकी संतानें ऐसा क्रम चले। [अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि] मैं पकानेवाला पन्द्रहवां होऊं ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः शतधारः अक्षितः) हजारों पीठोंवाला सैकडों धारोंवाला अक्षय [ब्रह्मौदनः देवयानः स्वर्गः] ज्ञान बढानेवाले अन्नसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है। [ते अमून् आदधामि] तेरे लिये इनको मैं धारण करता हूं। [एनान् प्रजया बलिहाराय रेषय] इनको संतानके साथ कर देनेके लिये सिद्ध कर। ये सब [मह्यं एव मृडतात्]मुझेही सुखी करें। २०

[वेदिं उदेहि] वेदिको उठाओ, [एनां प्रजया वर्धय] इसकी प्रजासे उन्नति कर। [रक्षः नुदस्व] शत्रुओंको भगा दो, [एनां प्रतरं धेहि] इनको विशेष रीतिसे धारण कर। [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समानोंसे धनसे अधिक हम हों। [द्विषतः अधः पदं पादयामि] शत्रुओंको नीचे गिराता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ- ये स्त्रियां शुद्ध और पवित्र संमानके लिये योग्य है, ये उत्तम अन्न तैयार करें। हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों। उत्तम अन्नका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल उनके साथ मिले। सब मिलकर पकायां जावें। सब लोग इससे आनंद प्राप्त करें। १८

बडा महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो। पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकमसे अखंड वंशका विस्तार होता रहे। हरएकको अपने पंद्रह वंशपुरुषोंका ज्ञान हो और वह कहे कि मैं पकानेवाला पंद्रहवां हूं ॥ १९ ॥

यह अन्नही स्वर्ग है इस अन्नसे इस प्रकार धारण पोषण होता रहे। ये सब मुझको तुष्ट करें और उनकी संतानें आदरपूर्वक कर देनेवाली बनें ॥ २० ॥

यज्ञ करो, प्रजाकी वृद्धि करो, शत्रुओंको दूर भगाओ, स्त्रियोंको धारण करो, स्वजातियोंको धनसे समृद्ध करके उनसेभी अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥
अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥
शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥
सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ—[एनां पशुभिः सह अभि आवर्तस्व] इस स्त्रीको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और [एनां देवताभिःसह प्रत्यङ् एधि] इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष मिलो। [त्वा शपथः मा प्रापत्] तुझे शाप न मिले। [अभिचारः मा] वध न प्राप्त हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपनी भूमिमें नीरोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन तष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हिता] मनसे रखी, [एषा ब्रह्म- ओदनस्य वेदिः] यह ज्ञान बढानेवाले अन्नकी वेदी [अग्रे विहिता] आगे बनाई है। हे नारि! [शुद्धां अंसद्रीं उपधेहि] शुद्ध थालीको ऊपर रख, और [तत्र· दैवानां ओदनं सादय] वहां देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृतः सप्त-ऋषयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अदितेः हस्तां यां एतां द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्] अदिति-माताका दूसरा हाथ जैसा यह चमस बनाया है। [सा दर्विः ओदनस्य गात्राणि विदुषी] वह कडछी अन्नके भागोंको जानती हुई [एनं वेद्यां अधि चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[त्वा शृतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठें। [अग्नेः निः सृप्य पुनः एनान् प्रसीद] अग्निसे चलकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमेन पूतः ब्रह्मणां जठरे सीद] सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें जा, [ते प्राशितारः आर्षेयाः मा रिषन्] तेरा अशन करनेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम! [यतमे सुब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठेंगे, [एभ्यः संज्ञानं आवप] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः अधिजातान् आर्षेयान् ऋषीन्] तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्र ऋषिजनोंको [ब्रह्मौ· दने सुहवा जोहवीमि] ज्ञान बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने योग्योंको भी बुलाता हूं॥ २६ ॥

भावार्थ-देवता और गौ आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रखो, शाप तुझे कष्ट न दे। वधसे तुम्हें दुःख न हो, अपनी मातृभूमिमें नीरोग होकर विराजते रहो ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥

जगत् बनानेवाले सप्त-ऋषियोंने यह कडछी निर्माण की है। इस कडछीसे वारंवार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥

अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर, उससे वे प्रसन्न हों, सोमके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और खानेवाले पुष्ट हों ॥ २५

जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको सोम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषियोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥
इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥
अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम्।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥
श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम्।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥ ३० ॥ (३)
बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं। इनको [ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् प्रसादयामि] ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूं। [यत्कामः अहं वः इदम् अभिषिञ्चामि] जिस कामनासे मैं तुम देवताओंके उद्देशसे यह देता हूं, [मरुत्वान् सः इन्द्रः मे इदं ददात्] मरुतोंके साथ रहनेवाला वह इन्द्र मुझे वह देवे ॥ २७ ॥

[इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्वं अमृतं ज्योतिः] यह सुवर्ण मेरे खेतसे पका हुआ अमर तेजही है। [एषा मे कामदुघा] यह मेरा इच्छाके अनुसार दुही जानेवाली गौ है। [ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूं [यः स्वर्गः पन्थाः पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूं ॥ २८ ॥

[जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वप] जातवेद अग्निमें तुषोंको डाल, [कम्बूकान् दूरं अपमृड्ढि] छिलकोंको दूर फेंक दो, [एतं गृहराजस्य भागं शुश्रुम] यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं। [अथो निर्ऋतेः भागधेयं विद्म] इससे विपरीत अधोगतिका भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[श्राम्यतः पचतः सुन्वतः विद्धि] परिश्रमी, अन्न पकानेवाले और औषधिरस निकालनेवालोंको तू जान। [एनं स्वर्गं पन्थां अधिरोहय] इसको स्वर्गके मार्गपर चढाओ। यह [येन परं वयः आपद्य] जिससे परम आयुको प्राप्त होकर [उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्] उत्तम स्वर्गरूप परम आकाशपर जा पहुंचे ॥ ३० ॥

हे अध्वर्यु ! [बभ्रेः एतत् मुखं विमृड्ढि] इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर। [प्रविद्वान् आज्याय लोकं कृणुहि] जानता हुआ घीके लिये स्थान बना। [घृतेन सर्वा गात्रा विमृड्ढि] घीसे सब गात्र स्वच्छ कर। [यः स्वर्गः पंथाः पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थ- शुद्ध पवित्र संतानयोग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय। अर्थात् एक एक ब्राह्मण एक एक स्त्रीका पाणिग्रहण करे। जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह खेतमें पका हुआ उत्तम धान्य है। यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूं। यह स्वर्गकाही मार्ग है ॥ २८ ॥

अग्निमें तुषोंको रख और छिलकोंको दूर फेंक। यह उत्तम धान्य घरका राजा है, उसको सुरक्षित रख। अन्यथा विनाशका समय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो, अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो, इससे स्वर्गसुख मिलेगा, आयु बढेगी और श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

बर्तन स्वच्छ करके उसमें घी भरकर रखो। घीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

यम्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा य_मे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ ३२ ॥
आर्षेयेषु नि दंध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ ३३ ॥
यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥
वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ ३५ ॥
समाचीनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥
येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ३७ ॥ (४)

अर्थ- हे [यम्रे] यत्न! [यत्रमें ब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं [एभ्यः स-मदं रक्षः आवप] इन सबसे घमण्डवाले राक्षसोंको भी दूर कर। [ते प्राशितारः पुरीषिणः] तेरेमेंसे प्राशन करनेवाले अन्नवाले [प्रथमानाः आर्षेयाः पुरस्तात् मा रिषन्] यशस्वी ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ॥ ३२ ॥

हे [ओदन अन्न] ! [आर्षेयेषु त्वा निदधे] ऋषिपुत्रोंमें तुम्हें रखता हूं। [अनार्षेयाणां अपि अन्न न अस्ति] जो ऋषिसंतान नहीं हैं उनका भाग यहां नहीं है। [मे गोप्ता अग्निः] मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है। [सर्वे मरुतः विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु] सब मरुत् और सब देव इस परिपक्वकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदं इत्) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्ध; (रयीणां सदनं धेनुं) संपत्तिका घर ऐसी गौ है। (त्वा पुमांसं) तुम पुरुषके पास (पोषैः प्रजाऽमृतत्वं उत दीर्घं आयुः) पुष्टियोंसे प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु (रायः च उप सदेम) और धन लेकर आते हैं ॥ ३४ ॥

(वृषभः असि) तू बलवान् है, तू (स्वर्गः असि) सुखदायक है। (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा,(सुकृतां लोके सीद) पुण्यवालोंके स्थानमें रह। (तत्र नौ संस्कृतं) वह हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ ३५ ॥

हे अग्ने ! (सं आ चिनुष्व) संगठन कर, (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर आ। (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर। (एतैः सुकृतैः सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ सात किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जायेंगे ॥ ३६ ॥

[येन ज्योतिषा देवाः द्यां उदायन्] जिस ज्योतिसे देव स्वर्गको पहुंचे, (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [तेन स्वः आरोहन्तः] उससे स्वर्गपर चढते हुए (उत्तमं नाकं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेष्म) प्राप्त हों ॥ ३७ ॥

भावार्थ- जो ब्राह्मण आवें उनसे शत्रुओंको दूर भगा दो। उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो, जिससे वे पुष्ट हों ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणोंको अन्न दो, यहां दूसरोंका काम नहीं है। इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥
गौ एक संपत्तियोंका घर है, इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥
बलवान् बनो, सबको प्रसन्न करो, ऋषियोंके पीछे चलो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥
संगठन करो, अनुकूल बनो, देवमार्गसे जाओ, पुण्य करो, सूर्यकिरणोंके स्थानमें रहो, यज्ञ करो, यही सुखदायक मार्ग है ॥ ३६ ॥
ज्ञानसे पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्गपर चढो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

ज्ञान बढानेवाला अन्न।

ब्रह्मका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको ब्रह्मौदन कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल, उत्तम दूध, सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिवर्धक औषधियों के रस इसमें संमिलित होते हैं, इससे ज्ञानकी बुद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है, क्योंकि इससे वीर्यकी शुद्धि होनेके कारण गृहस्थसुखकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है।

गृहस्थियोंको सुप्रजा निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। उसके लिये स्त्रियोंको " पुत्रकामा अदिति " का आदर्श पालन करना चाहिये। सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भाव हटाना चाहिये। घरमें और अपने राज्यमें अदीन होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्य-स्त्रियोंके संमुख है। उसमें केवल सत्पुत्रोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो, उनकी बुद्धि विकसित हो एतदर्थ वह पर्याप्त परिश्रम करती है। यही आदर्श आर्यस्त्रियोंको अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे सब जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो सब विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विज्ञान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक बार आ गया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि यज्ञके लिये अग्नि प्रदीप्त करो, द्रोहरहित भाषण करो। यह वाग्यज्ञ है और दूसरा हवनयज्ञ है। इन दोनों यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती है। द्रोह न करना ही बडाभारी यज्ञ है। इन सब प्रकारके यज्ञोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो [पृतनाषाट् सुवीरः] समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

शत्रुओंको परास्त करना।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके विना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसलिये वेद यहां शत्रुनिर्दलनपर इतना जोर दे रहा है। पाठक इसका विचार करें, और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) मनुष्य बडा पुरुषार्थ करनेके लिये यहां उत्पन्न हुआ है। पुरुषार्थ करके अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे। और (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहां वेदका महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेको नहीं कहता, परंतु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करनेको भी कहता है, क्योंकि वीरताके विना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकेगा।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि यज्ञके योग्य देवोंको यज्ञमें बुलाओ। यहां सहायकोंको और सन्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है। जैसे (सातघ्नो देवान् निरेष। अथर्व. २। १५। ५) नाश करनेवालोंसे देवोंका विरोध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोधकोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अन्नमें देवों, पितरों और मानवोंका भाग होता है। वह जिसका उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका भाग दूसरेको देना उचित नहीं, वही अन्याय और अधर्म है। मनुष्य अपने अन्नमेंसे इनका भाग इनको देवे और पश्चात् शेषका स्वयं भोग करे।

षष्ठ मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सहस्वान्) बलवान बने, सशक्त बने, [अभिभूः] शत्रुका पराभव करनेवाला बने। और [सपत्नान् नीचः न्युब्ज] शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे, उनको उठने न दे, इतनाही नहीं परंतु उनको [बलिहृत] करभार देनेवाले बनावे। अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें। इतनी शक्ति इसको अपने अंदर बढानी चाहिये।

सप्तम मंत्रमें [महते वीर्याय] बडा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है। तृतीय मंत्रमें यही बात कही थी, वह फिर यहां दुहराई है। क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बडाही ऊंचा है। [पयसा] दूध पीकर बलवान् बनना और बडा पराक्रम करना हरएकको उचित है। इसी तरह स्वर्गलोकका मार्ग खुल जाता है।

आगेके तीन मंत्रोंमें पत्थरोंद्वारा सोमरस निकालनेका वर्णन है। यह सोमरस सब प्रकारसे मनुष्योंका स्वास्थ्य बढानेवाला और उत्साह बढानेवाला है। यज्ञोंमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं। यह रस पिया जाता है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और सत्तु आटेके साथ मिलाकर भी खाते हैं। अनेक रीतिसे इस रसका सेवन किया जा सकता है।

खी करे, स्त्रियां मिलकर पानी भरनेके लिये जांय। उत्तम जल घरमें लाना यह (वः ऊर्जः भागः) बल देनेवाला भाग है। संतान, पशु आदिके लिये इसकी बडी आवश्यकता होती है। यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है।

सोलहवें मंत्रमें (चरुः) चावल आदि अन्न पकानेकी आयोजना करनेका उत्तम उपदेश है। (ऋतुभिः) ऋतुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय। जिसका सेवन करके सब आयुके लोग सुदृढ और दीर्घायु बनें।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावें और अन्न पदार्थ, यज्ञमें उपस्थित हों, सबका आतिथ्यसत्कार करें, पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और घरकी सब सुव्यवस्था करें। किसी तरह न्यूनता रहने न दें।

अठारहवें मंत्रमें चावल, घी, सोमरस आदिसे उत्तम पक्व अन्न तैयार करनेका उपदेश है। उत्तम अन्न पकाना स्त्रियोंका मुख्य गृहकृत्यही है।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि पितामह, पिता, पुत्र आदि १५ पुरुषोंतक अविच्छिन्न वंश हो। घरमें ऐसा खानपान रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि, वंश बीचमें न टूटे, पुरुष दीर्घायु हों और अटूट वंश हो। पंद्रह पुरुषोंतक कमसे कम वंश अटूट रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छा ही है, परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे। यह सब ब्रह्मौदन अर्थात् ज्ञान बढानेवाले अन्नसे होता है। ब्रह्मौदनका अर्थ बुद्धिवर्धक अन्न है। इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे यह सीधा मार्ग दीखता है। इससे मनुष्य (रक्षः तुरस्व) राक्षसोंको दूर कर सकता है और अपने आपको आगे बढा सकता है।

पाठकोंको उचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखने का यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बतायी है । चौवीसवें मंत्रमें कडछीका उपयोग करके चावलोंको ठीक करनेको कहा है । पचीसवें मंत्रमें कहा है कि—

माशिवारः मा रिषन् ।

अन्न भक्षण करनेवाले कृश या रोगी न हों। अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जांय । पकानेवालेका यही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खाय और हजम करें और पुष्ट हों । ऐसा[1] अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाना चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । स्त्रियां (शुद्धाः पूताः योषितः यज्ञियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह वाक्य यहां बहुतही महत्त्व रखता है । स्त्रियोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये। जहां इनकी पूजा होगी वहां पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उच्चता साध्य होगी । यह वर्णन स्त्रियोंका दर्जा समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन स्त्रियोंका विवाह ज्ञानियोंके साथ करना चाहिये । (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् एक एकके हाथमें एक एकको देना योग्य है । एक पुरुष अनेक स्त्रियां न करे, एक स्त्री अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे । एक स्त्री एकही पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एकही स्त्रीके साथ आनंदके साथ रहे । यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहां अति संक्षेपके साथ किया है । इस मंत्रका ' पृथक् ' शब्द बडा महत्त्वका है । इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अट्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें ' कामधेनु ' (कामदुघा) रखनी चाहिये यह आदेश है। घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है । घरमें छोटे बालक, वृद्ध और रोगी होंगे, उनका पालन इस गौके दूधसे होगा । इस गोमाताका यह महत्त्व है।

गृहस्थियोंको तीन बातोंका ख्याल करना चाहिये । (ज्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है, गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पडता है । सबही दैनिक और सार्वकालिक व्यवहार धनसे साध्य होते हैं । अमृत नाम मोक्षका है, यही अमरत्व है। सब जगत् मृत्युसे घेरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोडकर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यहां व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृणुते) स्वर्गीय मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पहलू हैं। धन यहांके सुखके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहांके सम्मानके लिये चाहिये और अमरत्व पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वरूप यहां पाठक देखें ।

गृहराज ।

उनतीसवें मंत्रमें ' गृहराजस्य भागः ' गृहराजके कार्यभागका वर्णन है । गृहराज घरका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें कौनसा कार्य होना चाहिये ? तुषों और छिलकोंको अलग करके स्वच्छ चावलोंको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । छिलकोंको हटाना और सारद्रव्यको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम सिद्धिका यही एकमात्र नियम है। पढाईमें भी देखिये सारज्ञानको स्वीकारना चाहिये, व्यर्थ ग्रंथोंको दूर हटाना चाहिये ।

एक भाग निर्बलताका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिका होता है । विनाश करनेवाले भागको दूर करो और उन्नतिके भागको अपने पास रखो, यही सीधा सादा नियम है । जो इसको पढेंगे वे उन्नत होंगे इसमें संदेह नहीं है ।

(श्रम्यतः, पचतः, सुन्वतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले, पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं, इसको जानो। परिश्रम करनेसेही मानवोंकी उन्नति होती है, अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये, परिपक्व बनाना भी चाहिये । हरएककी परिपक्व अवस्था उत्तम होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये, तथा रसग्रहण करनेका यत्न करना चाहिये । वनस्पतियोंमें सारभूत रस होता है, उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये । यह उपदेश सदाचार

दृष्टिसे विशेषही उपयोगी है । स्वर्गपर चढनेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्वके हैं ।

(घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि) घीसे सब गात्रोंकी मालिश करो । शरीरावयवोंकी सुस्थितिके लिये घीकी मालिश आवश्यक है । घीकी मालिश पावोंके तलोंपर करनेसे आंख उत्तम अवस्थामें रहते हैं, संधिस्थानोंपर मालिश करनेसे संधिरोग नहीं होते, सिरपर मालिश करनेसे मस्तिष्क शान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवयवोंपर मालिश करनेसे अनेक लाभ होते हैं । इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे घृतको पुनरुक्त करनेसे घीके गुण बढ जाते हैं । जैसा ब्राह्मी घृत बनानेसे उसकी मस्तकपर मालिश बुद्धिवर्धक और गर्मी हटानेवाली होती है इसी तरह आमलकयादि घृत तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं । इनकी शरीरपर मालिश बडी लाभदायक है । यह बात इस सूक्तके मंत्रमें कही है ।

पोषक अन्न ।

अन्न घर घरमें पकाना चाहिये, वह पोषक अन्न होना चाहिये (प्रशितारः मा रिषन्) उस अन्नको खानेवाले कभी दुःखी नहीं होने चाहिये, कभी रोगित नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये । ऐसा अन्न गृहस्थीके घरमें पकाया जावे यह सूचना १२ वे मंत्रमें की है ।

जो अन्न परिपक्व किया हो वह (आर्षेयेषु निदधे) ऋषिकर्मोंके अनुसार चलनेवालोंके लिये समर्पित करना चाहिये । न कि (न अनार्षेयाः) अऋषिकर्मियोंको छोडनेवालोंको कुछ समर्पण करना है । ऋषिकर्मोंको संवर्धित रखनेके लिये ही दानको प्रबन्ध करना चाहिये ।

घर कैसा हो ।

घर ऐसा हो कि जहां (ऊर्जं दुहानं) सदा बल होता रहे, (सदनं रयीणां) ऐश्वर्योंका स्थान हो, (प्रपीनं घरं) पुष्टि और समृद्धिका केन्द्र हो, (पोषैः प्रजाअमृतत्वं) अनेक पुष्टिके साधनोंके साथ प्रजाजनोंको अमृतत्व देनेवाला हो । जहां (धेनुं) गौ होती हो और धनसंपत्तियोंके साथ [दीर्घ आयु-] दीर्घायु लोग हों, घर ऐसा हो । घरमें वे बसते रहें । घरमें धनकी कमी न हो, ऐश्वर्य की समृद्धि हो, गौवें दूध देनेवाली हों, हरएक हृष्टपुष्ट हो, सत्कारसंगतिज्ञानात्मक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुःखी कहीं न हो । यह उपदेश २४ वें मंत्रमें है ।

२५ वे मंत्रमें [वृषभः असि] तू बलवान् है, तू निर्बल नहीं है, तू (स्वर्गः असि) स्वर्गका अधिकारी है, तू सुखात्मक स्थानका अधिकारी है । अतः जिस मार्गसे ऋषिलोग गये और जिस मार्गसे ऋषियोंको सुखसे स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तू जा । वही सुकृतियोंका लोक है, वहां जाकर रह, हमारी संस्कृतिका यही ध्येय है ।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुरक्षित कर, वे ही मार्ग तुम्हारे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुकृतैः यज्ञं अनुगच्छेम) इन सुकृतोंके साथ हमको यज्ञकी ओर जाना चाहिये । सुकृत करते करते आगे बढना चाहिये । सुकृत करनेमें पीछे हटना उचित नहीं है । सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो । मनुष्य उससे पीछे न रहे ।

आज जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे तेजस्वी बने हैं । अतः मनुष्यको इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये ।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठकोंको धर्ममार्ग सुगमताह रीतिसे दीख सकता है ।

रुद्र-देव।

[२]

[ऋषिः— अथर्वा। देवता-भव-शर्व-रुद्र]

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥
शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुप। वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥
पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥
मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते।। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे [भवाशर्वौ] भव और शर्व! हे उत्पादक और संहारक! आप दोनों [मृडतं] हम सबको सुखी करें। [माभि यातं] हमपर हमला न करें। आप दोनों [भूतपती, पशुपती] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं। [वां नमः] आप दोनोंको नमस्कार है। [प्रतिहितां आयतां मा वि स्राष्टं] धनुष्यपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोडें, [नः द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं] हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंकी हिंसा न करें ॥ १ ॥

जो [कृष्णाः अविष्यवः] काले और हिंसक कृमि हैं, उन (शुने क्रोष्टे) कुत्ते और गीदडोंके लिये तथा (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) क्रूर शब्द करनेवाले गीधोंके लिये (शरीराणि मा कर्त) शरीरोंको मत करो। हे (पशुपते) पशुओंके पालक! [ते मक्षिकाः ते वयांसि] तेरी मक्खियां और कौवे (विघसे मा विदन्त) खानेके लिये उन हमारे शरीरोंको न प्राप्त करें, अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे (भव) सबके उत्पादकर्ता देव! [ते क्रन्दाय प्राणाय] तेरे शब्दरूपी प्राणके लिये नमस्कार हो। [ते याः रोपयः] तेरे जो शक्तिप्रभाव हैं, हे [अमर्त्य रुद्र] अमर रुद्रदेव! [सहस्राक्षाय ते नमः कृण्मः] सहस्र नेत्रवाले तुझ देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधरात् नमः कृण्मः) तुझे आगेसे ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं। [अभीवर्गात् दिवः परि अन्तरिक्षाय ते नमः] सब ओरसे द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते! हे भव! (ते मुखाय नमः) तेरे मुखके लिये नमस्कार है। (यानि ते चक्षूंषि) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है। तेरे (त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय नमः) त्वचा, रूप, दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अंगेभ्यः उदराय जिह्वायै आस्याय) तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, (ते दद्भ्यः गंधाय नमः) तेरे दांतोंके लिये और गन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

अश्वा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना । रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः ।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम् ।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन् ।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥

अर्थ-(नीलशिखण्डेन वाजिना अश्वा) नील शिखावाले बलवान् अश्वसे (सहस्राक्षेण अर्धकघातिना रुद्रेण) हजारों आंखों-वाले सबके विनाशक रुद्रसे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(सः भवः विश्वतः नः परिवृणक्तु) वह उत्पत्तिकर्ता सब ओरसे हमें सुरक्षित रखे । (आप इव अग्निः) जल जैसे अग्निको घेरता है, वैसाही (भवः नः परिवृणक्तु) उत्पत्तिकर्ता हमें घेर रखे । (नः मा अभि मांस्त) हमें नष्ट न करे, (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! (भवाय चतुः अष्टकृत्वः नमः) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार बार तथा आठ बार नमस्कार हो । [ते दशकृत्व. नमः] तेरे लिये दसबार नमस्कार हो।(इमे पञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पांच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गावः) गौवें, (अश्वाः) घोडे,(पुरुषाः) पुरुष, (अजावयः) बकरियां और भेडें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिशः) तेरी ये चारों दिशाएं हैं, (तव द्यौः, तव पृथिवी) तेरा द्यु और पृथ्वी लोक है, (तव इदं उग्र उरु अन्तरिक्षं) तेरा ही यह बडा तेजस्वी अन्तरिक्ष है । (इदं सर्वं आत्मन्वत् तव) तेराही यह सब चेतनावाला है, (यत् पृथिवीं अनु प्राणत्) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ (५)

(यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह (वसुधानः अयं उरुः कोशः) वसुओंका निवासस्थानरूप यह विश्वरूपी बडा कोश (तव) तेराही है । हे (पशुपते) पशुपालक ! (सः नः मृड, ते नमः) वह तू हमें सुख दे, तेरे लिये नमस्कार हो । (क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः परः) सियार, गीदड, कुत्ते एव [illegible] । (अघरुदः विकेश्यः) बुरे स्वरसे रोनेवाली बालोंको खोलकर चिल्लानेवाली स्त्रियां भी दूर हों, अर्थात् ये शोकके प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

हे (शिखण्डिन्) कलगी धारण करनेवाले ! तू [सहस्रघ्नि शतवधं हिरण्ययं हरितं धनुः बिभर्षि) हजारोंका नाश करनेवाला, सैकडोंका वध करनेवाला, सुवर्णमय धातुका धनुष्य धारण करता है । (रुद्रस्य इषुः देवहेतिः चरति) रुद्रका बाण देवोंका शस्त्र विचरता है, वह (इतः यतमस्यां दिशि) जिस दिशामें हो, (तस्यै नमः) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति । पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥१३॥
भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय । ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥१४॥
नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥१५॥
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥
सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥१७॥
श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् । पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥१८॥
मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥
मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः । मा त्वया समरामहि ॥२०॥ (६)
मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु । अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥२१॥

अर्थ—हे रुद्र ! (यः अभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है, (विद्धस्य पदनीः इव) घायलके पदक्षेपके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुंक्षे) उसके पीछेसे तू उसका बदला लेता है ॥ १३ ॥

(भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ) उत्पत्ति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले ज्ञानी हैं । (उभौ उग्रौ वीर्याय चरतः) ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं । (इतः यतमस्यां दिशि) वे यहांसे जिस दिशामें हों वहां (ताभ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [आयते परायते तिष्ठते आसीनाय] आनेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ते नमः] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः] शामको सवेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [भवाय शर्वाय च उभाभ्यां नमः अकरं] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

[सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं] सहस्रनेत्र ज्ञानी बहुत प्रकारसे शस्त्र फेंकनेवाले रुद्रको [पुरस्तात् अतिपश्यं] आगे देखता हूं । [ईयमानं जिह्वया मा उपाराम] उस गतिमान्‌को हम अपनी जिह्वासे वर्जित न करें ॥ १७ ॥

[श्यावाश्वं कृष्णं असितं मृणन्तं] अश्वयुक्त, आकर्षक, बन्धनरहित, दुःखदायी [भीमं केशिनः रथं पादयन्तं] किरणोंवालोंके बडे भारी रथको भी परास्त करनेवाले [पूर्वे प्रतीमः] पहिले प्राप्त करते हैं और [अस्मै नमः अस्तु] इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [मत्यं देवहेतिं नः मा अभिस्राः] जानबूझकर फेंका हुआ देवोंका शस्त्र हमारे पास न आवे । [नः मा क्रुधः, ते नमः] हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो । [अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु] हमसे दूर दिव्य शाखाको फेंक ॥ १९ ॥

[नः मा हिंसीः] हमारी हिंसा न कर, [नः अधि ब्रूहि] हमें उपदेश कर, [नः परिवृङ्ग्धि] हमारी रक्षा कर, [मा क्रुधः] क्रोध न कर, [त्वया मा समरामहि] तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥ (६)

हे [उग्र] उग्रवीर ! [नः गोषु पुरुषेषु अजाविषु मा गृधः] हमारी गौवें, मनुष्य, भेड, बकरियोंके विषयमें लालच न कर । (अन्यत्र विवर्तय) दूसरे स्थानपर अपने को लेजा । [पियारूणां प्रजां जहि] हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥ २१ ॥

यस्य॑ त॒क्मा कासि॑का हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः॒ क्रन्द॒ एति॑ ।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ २२ ॥

यो॒३॑ऽन्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति॒ विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन् दे॑वपी॒यून् । तस्मै॒ नमो॑ द॒शभि॒ः शक्व॑रीभिः ॥ २३ ॥

तुभ्य॑मार॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ता हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि ।
तव॑ य॒क्षं प॑शुपते अ॒प्स्व॑१न्तस्तुभ्यं॑ क्षरन्ति दि॒व्या आपो॑ वृ॒धे ॥ २४ ॥

शिं॒शु॒मारा॑ अजग॒राः पु॑री॒कया॑ ज॒षा मत्स्या॑ र॒जसा॒ येभ्यो॒ अस्य॑सि ।
न ते॑ दू॒रं न प॑रि॒ष्ठास्ति॑ ते भव स॒द्यः सर्वा॒न् परि॑
पश्यसि॒ भूमिं॒ पूर्व॑स्माद्धंस्युत्त॑रस्मिन्त्समु॒द्रे ॥ २५ ॥

मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा नः॒ सं स्रा॑ दि॒व्येना॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् वि॒द्युतं॑ पातयै॒ताम् ॥ २६ ॥

भ॒वो दि॒वो भ॒व ई॑शे पृथि॒व्या भ॒व आ प॑प्र उ॒र्व॑१न्तरि॑क्षम् ।
तस्मै॒ नमो॑ यत॒मस्यां॑ दि॒शी॒३॑तः ॥ २७ ॥

अर्थ-[यस्य तक्मा कासिका हेतिः] जिसके हथियार क्षयज्वर और खांसी हैं, [वृषणः अश्वस्य क्रन्दः इव एकं एति] बलवान् घोडेके हिनहिनानेके शब्दके समान जो मनुष्य एक पुरुषपर जिसका हथियार जाता है, [अभि पूर्वं निर्णयते] जो पहिलेही निश्चय करता है [अस्मै नमः अस्तु] इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

[यः अन्तरिक्षे विष्टभितः तिष्ठति] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [अयज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्] यज्ञ न करनेवाले देवोंके द्वेषकोंका नाश करता है, (तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः] उसको दस शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरण्याः पशवः वने हिता मृगाः) अरण्यमें उत्पन्न जंगलमें रहनेवाले मृग आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि तुभ्य) हंस गरुड शकुन और अन्य पक्षीगण ये सब तेरेही हैं। हे पशुपते ! [तव यक्षं अप्सु अन्तः] तेरा पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है, (तुभ्यं दिव्या आपः वृधे क्षरन्ति) तेरे लिये दिव्य जल बढाईके लिये गिरते हैं ॥ २४ ॥

[शिंशुमाराः अजगराः पुरीकयाः] घडियाल, अजगर, कछुए, (जषाः मत्स्याः रजसा येभ्य अस्यसि) मछलियां और जलजन्तु मलिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र फेंकता है। इनमेंसे (न ते दूरं, न ते परिष्ठाः) दूर कोई नहीं है, न कोई तेरसे भिन्न स्थानपर है, तू तो (सर्वान् सद्यः परिपश्यसि) सबको एकही बार देखता है, और (पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे भूमिं हंसि] पूर्वसे उत्तर समुद्रतक स्थानकी सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! (तक्मना न मा सं गाः] ज्वरसे हमें पीडा न हो, (विषेण मा) विषबाधा न हो, [दिव्येन अग्निना मा] दिव्य अग्निसे कष्ट न हो। [अस्मात् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय] हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

[भवः दिवः ईशे] भव द्युलोकका ईश्वर है, [भवः पृथिव्याः] भव पृथ्वीका स्वामी है। [भवः उरु अन्तरिक्षं आततान] भव बडे अन्तरिक्षको व्यापक है। वह (इतः यतमस्यां दिशि तस्मै नमः] यहांसे जिस दिशामें हो वहां हमारा नमस्कार इसके लिये है ॥ २७ ॥

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥
रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः । इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥
नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः ।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥(७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ-हे [राजन् भव] उत्पादक देवराज ! [यजमानाय मृड] यजमानको सुखी कर, [पशूनां पशुपतिः हि बभूथ] तू पशुओंका स्वामी हो । [यः श्रद् दधाति] जो श्रद्धा रखता है, [देवाः सन्ति इति] देवताएं हैं ऐसा मानता है, [अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड] उसके द्विपाद और चतुष्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[नः महान्तं मा हिंसीः] हमारे बडोंकी हिंसा न कर, [नः अर्भकं मा] हमारे बालकोंकी हिंसा न कर, [नः वहन्तं मा] हमारे समर्थ पुरुषकी हिंसा न कर, [नः वक्ष्यतः मा] हमारे बलवान बननेवालोंकी हिंसा न कर । [नः पितरं मातरं च मा हिंसीः] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [नः स्वां तन्वं मा रीरिषः] हमारे शरीरोंको दुखी न कर ॥ २९ ॥

[रुद्रस्य ऐलबकारेभ्यः असंसूक्तगिलेभ्यः] रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले अस्पष्ट शब्द करनेवाले [महास्येभ्यः श्वभ्य] बडे मुखवाले कुत्तोंको [इदं नमः अकरं] यह नमस्कार करता हूं ॥ ३० ॥

हे देव ! [ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः] तेरी बडा शब्दघोष करनेवाली केश रखनेवाली, [नमस्कृताभ्यः संभुञ्जतीभ्यः] नमस्कारोंसे सत्कृत और उत्तम अन्नभोग करनेवाली [ते सेनाभ्यः नमः] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, [नः स्वस्ति अभयं च] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भयता हो ॥ ३१ ॥ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

भव और शर्वके सूक्तका आशय।

यह सूक्त " भव और शर्व " देवताके वर्णनपर है। कोई यहां यह न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं। ' भवाशर्वौ ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है, तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं। सर्व विश्वमें व्यापनेवाली एकही देवता है, वह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम ' भव ' है और वह सबका संहार करती है इसलिये उसी देवताका नाम ' शर्व ' है।

पुराणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही रुद्र देवके हैं, वही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्यत्र भी जहां जहां भव शर्व आदिनाम आये हैं वहां ऐसाही अर्थ समझना योग्य है। इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व, पशुपति, आदि शब्द आये हैं, जो उस एकही परमेश्वरके वाचक हैं।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है। यही सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एकही देवताके दो देव माने जा सकते हैं, तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरकी अनेक देवताएं मानना संभव है। वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर अधिष्ठित है। एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व करके यहां कहा है, यह देवता अपना मारण, हिंसन अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करती है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है — कुत्ते, गीदड, गिधाड, मक्खियां, कौवे, अग्न, शस्त्र, मनुष्य, बाण विद्युत् अग्नि, ज्वर, रुग्ण ये मारणसाधन हैं। मक्खियोंको रुद्रके मारक साधनोंमें रखा है, यह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें। मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है। अतः रोगोंसे बचनेके लिये चारों ओर स्वच्छता करनी चाहिये जिससे मक्खियां न होंगी, और मनुष्य रोगोंसे बचेंगे। इसी तरह अन्यान्य मारणसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये। [मंत्र ९ देखो]

आगे [illegible] रुद्रके अंतरदेशोंको नमस्कार कहा है। यह रुद्र [illegible] अनुग्रह करनेवाला है। आगे मंत्रमें रुद्रके विशेषण हैं ऐसी स्पष्टता कर दी है। यही भाव आगेके कई मंत्रोंमें है (मा समरामहि) येही शब्द आगेके कई मंत्रोंमें वारंवार आगये हैं।

नवम मंत्रमें अनेकवार रुद्रके लिये नमन किया है। दशम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीनही संपूर्ण विश्व है। इसी कथनसे विश्वनियामक देवही मारकभावके मिषसे रुद्र नामसे यहां कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एकही है।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं। यहां द्विवचन देखनेसे ये दो देव परस्पर भिन्न हैं। ऐसी कईयोंको शंका हो सकती है, परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न परंतु स्वरूपतः एक हैं, इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है। आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवको नमनही किया है। आगे तीन मंत्रोंमें मृत्यु दूर करनेकी प्रार्थना है।

तेईसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कहकर देवविरोधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है। यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है। आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारसे रहते हैं, यह देव सबको समदृष्टिसे देखता है और विघातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है।

सत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्का ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। यह मंत्र पढते ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता। आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त (देवाः सन्ति) दैवीशक्तियां इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा जो (यः श्रद्दधाति) श्रद्धापूर्वक मानता है वही सुखी होता है, यह कथन विशेष महत्त्वका है। इस जगत् का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियां इस विश्वमें कार्य कर रही हैं। यदि यह कल्पना पाठकोंको ठीक तरह हो जायगी, तो मनुष्यके दिव्य बन जानेमें कोई संदेह ही नहीं है।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है। इस प्रकार इस सूक्तका आशय है।

विराड् अन्न ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा । देवता--ओदनः)

(१) तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥१० ॥

अर्थ— (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उस अन्न का बृहस्पति सिर है, (ब्रह्म मुखं) ब्राह्मण मुख है ॥ १ ॥ (द्यावापृथिवी श्रोत्रे) द्यु और पृथ्वी कान हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्र आँखें हैं, (सप्तऋषयः प्राणापानाः) सात ऋषि प्राण और अपान हैं ॥ २ ॥ (मुसलं चक्षुः, उलूखलं कामः) मुसल दृष्टि है और उलूखल काम है ॥ ३ ॥ (दितिः शूर्पं) विभाग छाज है, [अदितिः शूर्पग्राही] अविभक्तता सूर्प को पकडनेवाली है, [वातः अपाविनक्] वायु तुषों को पृथक् करनेवाला है ॥ ४ ॥ [कणाः अश्वाः] अन्न के कण घोडे हैं, [तण्डुलाः गावः] चावल गौवें हैं, (तुषाः मशकाः) तुष मशक मच्छर हैं, ॥ ५ ॥ [फलीकरणाः कब्रु] टुकडे ये दरव हैं, [अभ्रं शरः] मेघ ही उसका सिरका है ॥ ६ ॥ [श्यामं अयः अस्य मांसानि] काला लोहा इसके मांस हैं, [लोहितं अस्य लोहितं] लाल लोहा इसका रक्त है ॥ ७ ॥ (त्रपु भस्म) टीन-कथिल इसका भस्म है, (हरितं वर्णः) हरा इसका वर्ण है, [पुष्करं अस्य गन्धः] पुष्कर इसका गन्ध है ॥ ८ ॥ (खलः पात्रं) खल इसका पात्र है, (स्फ्यौ अंसौ) दोनों स्फ्य नामक यज्ञपात्र कंधे हैं, [ईषे अनूक्ये] ईषा नामक साधन हंसली की हड्डी है ॥ ९ ॥ [जत्रवः आन्त्राणि] पांसली आंतें हैं और [वरत्राः गुदाः] बेत जोडनेवाले चर्म गुदा है ॥ १० ॥

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥
ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥
यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३: प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥
पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥
नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥ ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ (८)

(२) ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह॥ तं वा० । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा० ॥ ३३ ॥

अर्थ- [ब्रह्मवादिनः वदन्ति] ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि [पराञ्चं ओदनं प्राशीः प्रत्यञ्चं इति] दूरका चावल तुमने खाया अथवा समीपका खाया ? ॥ २६ ॥ [त्वं ओदनं प्राशीः, त्वां ओदनः इति] तूने अन्नको खाया अथवा अन्नने तुझे खाया? ॥ २७ ॥ [पराञ्चं ओदनं प्राशीः] यदि तूने परला अन्न खाया है तो [त्वा प्राणाः हास्यन्ति इति एनं आह] तुझे प्राण छोड देंगे ऐसा इसे कहता है ॥ २८ ॥

[प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः] यदि सन्मुख का खाया है तो [अपानाः त्वा हास्यन्ति इति एनं आह] अपान तुझे छोडेंगे ऐसा इसे कह ॥ २९ ॥ [न एव अहं ओदनं] नहीं मैंने अन्नको खाया और [न मां ओदनः] न मुझे अन्नने खाया ॥ ३० ॥ प्रत्युत [ओदनः एव ओदनं प्राशीत्] अन्न ही अन्नको खा गया है ॥ ३१ ॥ (८)

[ततः च एनं अन्येन शीर्ष्णा प्राशीः] पश्चात् इसका अन्य सिरसे तू प्राशन करेगा [येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया था उससे न करेगा तो [ज्येष्ठतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] ज्येष्ठसे प्रारंभ करके तेरी संतान मर जायगी ऐसा इसे कह। [तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्] उसको मैंने न अपने, दूरकी ओर और पास ओर प्राशन नहीं किया, मैंने [बृहस्पतिना शीर्ष्णा] बृहस्पतिको मुखिया बनाकर [तेन एनं प्राशिषं] उससे इस प्रकार प्राशन किया, [तेन एनं अजीगमं] उससे इसको प्राप्त किया। अतः [एषः ओदनः सर्वाङ्गः वै] यह अन्न परिपूर्ण है [सर्वपरुः सर्वतनूः] सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है। इस तरह [यः एवं वेद सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति] ऐसा जो जानता है वह सर्वांग और सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३२ ॥

[याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिनसे इसका प्राशन पूर्वज ऋषियोंने किया था उनसे [अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां ततः एनं प्राशीः] भिन्न दूसरे कानोंसे प्राशन करोगे तो [बधिरः भविष्यसि इति एनं आह] बधिर हो जायगा, ऐसा इसे कहो। [तं वा०... द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां] उसको मैंने... द्युलोक और पृथ्वीलोकके कानोंसे [ताभ्यां एनं प्राशिषं] उनसे मैंने प्राशन किया, [ताभ्यां एनं अजीगमम्] उनसे इसको प्राप्त किया० ॥ ३३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।० ०
॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजा मरिष्यती-
त्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥
ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा । अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० ।०।०॥ ३६ ॥
ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा०।
ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा ० । ० ॥ ३७ ॥
ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ।
तं वा ० । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं ०। ०।० ॥ ३८ ॥
ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह
। तं वा ०। अन्तरिक्षेण व्यचसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ।०।०॥ ३९ ॥
ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ॥
तं वा ०। दिवा पृष्ठेन । तेनैनं ०।०।०॥ ४० ॥

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह । तं वा०। पृथिव्योरसा ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४१॥
ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा०। सत्येनोदरेण ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४२ ॥
ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह॥ तं वा०। समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं ०।०।० ॥ ४३ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा ०। मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ॥ एष वा ०।०।० ॥ ४४ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्येनमाह ॥ तं वा० । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् ॥ ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४५ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । तं वा ०। अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४६ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा ०। सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।०॥ ४७ ॥

अर्थ- जिसने पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [अन्येन उरसा] छातीसे सेवन करोगे तो [कृष्या न रात्स्यसि इति०...] खेतीमें समृद्ध न होगा। [तं वै०... पृथिव्या उरसा०...] उसे मैंने पृथ्वीरूप छातीसे सेवन किया० ॥ ४१ ॥

जिसका पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन उदरेण०] दूसरे पेटसे तुम सेवन करोगे तो [उदर-दारः त्वा हनिष्यति इति] पेटको फाडनेवाला अतिसाररोग तेरा नाश करेगा ऐसा इसे कहो॥ [तं वा०...सत्येन उदरेण०।...] इसे मैंने सत्यरूप पेटके द्वारा सेवन किया०... ॥ ४२ ॥

पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन वस्तिना प्राशीः०...] दूसरी बस्तिसे तूने सेवन किया तो तू [अप्सु मरिष्यसि] जलमें मरेगा। [तं वै०...समुद्रेण वस्तिना०...] उसका मैंने समुद्ररूपी बस्तिसे सेवन किया०...॥४३॥

जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः] दूसरी जंघाओंसे उसका सेवन करोगे तो [ते ऊरू मरिष्यतः] तेरी जंघाएं नष्ट हो जायगी, [तं वै०... मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां प्राशिषं०—] उसका मैंने मित्रवरुणकी जंघाओंसे सेवन किया०— ॥ ४४ ॥ पूर्व ऋषियोंने जिससे इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां अष्ठीवद्भ्यां प्राशीः] दूसरी जानुओंसे सेवन करोगे, तो तू [स्रामः भविष्यसि] लंगडा हो जायगा ऐसा इसे कहो। [तं वै०... त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्यां] उसे मैंने त्वष्टाकी जानुओंसे सेवन किया०.. ॥ ४५ ॥ जिसने पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां पादाभ्यां] दूसरे पांवोंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] तुम्हें बहुत चलना पडेगा। [तं वै०... अश्विनोः पादाभ्यां०...] उसका मैंने अश्विदेवोंके पांवोंसे सेवन किया०... ॥ ४६ ॥ जिसने पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां०] दूसरे पंजोंसे तूने सेवन किया तो [सर्पः त्वा हनिष्यति०] सांप डंस मारेगा। [तं वै सवितुः प्रपदाभ्यां०...] उसे सविताके पंजोंसे मैंने सेवन किया० ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा ०। ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४८ ॥
ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (९)

[३]एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥
ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥
एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥
स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥
न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥
न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)

अन्नका महत्त्व।

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूक्तमें काव्यरूपी आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गधामका सुख देनेवाले हैं। संपूर्ण विश्व अन्नमय है। यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विश्वरूप है।

अन्न सेवन करना हो तो जैसा ऋषिलोग उसका सेवन किया करते थे वैसाही करना चाहिये, अन्यथा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूक्तमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें। इस सूक्तके प्रारंभमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय हैं। २९ वें मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति ? (२९)

" तूने इस अन्नका प्राशन किया अथवा इस अन्नने तेरा भक्षण किया ?" यह प्रश्न बड़ा ही विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं ? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा उपभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं ? कितना गंभीर प्रश्न है ! हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। क्या हो रहा है ? मनुष्य भोगोंको भोग रहे हैं। उन भोगोंके भोगनेमें कितनी शक्ति व्यय हो रही है ? इतनी शक्तिका व्यय करके मनुष्य भोगोंको भोग रहे हैं या वे भोगही मनुष्यकी जीवनको खा रहे हैं इसका कोई विचार नहीं करता ! कितना आश्चर्य है !

मनुष्यके अन्न वस्त्र गृह स्त्री राज्य धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके आनंद प्राप्त करे। परंतु होता है यह कि मनुष्य दुःखही बढ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण आशय है। पाठक विचार करें कि वेदने एक इस प्रश्नमें कितनी महत्त्वपूर्ण विचार-परंपराको चलाया है। जो विचार करेंगे और सोचेंगे उनके लिये यह प्रश्न जीवनका परिवर्तन करनेवाला है।

इस प्रश्नका उत्तर कैसा होना चाहिये, यह बात इसी सूक्तने बताई है। मंत्रही उत्तर देता है—

न एव अहं ओदनं न मां ओदनः। (३०)

"न मुझे अन्नने खाया, न मैंने अन्नको खाया।" अर्थात् हम दोनों ऐसे समविचारभावसे एक दूसरेके पास आये कि जिससे दोनोंमेंसे किसीका दूसरेपर बुरा प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा खाकर कम किया, अर्थात् आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करके दूसरोंसे वंचित रखा। और न ही अन्नने मुझे खाया, अर्थात् न अन्नही मेरे ऊपर सवार होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न साथसाथ रहे, एक दूसरेके सहायक हुए, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा बढाने लगे, एक दूसरेकी महिमा बढाते हुए जगत का उपकार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उत्तरका विचार करें। क्या यह उत्तर पाठकोंके विचारमें मान्य हो सकता है ? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर घट रहा है या नहीं, इसका विचार पाठकही करें। भोग और भोग लेनेवाला एक दूसरेके पास आवें, तो परस्परके उपकारक होने चाहिये, यह नियम यहां बताया है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये। कितना उत्तम उपदेश है, इसका मनन पाठक करें।

यहीं इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र उनकी एकरूपता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राशीत्। (३१)

"अन्नने ही अन्नको खाया है।" अर्थात् भोक्ता और भोग्य एकही तत्त्व है। जैसा भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्॥ (गी० ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गी० ९।१६)

"ब्रह्मही अर्पणद्रव्य है और ब्रह्मही अर्पणकर्ता है।" यह जो गीतामें कहा वह इसी मंत्रके आधारसे कहा, अथवा हम यों कह सकते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यहां समान हैं।

हम खानेवाले भी अन्नही हैं और हम जो खाते हैं वह भी अन्नही है। पाठक विचार करेंगे तो उनको यह बात समझमें आ सकती है कि मनुष्य भी अन्नही है। मनुष्यका यह शरीर वनस्पतियोंका अन्न तो है ही, परंतु उच्छ्वासरूपी जो वायु मनुष्यादि प्राणी बाहर फेंकते हैं वह सेवन वनस्पतियोंका पुष्ट हो सकती है। इस तरह यह विचार अनेक रीतिसे अनुभवमें आ सकता है।

एकतत्त्वका अध्यात्म इस तरह यहां वेदमंत्र पाठकोंको बता रहा है। आशा है इस तरह विचार करके पाठक इस सूक्तका बोध ले सकते हैं।

प्राणकी विद्या।

(४)

(ऋषिः-- भार्गवो वैदर्भिः। देवता--प्राणः)

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥
यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥
यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः। सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्। आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अर्थ- (यस्य वशे) जिसके आधीन (इदं सर्वं) यह सब जगत् है उस (प्राणाय नमः) प्राणके लिये मेरा नमस्कार है (यः सर्वस्य ईश्वरः) वह प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) उसमें सब जगत् रहा है ॥ १ ॥

हे प्राण ! (क्रन्दाय ते नमः) गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है (स्तनयित्नवे) मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार है। हे प्राण ! (विद्युते) चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! (वर्षते) वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है ॥ २ ॥

हे प्राण ! (यत् स्तनयित्नुना ओषधीः अभिक्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा औषधियोंके सन्मुख बडी गर्जना करता है, तब औषधियां (प्रवीयन्ते) गर्भवती होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

हे प्राण ! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आते ही जब तू (ओषधीः अभिक्रन्दति) औषधियोंके संमुख गर्जना करने लगता है, (तदा यत् किं च भूम्यां अधि तत् सर्वं प्रमोदते) तब सब जगत् आनन्दित होता है, जो कुछ इस पृथ्वीपर है ॥ ४ ॥

(यदा प्राणः) जब प्राण (महीं पृथिवीं वर्षेण अभ्यवर्षीत्) वृष्टिसे इस बडी भूमिपर वर्षा करता है, (तत् पशवः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब (नः वै महः भविष्यति) हम सबकी वृद्धि होगी ॥ ५ ॥

(अभिवृष्टा ओषधयः) औषधियों पर वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियां (प्राणेन समवादिरन्) प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण ! (नः आयुः वै प्रातीतरः) तूने हम सबकी आयु बढा दी है और (नः सर्वाः) हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुक्त (अकः) किया है ॥ ६ ॥

(आयते ते नमः अस्तु) आगमन करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है, (परायते नमः अस्तु) गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है। हे प्राण ! (तिष्ठते) स्थिर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥१०॥
प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥१२॥
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है, (अपानते) अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है। (पराचीनाय) आगे बढनेवाले और (प्रतीचीनाय) पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [या ते प्रिया तनूः] जो तेरा [प्राणमय] प्रिय शरीर है, [या ते प्रेयसी] और जो तेरे [प्राणापानरूप] प्रिय भाग हैं, तथा [अथो यद् तव भेषजं] जो तेरा औषध है वह [जीवसे नः धेहि] दीर्घजीवनके लिये हमें दे ॥ ९ ॥

[पिता प्रियं पुत्रं इव] जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार [प्राणः प्रजा अनुवस्ते] सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है। [यत् प्राणति] जो प्राण धारण करते हैं और [यत् च न] जो नहीं धारण करते, [प्राणः सर्वस्य ईश्वरः] उन सबका प्राणही ईश्वर है ॥ १० ॥

[प्राणः मृत्युः] प्राण ही मृत्यु है और [प्राणः तक्मा] प्राणही जीवनकी शक्ति है। इसलिये [प्राणं देवाः उपासते] सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। [प्राणः ह सत्यवादिनं] क्योंकि सत्यवादीको प्राणही [उत्तमे लोके आदधत्] उत्तम लोकमें पहुंचाता है ॥ ११ ॥

प्राण [विराट्] विशेष तेजस्वी है, और प्राण ही [देष्ट्री] सबका प्रेरक है, इसलिये [प्राणं सर्वे उपासते] प्राणकी ही सब उपासना करते हैं। सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी (प्राणं आहुः) प्राणही हैं ॥ १२ ॥

(प्राणापानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है। (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण रखा है और (व्रीहिः अपानः उच्यते) चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

(पुरुषः गर्भे अन्तरा) जीव गर्भके अंदर (प्राणति अपानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है। हे प्राण! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तब वह (अथ सः पुनः जायते) और पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिश्वानं आहुः) प्राणको मातरिश्वा कहते हैं, और (वातः ह प्राणः उच्यते) वायु नामही प्राण है। (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत, भविष्य और जो कुछ वर्तमान कालमें है वह सब प्राणमें (सर्वं प्रतिष्ठितं) ही रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण! (यदा) जबतक तू [जिन्वसि] प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यकृत [ओषधयः] औषधियां [प्र जायंते] फल देती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥१७॥

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥१८॥

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः। एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥१९॥

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ [१२]

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥२१॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥२२॥

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ-[यदा प्राणः महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्] जब प्राण इस बडी पृथ्वीपर वृष्टि करता है तब [ओषधयः वीरुधः याः काश्च प्रजायन्ते] औषधियां और वनस्पतियां बढ जाती हैं ॥ १७ ॥

हे प्राण ! [यः ते इदं वेद] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, [तस्मै सर्वे बलिं हरान्] उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही सत्कारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [यथा] जिस प्रकार ये [तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः] सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं कि [यः] जो [सुश्रवाः] उत्तम यशस्वी है और [त्वा] तेरा सामर्थ्य [शृणवत्] सुनता है [तस्मै बलिं हरान्] उसके लिये भी बलि देते हैं ॥ १९ ॥

[देवतासु आभूतः] इंद्रियादिकोंमें जो व्यापक प्राण है वह ही [अंतः गर्भः चरति] गर्भके अंदर चलता है। जो [भूतः] पहले हुआ था [सः उ] वह ही [पुनः जायते] फिर उत्पन्न होता है। जो [भूतः] पहिले हुआ था [स] वह ही [भव्यं भविष्यत्] अब होता है और आगे भी होगा। पिता [शचीभिः] अपनी सब शक्तियोंके साथ [पुत्रं प्रविवेश] पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[सलिलात् हंस उच्चरन्] जलसे हंस ऊपर उठता हुआ [एकं पादं न उत्खिदति] एक पांवको उठाता नहीं। [अंग] हे प्रिय [यत् स तं उत्खिदेत्] यदि वह उस पांवको उठावेगा [न एव अद्य स्यात्, न श्वः न रात्रीः न अहः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन] तो आज, कल, रात्री, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त,(सहस्राक्षरं) अक्षरोंसे व्याप्त (एकनेमि वर्तते) जिसका है, ऐसा यह प्राणचक्र (प्र पुरः नि पश्चा) आगे और पीछे चलता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग शेष रहा है (कतमः सः केतुः) वह किसका चिन्ह है ॥ २२ ॥

हे प्राण ! [अस्य विश्वजन्मनः] सबको जन्म देनेवाले और जो सब (विश्वस्य चेष्टतः) हलचल करनेवाले (यः ईशे) जगत्का जो ईश है, उस (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्रधन्वने नमः) शीघ्र गतिवालेके तेरे लिये नमन है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः । अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो माऽनु तिष्ठतु ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते । न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥
प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥ (१३)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २॥

अर्थ-(यः अस्य सर्वजन्मनः) जन्म धारण करनेवाले और (चेष्टतः सर्वस्य) हलचल करनेवाले सबका जो (ईशे) स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (ब्रह्मणा धीरः) आत्मशक्तिसे युक्त होता हुआ प्राण (मा) मेरे साथ (अनुतिष्ठतु) सदा रहे ॥ २४ ॥

[सुप्तेषु] सब सो जानेपर भी यह प्राण [ऊर्ध्वः] खडा रहकर [जागार] जागता है [ननु तिर्यङ् निपद्यते] कभी तिरछा गिरता नहीं। [सुप्तेषु अस्य सुप्तं] सबके सो जानेपर इसका सोना [कश्चन न अनुशुश्राव] किसीने भी सुना नहीं है ॥ २५ ॥

हे प्राण ! [मत् मा पर्यावृतः] मेरेसे पृथक् न होओ। [न मत् अन्यः भविष्यसि] मेरेसे दूर न होओ। [जीवसे अपां गर्भं इव] पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! [जीवसे मयि त्वा बध्नामि] जीवनके लिये मेरे अंदर तुझको बांधता हूं ॥ २६ ॥

प्राणसूक्त समाप्त
द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥



बोधित होता है। क्योंकि शरीरमें प्राणही उसकी विभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणशक्तिही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि,वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवतागण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर रहा है व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहतीं हैं और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं, वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचाता है। अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति।

कई लोग यहां पूछेंगे कि 'सत्यवादिताका प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बडा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

द्वादश मंत्रका अब विचार कीजिये। प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक ही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतकही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका साहचर्य छोड देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसेही प्राप्त हुआ है। इसलिये प्रत्येक वैभव प्राप्त करना है, तो प्राणसे सबकी उपासना करनी चाहिये। प्राण सबका पति है। इस बातकी पुष्टि [illegible] चतुर्थ

प्राण रखा जाता है और चंद्र अपने किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत आदि अपने अपने कार्यद्वारा जगत्को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है उसका वर्णन तेरहवें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एकही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिसे ही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें "अनड्वान्" यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझिए कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यहांका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूप खेती यहां चल रही है। वेदमें अनड्वान शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बडा अर्थका अनर्थ किया है।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्॥ (अथर्व. ४।११।१)

"प्राणका पृथिवी और द्युलोकको आधार है," यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और द्युलोकको आधार है, ऐसा भाव कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनड्वान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहां अनड्वान् अर्थ केवल बैल ही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनड्वान् कहा है। यव प्राण है और चावल अपान है, यह कथन आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियां रहती हैं, धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं।

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहां गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है। और इसीलिये वहां उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें "० पुनः जायते" यह वाक्य पुनर्जन्म की कल्पनाका सूत्र वेदमें बता रहा है, जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, वह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें " मातरि-श्वा " शब्दका अर्थ ' माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम ' मातरिश्वा ' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं।

' मातरिश्वा ' का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमान का सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसे ही सब रहता है। प्राणके बिना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्व-जन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते है।

औषधियोंका उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में " प्राणही औषधि है कि जो जीवनका हेतु है, " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वे मंत्रके साथ करना उचित है।

इस मंत्रमें "(१)आथर्वणीः (२)आंगिरसीः, (३) दैवीः और (४) मनुष्यजाः" ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। इसका विचार निम्न प्रकार है-(१) मनुष्यजाः ओषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् कषाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कल्प, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इनसे श्रेष्ठ दैवी विधि है। (२) दैवीः ओषधयः-आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह दैवी-चिकित्सा है। जलचिकित्सा, सौरचिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब दैवी चिकित्साके प्रकार है। सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आश्चर्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसकी योग्यता बड़ी है। इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है। देवयज्ञद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है। (३) आंगिरसीः ओषधयः = अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाती है। मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है। मानसिक चिकित्साका इसमें विशेष संबंध है। रुग्ण अवयवको संबोधित करके नीरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगोंको निज अंगरस शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है। निज आरोग्यके लिये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं। (४) आथर्वणीः ओषधयः = ' अ-थर्वा ' नाम है योगीका। मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला योगी अथर्वा कहलाता है। इस शब्दका अर्थ (अ-थर्वा) निश्चल, स्तब्ध, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी-चिकित्सा होता है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है। यह आथर्वणी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्माकी शक्तिसे होता है, इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी तृप्ति।

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन श्रद्धासे सुनता है, प्राणके बलको विश्वाससे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका सब सत्कार करते हैं उसकी स्थिति

उत्तम लोकमें होती है और उसीका यश सर्वत्र फैलता है । प्राणायामद्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढता है । इस उन्नीसवें मंत्रमें 'बलि' शब्दका अर्थ सत्कार, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है । सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है । नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करते हैं और उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं । वे ही आंख, नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानमें रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण पूर्व देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है । अर्थात् एकवार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। आत्माकी शक्तियोंका नाम शची है। इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है। धर्मपत्नीका भाव यहां निजशक्ति ही है। इंद्र जीवात्माका है और उसकी शक्तियां शची नामसे प्रसिद्ध हैं । पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है । पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग अवयव और इंद्रिय होते हैं । स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशोंमें मिलते हैं । इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है । गृहस्थी लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है । मातापिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् दोषी मातपिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है ।

इक्कीसवें मंत्रमें "हंस" नाम प्राणका है । श्वास अंदर आनेके समय "स" की ध्वनि होता है और उच्छ्वास बाहर आनेके समय "ह" की ध्वनि होती है । 'ह' और 'स' मिलकर "हंस" शब्द प्राणवाचक बनता है। इसीके अन्य रूप "अ-हंसः, सोऽहं" आदि शब्दोंके लिये बनाये गये हैं । इसमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है । इसका उलटा बनानेसे इसीका "सोऽहं" बन जाता है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोऽहं' बन जाता है ।

स–ह ह–स
ओ–म् म्–अ ओ (अः)
सोऽहं हं सः

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं । सांप्रदायिक झगडोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा । 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणका वाचक है । आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है । आत्मा ब्रह्माका वाचक है और ब्रह्माका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकमें आत्माका प्राणके साथका अखंड संबंधही वर्णन किया है । यह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणस्थानीय मानससरोवरमें क्रिडा कर रहा है । हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है–

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस–वाहन	प्राण–वाहन
कमल आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आगया है, उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें "असौ अहं (यजु० ४०।१७)" कहा है। "असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहने वाला मैं आत्मा हूं" यह भाव उक्त मंत्रका है। यही भाव उक्त स्थानमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राण ही 'हंस' है । यह (पक्षिरूप) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें गोता लगाता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उठता है । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं ? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण बाहर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं । इसका कारण इस मंत्रमें बताया है । जिस प्रकार हंस पक्षी एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पांव ऊपर उठाता है, उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयके स्थानमें रखता है और दूसरे पांवसे ही बाहर उठता है। कभी दूसरे पांवको हिलाता नहीं।

तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिसे शरीरमें स्थिर रहता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि वह अपने दूसरे पावको भी बाहर निकालेगा तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ 'स' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ 'हं' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र ही साध्य होती है। यही "सो" अक्षरका ध्यान श्वासके साथ और "हं" का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे 'हंस' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इसपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाएं रची हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर कल्पनाओंसे दूर रहना ही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये—

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य करता है यह बात ३१वें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, क्रमशः गुदासे लेकर सिरके ऊपरले भाग तक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है, इस बातका अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रार चक्रका स्थान है। यही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र आरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। पाठकोंको उचित है कि वे इन बातोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बडा कठिन है। आधे भागके साथ सब भुवनको बनाता है, जो इसका दूसरा अर्ध है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण सबका ईश है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें गतिमान और सबमें मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण 'अतंद्र' अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रखा है। यही भाव पचीसवें मंत्रमें कहा है।

सब इंद्रियां आराम करती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिरजाती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन खडा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खडा रहकर पहरा करता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यसे कभी पीछे नहीं हटता। सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए-किसी आलंबनपर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकती हैं और विश्राम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अत्यंत महत्त्व है। तथा अब इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि—

"हे प्राण! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुष्यसे युक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ।" यह भावना उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्नमय मन है और आपोमय प्राण है। इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहा है। उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ भाव चाहिए और कभी अकाल मृत्यु-का विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मापर विश्वास रखनेसे उक्त भावना दृढ हो जाती है। इस प्राण सूक्तमें निम्न भाव हैं-

प्राणसूक्तका सारांश।

(१) प्राणके आधार ही सब कुछ है, प्राणही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और द्युलोकमें है।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है, और पृथ्वी-परका प्राण यहां सदा ही वायुरूपसे रहता है।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनंद होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषध आरोग्य रह सकता है।

(७) प्राण ही दीर्घ आयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है। सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रिय प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष प्राणको वशमें करके बल प्राप्त कर सकते हैं। कनिष्ठ पुरुष प्राणसे प्रबलतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवताएं हैं। सबको प्रेरणा करनेवाला प्राण ही है।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीरमें आकर शरीरका बल बढाता है।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब गुण कर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आती हैं।

(१४) प्राण ही हंस है और वह हृदयके मानस सरोवर-में क्रीडा करता है। जब वह चला जाता है तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

(१५) शरीरके आठ चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है। वह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। भीति और संकोच नहीं होता। क्योंकि इसका ब्रह्म अथवा आत्माके साथ संबंध है।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ सदा पहरा रखता है। अन्य इंद्रिय थकते, डरते और सोते हैं; परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता। इसका विश्राम होनेपर मृत्यु ही होती है।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। और उसकी शक्तिसे बलवान होना चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राण विषयक जो जो उपदेश है उसका विचार करते हैं।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश.

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं, उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है।—

प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० १०।९०।१३, अथ. १९।६।७

" परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है। " यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना क्षण-मात्र भी जीवन रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है।

यह वायु हमारे फेफडोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उससे हमारा जीवन होता है। यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये। प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये-

आयुर्न प्राणः॥ ऋ. १।६६।१

" प्राण ही आयु है। " जबतक प्राण रहता है तब तक ही जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेफडोंमें होता है। फेफडे बलवान् करनेसे प्राणमें बल आजाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु—नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान "असु-नीति" शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त होता है, इसी प्रकार "असु" अर्थात् प्राणका व्यवहार करनेकी रीति "असुनीति" शब्दसे व्यक्त होती है Guide to life, way to life अर्थात् "जीवनका मार्ग" इस भावको "असु—नीति" शब्द व्यक्त कर रहा है, यह प्रो० मोक्षमुलर, प्रो. रॉथ आदिका वचन सत्य है। देखिये-

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥
ऋ. १०।५९।६

" हे असुनीते! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु, प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सकें। हे अनुमते! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।"

" असुकी नीति " अर्थात् " प्राण धारण करनेकी रीति " जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है, प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अशक्यता होनेपर भी भोग भोगनेकी अशक्यता हो सकती है। मृत्यु पास आनेके कारण सूर्य-दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है। प्राण—नीतिके अनुकूल गति रखनेसे यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिरा न आयुः॥
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ ऋ. १०।५९।५

" हे असुनीते! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बडी दीर्घ करो। सूर्यका दर्शन हम करें। तू घीसे शरीर बढा।"

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योगसाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इसप्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये। मनकी दृढ शक्तिपर ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत करनेपर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको उचित है कि वे अपने भोजनमें घी अधिक सेवन करें।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणकी वृद्धि

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आगया है—

प्राणस्त आप्यायताम्॥ यजु० ६।१५

" तेरा प्राण संवर्धित हो। " प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है-

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निदिध्यदैन्द्र उदानो अंगे अंगे निधीतः॥ य० ६।२०

(ऐंद्रः प्राणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा है, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रहा है। " इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होगी, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूक्तोक्त " आंगिरस-विद्या " है। अपने जिस अंगमें प्राणकी न्यूनता है, उसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छा शक्ति द्वारा प्राणको पहुंचाना चाहिये यही अपना आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो "आंगिरस विद्या " है वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये-

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि ॥ य० १४।८; १७

" मेरे प्राण, अपान, व्यानका संरक्षण करो। " इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं मे शुंधामि ॥ यजु० ६।१४

प्राणं मे तर्पयत ॥ यजु० ६।३१

" प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति करो। " तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है। अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है, और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ गवा बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नित्यतृप्त वृत्तिसे व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि-

प्राणं म वीर्यं मासि। य० २१।१९

" नाकमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ। " प्राणशक्तिका नासिकाके साथ संबंध रहता है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान होती है, तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणायामकी सिद्धि होती है। तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियम पूर्वक करते हैं उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसीका किसी कारणवश प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको शीघ्र और सहजसिद्धि होती है। परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता, उसको यह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है।

गायन और प्राणशक्ति।

साम प्राणं प्रपद्ये। ३।१२

' प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूं। ' सामवेद गायन और उपासनाका वेद है। ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है। केवल गानविद्यासे भी मनकी एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है। इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनोंमें न फसेंगे तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनसे उपासनामें अत्यंत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है। यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले आजकलके स्त्रीपुरुषोंने अपने आचरण बहुत ही गिरा दिये हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है। तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी तल्लीनता प्राप्त करें।

मयि प्राणापानौ। य० ३६।१

' मेरे अंदर प्राण और अपान बलवान रहें। ' यह इच्छा हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है। जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न हो नहीं सकता। प्रस्तुत प्राणका प्रकरण है, इसका संबंध बाहरके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका संबंध नासिका आदि

स्थानके साथ है इसलिये कहा है- ।

यातं प्राणेन अपानेन नासिके । य० २५ । २

" प्राणसे वायुकी प्रसन्नता और अपानसे नासिकाकी पूर्तता करनी चाहिए।" बाह्य शुद्ध और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरोंमें जाता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बाह्य वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है-

प्राणकी प्रतिष्ठा।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ॥ य० १३।१९; १४।१२; १५।६४

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ॥ य० १३।२४; १४।१४; १५।२८

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥ य० २२।२३; २३।१८

" प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंको तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये त्याग करो।"

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका बल रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोंकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है; अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटी है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इनका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्यका स्वरूप " स्वाहा " शब्दद्वारा व्यक्त हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियगणके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है !! क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके। देखिए-

राजा मे प्राणः ॥ य० २० । ५

" मेरा प्राण राजा है " सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथी आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उसके नौकरोंकी तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा शुश्रूषा अधिक करनी चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चला गया तो एकभी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा।

आजकल इंद्रियोंके भोग बढानेमें सब लोग लगे हैं, प्राणकी शक्ति बढानेका कोई ख्याल नहीं करता। इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्र ही इस शरीरको छोड देता है। जब प्राण छोडने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियां भी उसके साथ इस शरीर को छोड देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोडे लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसको अर्पण करके प्राणकी शक्ति बढानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये। अपने प्राणको बुरे कार्योंमें समर्पित करनेसे बडी ही हानि होती है। कितने दुर्व्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनमें लोग अपने

आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है। इसका प्रकार देखिए—

> पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥
>
> य० ४।१५

" मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे। "

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, *यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था।* वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ! वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका *लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा* है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार *महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम* सर्वत्र एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियां वैसी थककर लीन होती हैं,*इसका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिका ज्ञान होता* है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण।

> सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् ॥ य० ६।१८
>
> *सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् ॥ य० ६।१०*

" अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। मेरा प्राण वायुके साथ संगत हो। " तात्पर्य अपना प्राण अलग *नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है।* इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिये। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र *भरा है, उसमेंसे थोडासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरका* जीवन दे रहा है, श्वास प्रश्वासद्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जा रहा है, इत्यादि भावना मनमें धारण करनी चाहिये। तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एककी उन्नति है, समष्टिकी उन्नतिमें व्यष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिये। वह उक्त प्रकारसे हो सकती है। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लडनेवाला प्राण।

> *अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम।*
>
> सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥
>
> य० १९।९०

" (मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (उपवाकैः सरस्वती) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सब शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है। "

स्पर्धा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लडता है। इसका नाम " अविः " है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अवनके अन्य *अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं—रक्षण, गति कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण स्वामित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा,* तेज, प्राप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने *अव्* धातुके अर्थ हैं। ये सब कार्य प्राणवाचक " अवि " शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और कर्म जाननेका *यत्न करें।*

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रहा है। *नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें* सब कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग " अमृत " मय है। अर्थात् इस मार्गमें मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो मार्ग हैं। " श्वास और उच्छ्वास "

प्रकार प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंसे सब शरीर भर सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंगमें हुआ है। यही कारण है, कि प्राणशक्ति वश होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके वश होनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रिया-प्रधान होता है। इसलिये पाठक इस उपदेश की ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें ढालनेका यत्न करें।

सामवेद उपासनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कई उसको उक्त कारणसे "प्राण वेद" भी समझते हैं। उपासना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उसकीही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्यवेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहां इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है, उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें॥ अब अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं।

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा॥ (अ. २।१६।१)
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः॥ (अ. २।२८।३)

"प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें॥ प्राण अपान इसको न छोडें।" इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राण वशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रबलता करनी चाहिये। देखिये-

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड॥
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुंच॥ ४॥
वातः प्राणः॥ ५॥ (अ. १९।४४)

"हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण कर। हे जीवन! हमारे जीवनको सुखमय कर। हे अनियम! अनियमके पाशोंसे हमें बचा।"

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके पाशोंसे बचाना चाहिये। "ऋति" का अर्थ — "प्रगति" उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता" इतना है। अर्थात् निर्ऋतिका अर्थ-अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, असन्मार्ग, टेढीचाल, घातपातकी रीति, अपवित्रता यह होता है। निर्ऋतिके साथ जानेवाला निःसंदेह अधोगतिको चला जाता है। इसलिये इस टेढेमार्गके भ्रमजालसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निर्ऋतिके जाल प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकवार फंसता है, उनको उठना बडा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन, भ्रम, आलस्य, छल, कपट आदि सबही इस निर्ऋतिके जालके रूप हैं। जो लोक इस जालमें फंसते हैं उनको उठना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि, वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योगसाधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है-

मैं विजयी हूँ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ (अ. ५।९।७)

"सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्षस्थ तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूं।"

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपनी आत्मिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं, और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको निकृष्ट और हीनदीन समझना नहीं चाहिए, परंतु (अहं अस्तृतः अस्मि (I am invincible) मैं अपराजित हूं, मैं शक्तिशाली हूं, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए।

अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है, इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है। इतनाही नहीं परंतु सब जगत्‌में यह 'मीठा--चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगत्‌में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है। मंत्र कहता है कि "इस मीठे चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है, जहांसे यह मीठा चाबुक चलाया जाता है वहीं प्राण और अमृत रहता है।" प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तबतक मरणकी भीति नहीं होती। और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसलिये उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें कही है क्योंकि शरीररूपी रथके घोडे चलानेका कार्य यही चाबुक कर रहा है। दूसरे मंत्रमें कहा है कि "यह चाबुक शरीरस्थ चक्षु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य यही है। यह प्राण सबोंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है।" यह वर्णन उत्तम अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है। तथा--

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता।

मनोः प्राणः ॥ (अ० १९।६०)

श्रोत्रं चक्षु प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ ५ ॥ (अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥ (अ० १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे ॥ मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे ॥ मैं, अपना आत्मा, चक्षु श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान आदि मेरी सब शक्तियां पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें ॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा उक्त मंत्रमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं--

अहं अयुतः

अहं सर्वं अयुतः

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने योग्य समर्थ, किसी कष्टसे खलबली न मचने योग्य दृढ हूं।" यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितनी बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। मेरी इंद्रियां, मेरे प्राण तथा मेरे अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है परंतु मैं यहां कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं, तथा--

प्राणकी मित्रता।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्
पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ (अ० १३।१।१७)

"यहीं प्राण हमारा मित्र बने। हे परमेष्ठिन्! हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो।" प्राणके साथ मित्रता का तात्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी अकाल आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिये। परमात्मा सर्व श्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे परम भक्तिमान द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है उसके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह उपासनाका और मानवी उन्नतिका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको बढाता है उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे हो सकती है। देखिए--

तस्य व्रात्यस्य ॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चंद्रमाः ॥ योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम

स इमे पशवः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ (अ० १५।१५।१-९)

“उस (व्रात्य) संन्यासी सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व-प्रौढ, अभ्यूढ, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं । और इनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप पशु और प्रजा हैं ।” इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है । वहांही उसको पाठक देखें । विस्तार होनेके भयसे उन सबको यहां नहीं लिया है । मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है । मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमितरूपमें बढा सकता है यही अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है, जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है वह अग्निके समान तेजस्वी होता है । इस प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए । तथा—

समयकी अनुकूलता ।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥ (अ० १९।५३)

“कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाओंको आनंद होता है ।”

कालका नियम पालन करना चाहिये । पुरुषार्थके साथ कालकी अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है । कालका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करें, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए । अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये-

प्राणरक्षक ऋषि ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥

सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी योग्यता उस मनुष्यकी हो सकती है । ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं, और यदि ये दिन रात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भीति नहीं होगी, यह साधारण नियम समझिये ।

जो लोग असावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं, उनको इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना उचित है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो । जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे । वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण करके मृत्युके वशमें होवे । वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनताकी आयुष्य बढाना और आरोग्यवृद्धि करना है। इसीलिये स्थान स्थानक वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुष्यके अनेक उपदेश आते हैं । पाठक इन बातोंको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण करें ।

वृद्धताका धन ।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् । अयं जरिम्णः शेवधिरिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥ आ ते प्राण सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥ (अ० ७।५३)

“जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें । वृद्धावस्थाका जो खजाना है वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे । तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूं और बीमारीको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे ।”

बैल शामके समय वेगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं। उस प्रकारके बलयुक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें । जब प्राण और अपान बलवान बनकर अपना अपना कार्य करेंगे तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्य रूपी धन प्राप्त कर सकता है । सब धनोंमें आयुष्यरूपी धन

हो सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धनोंका उपयोग इसके होनेपर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें–

अरिष्टाः वीरवधिः इह वर्धताम् ॥ (अ० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं। "इस आयुका खजाना यहां बढता रहे।" अर्थात् इस लोकमें आयु बढती रहे, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रत्युत बढनेवाली है। जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहेगा वह उस प्रकारके आयुष्यवर्धक सुनियमोंका पालन करके आयु बढा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परंतु कई वैदिक धर्मी समझते ही हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका कथन स्पष्ट है, उन बातोंमें उससे कम भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंको धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, ऐसा कहा ही है। वही भाव थोडेसे फरकसे निम्नलिखित मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ (अ० ८।१।१३)

"उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करे। स्फूर्ति और आवृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।"

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता स्फूर्ति, आवृति, रक्षण और खबरदारी ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करें। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है तुलना करके देखें। अब निम्नलिखित मंत्र देखिये–

उन्नति ही तेरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥
(अ० ८।१।६)

"हे मनुष्य! तेरी गति (उत् यानं) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये। कभी भी (अव यानं न) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरी दीर्घ आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोह) चढो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदथं) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण करोगे।"

अपना अभ्युदय करनेका यत्न करना चाहिये, कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है, जिसको इंद्रियरूपी घोडे जुते हैं। इस रथमें प्राणरूपी अमृत है। इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरूढ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढो। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुमको बडी बडी सभाओंमें अवश्य ही संभाषण करना होगा, क्योंकि दूसरोंका सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए। जीवनार्थ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हारा ही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए। प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, आत्मिक बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करनेमात्रसे मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता, परंतु जब एक "नर" अपने आपको उन्नत करनेके पश्चात् "वैश्वा—नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व-मेध-यज्ञ है। अस्तु। इस प्रकार उक्त मंत्रने योगी मनुष्यके सन्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। आशा है कि, सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिक आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका यत्न करेंगे। अब अन्य बातोंका विचार यहां करना है। योगी जनोंका अधिकार कहांतक पहुंचता है, इसका पता निम्न मंत्रोंसे लग सकता है—

यमके दूत।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्
॥ ११ ॥ आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्। रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥ १२॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः। यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्
॥ १३ ॥ अ. ८।२

"मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदि स्थापना करता हूं। वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं ढूंढ ढूंढ कर दूर करता हूं॥ (अराति) अदानत्व, (निर्ऋति) नियम विरुद्ध व्यवहार, (ग्राहि) देरसे चलनेवाले रोग, (क्रव्याद) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी, (पिशाचान्) रक्तको निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि, (रक्षः अप्सरः) सब क्षयके कारण, (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं। जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनेगा, (सजूः) मित्रभावसे संतुष्ट रहेगा और तुझे कष्ट न होगा उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं॥"

इन मंत्रोंमें प्राणसाधन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घ आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है। परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है। इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ नहीं सकती। इस अवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठान की रीतिसे प्राणका बल बढावेंगे, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि-दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं। दुष्टभाव, बुरा आचार, विधिनियमोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा "जात-वेद अग्नि" है। वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान् है। इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो उसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारसे साधनसंपन्न योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं। यही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं।

योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम "अ-थर्वा" होता है। 'अचंचल' यह अथर्वा शब्दका भाव है। एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद सर्वसामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेदका योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ २६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो

अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (अ० १०।२)

"(अ—थर्वा) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पवमानः) प्राणको भेज देता है॥ यही अथर्वा का सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है। उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं॥ वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोडते नहीं, जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं॥ आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। इस देदीप्यमान, मनोहर, यशस्वी और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।"

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें *सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कको एक रूप बनावे।* हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों केंद्र विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विशेषतः मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता, उस धर्ममें बडे दोष होते हैं। शिक्षाविभागमें भी मस्तिष्क और हृदयका समविकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिए। जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढती है उस शिक्षा प्रणालीसे नास्तिकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति बढती है उस प्रणालीसे अंधविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे। यही भाव "मूर्धा और हृदयको सीने" के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति।

"मस्तिष्कके ऊपर के स्थानमें प्राणको प्रेरित करना" यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणायामद्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुंचता है और ब्रह्मरंध्रतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसलिये इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश।

अथर्वा अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहती हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ दैवी शक्तियोंका निवास उसके शरीरमें होता है इसलिये उसका देह देवताओंका उत्तम मंदिर है। इस देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण, मन और अन्न हैं। बलवान प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सद्गुणी और सत्यनिष्ठ मन अपने सुविचारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। मनकी प्रबल इच्छा शक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्त्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्त्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर—"प्राण, मन और अन्न"—

परस्परोंका संवर्धन करते हुए, सब मिलकर योगीकी सहायता करते हैं। यही प्राणायामका यश है।

ब्रह्मकी नगरी।

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है। यह अमृत देव प्रदान करते हैं और पुष्ट होते हैं। अर्थात् हृदय स्थानीय रुधिर ही सब इंद्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रहता है। इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुरीके सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है, अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियां चक्षु, प्राण और प्रजा देती हैं। चक्षु शब्दसे सब इंद्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रजाशब्द सुप्रजाका बोध करता है और प्राणशब्दसे सामर्थ्ययुक्त जीवनका ज्ञान होता है। तात्पर्य इस अपने हृदयकी शक्तियोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं। हृदयको तथा अपने आंतरिक इंद्रियों और अवयवोंको जानना, प्राणायामसे जो चित्तकी एकाग्रता होती है तब कई अज्ञान शक्तियोंका विज्ञान होता है, उसी अवस्थामें आंतरिक अवयवोंका विज्ञान होता है इसी रीतिसे हृदयादि अंतरंगोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्ति कैसे अद्भुत रीतिसे कार्य कर रही है, इसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार अपने आत्मकी शक्ति विदित होते ही उक्त फल प्राप्त होता है। सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ आयु और बलवान इंद्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहांकी आत्मशक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेवालेको होते हैं।

अयोध्या नगरी।

आठचक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवताओंकी नगरी है, इसका नाम " अयोध्या " है। जिसमें दुष्टभाव और आसुरीभावनाओंका संग्राम नहीं होता, अर्थात् जहां दैवी वृत्ति ही सदा शांतिके साथ निवास करती है। इसलिये उसका नाम "अ-योध्या" नगरी है। जबतक यह नगरी देवोंके आधीन होती है तबतक उसमें शांतिका साम्राज्य हो जाता है। इंद्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। इस नगरीमें हृदयस्थानमें प्रकाशमय स्वर्ग है। वहां प्राणायामादि साधनोंका [illegible] । प्राप्तव्य स्थान है। प्राप्तव्यका अर्थ स्वकीय इच्छासे प्राप्तव्य है, अन्यथा [illegible] स्थान सभी प्राणिमात्रके पास है ही, परंतु बहुत ही थोडे लोग हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं। आत्मशक्तिका प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साथ उसमें निवास करना योगसाधनसे साध्य है।

अयोध्याका राम।

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वही आत्माराम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही जानते हैं। अन्योंको उसका पता नहीं लग सकता।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है। जीवात्मा जब आसुरी भावनाओंपर विजय प्राप्त करता है तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है। यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है। इसका पराजय आसुरी भावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका नाम ही " अपराजित अयोध्या " है। अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिये। मैं अपराजित हूं। दुष्टभावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं सदा विजयी

विजयी होता है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है। आत्मा ही ब्रह्म है, वह हृदयकमलमें निवास करती है, देह अर्थात् प्राण उसका वाहन है, आदि वर्णन पूर्व स्थलमें आ चुका है। यह ब्रह्मकी नगरी है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है, यही सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूं, जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है, इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्य प्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायाम की शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये भेद हैं तथा अन्य उपप्राणभी उसीके प्रभेद हैं।

(८) संतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है। इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिये, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करनी नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखना चाहिए। इनसे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किस प्रकार आत्मामें लीन होती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है।

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ, प्रजनशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अकाल मृत्यु होती है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रवि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहती हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपको उक्त भावना रूप ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित विजयी और शक्तिका केंद्र मानना उचित है।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राणवाचक हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूंगा, ऐसा दृढ निश्चय करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कभी हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए।

(२६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी। मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना। उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना। कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर न करना। आजका कर्तव्य कलके लिये न रखना।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बड़ा धन है, उसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षण की भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनता की उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवन का यही उद्देश है।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजय संपादन करनी चाहिए।

(३५) हृदयकी भक्ति और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिये।

(३६) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है। चाहिए, वही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इसप्रकार वेदमंत्रोंका आशय है। पाठक इसका बारंबार विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध लेलें। तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट है। परंतु इसके अतिरिक्त अन्य देवताओंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए। आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उक्त खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे।

स्वयं अनुभव लेनेके बिना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें आकर वहांका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्या की खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। हरएकके थोडे थोडे प्रयत्नसे महान कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बतलाई है। अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। वह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांशरूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है।

वि शंतीति ॥ तै० उ० ३।१

'प्राणही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमेंही जाकर मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति है, सब अन्य शक्तियां प्राणपरही अवलंबित रहती हैं। जबतक प्राण रहता है तबतक अन्य शक्तियां रहती हैं, प्राण जाने लगता है तो अन्यशक्तियां प्रथम चली जाती हैं, और पश्चात् प्राण निकल जाता है। न केवल प्राणियोंकोही प्राणका आधार है, परंतु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ, इन सबको भी प्राणशक्तिकाही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये-

स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं च ॥४॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥ प्रश्न. उ० १

" परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगतमें आदित्यही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान जगत् जिसमें दृश्य और अदृश्य पदार्थ मात्र हैं रयि है। "

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये-

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगतमें इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि हैं, शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है देहमें सीधी बगल प्राण है और बाईं बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है; इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ बृ. ३।९।९

" एक देव कौनसा है ? प्राण है। " अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये-

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ छां. ५।१।१ बृ. ६।१।१

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ बृ. ५।१४।४

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ बृ. १।६।३

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ बृ. २।१।२०

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ बृ १।२।६

"(१) प्राणही बल है, यह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है, (३) प्राणही सत्य है, (४) प्राणही यश और बल है। " इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाभ्युक्तम्॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ॥ सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ प्रश्न. उ १।६-८

" सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुंचता है ॥ यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) धनोंका उत्पादक, एक, श्रेष्ठ तेजसे युक्त, सैंकडों प्रकारोंसे सहस्रों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।"

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके विना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण

वेदमंत्रमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ट संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं। विषरूप दवाइयां पीते हैं, इनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है? परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है, और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है इतना सहज आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुंचे हैं कि अनंत संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। दिव्यशक्तिदायक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। यह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ है, वहांसे सूर्यकिरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे फेफडोंमें जाकर हमारा जीवन बढाता है। जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इस प्राणका और वर्णन देखिये—

प्राणस्तुति।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे ॥ तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रति तिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ॥ ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ॥ त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ॥ वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वन. ॥ ११ ॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ॥ या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥ मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ प्रश्न उ?

"यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी रयि आदि सब है। जिस प्रकार रथ नाभीमें आरे जुडे होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है। ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सबही प्राणके आधारसे हैं। हे प्राण! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजायें मेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्व-

पहिली बात जो इनमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगतमें देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं। प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है। जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, इसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है। इसलिये आत्मकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगतमें अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याकाभी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका "प्राण" अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये–

प्राणरूप अग्नि।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे॥
यशसं वीरवत्तमम्॥ ऋ. १।१।३

"(अग्निना) प्राणसे (रयिं) शोभा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है। और वीर्ययुक्त यश भी मिलता है।"

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा बढेगी और न शरीरकी पुष्टि होगी, फिर यश मिलना तो दुराषास ही है। इसप्रकार बहुत विचार हो सकता है, परंतु उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्योंका इसप्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात् कोई कठिनता नहीं होगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ अर्थोंसे प्राण विद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिए–

(१) देवानां वह्नितमः असि = प्राण "इंद्रियोंको" चलानेवाला है, सूर्यादिकोंको" चलाता है, प्राणायाम द्वारा "विद्वान्" उन्नति प्राप्त करते हैं।

(२) पितॄणां प्रथमा स्वधा असि = संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) पहिले दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मशक्तिकी धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं असि = (अ-थर्वा, अंगिरसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इसप्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका अर्थ देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूं। (१) अग्निः– गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य–प्रेरणा करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्य (पर–जन्य) पूर्णता करनेवाला; (४) मघवान्– महत्त्वसे युक्त; (५) वायुः= हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला; (६) पृथिवी–विस्तृत, आधार देनेवाली (७) रयि – तेज, संपत्ति, शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवः– क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा–पतिः = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितमः = अत्यंत प्रेरक; (१२) इंद्रः = ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः = (रुत्–रः) शब्दका प्रेरक, (रुद्–रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) ऋत्वः = (ऋत) नियमके अनुसार आचरण करने वाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी दिव्य शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक पदोंके गूढ आशय

इत्यादि मिषासे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है और उक्त इतिहासमें "वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूक्ष्म वाचक विचारके द्वारा इसके मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं, "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही भाव बृहदारण्यक के निम्न वचनमें है-

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरो यमयति, एष त आत्मा अंतर्याम्यमृतः

बृ० ३।७।१६

जो प्राणके अंदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) यह तेरा अंतर्यामी अमर आत्मा है।"

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्य संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूं, प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सच्चा सम्राट् बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है-

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमंते ॥

बृ० ५।१२।१

प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यंते ॥२॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यंचि॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ॥४॥

बृ० उ०५।१३

"प्राण 'र' है क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है क्योंकि प्राणमें सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतोंसे अर्थात् कष्टोंसे बचाता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग-रूढीका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आशा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्वकी है इसलिये यहां लिखी है।

अंगोंका रस।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है--

आंगिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ... तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यति।

बृ० १।३।१९

"प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

वृक्षोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग-रसका महत्व है। जीवात्माकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छा शक्तिका नियमन होता है, इच्छासे शरीरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये-

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ छां उ० ६।८।६

"पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये-

प्राणो वाव संवर्गः । स यदा स्वपिति, प्राणमेव
वागप्येति,प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः,
प्राणो ह्येवैतान् संवृंक्त ॥ ३ ॥ छां० ४।३।३

" जब वह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संवारक है।"

जिसप्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरणें फैलती हैं और अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसीप्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है। उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसमें लीन होती हैं। इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बंधनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा, प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्य मनः ॥ छां० उ० ६।८।२

" जिसप्रकार पतंग, डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूम कर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल स्थानपर ही आजाता है; इसीप्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य ! यह मन अनेक दिशाओंमें घूम घूम कर, दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणका ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रियशिष्य ! मन प्राणके साथ ही बंधा है।"

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चपलता से मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होती हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम, और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश होना स्वाभाविक ही है। इसप्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं। यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है—

वसु रुद्र आदित्य।

प्राणा वाव वसवः, एते हीदं सर्वं वासयंति ॥ १ ॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयंति ॥ २ ॥
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥
छां० ३।१६

" प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं, प्राण रुद्र हैं क्योंकि इनके चले जानसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्योंकि ये सबको स्वीकारते हैं।"

इस स्थान पर " प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदनं द्रावयन्ति " अर्थात् " प्राण रुद्र हैं क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं। " ऐसा कथन होता तो प्राणका दुःख निवारक कार्य व्यक्त हो सकता था। परंतु उपनिषद्में " एते हीदं सर्वं रोदयन्ति। " अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब ये सब को रुलाते हैं, इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है। शतपथादिमें भी रुद्रका रोदन धर्मही वर्णन किया है, परंतु दुःख निवारक धर्म भी उसमें उससे अधिक प्रबल है। इसका पाठक विचार करें। इसप्रकार प्राणका महत्व होनेसे ही कहा है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः
स्वसा,प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥
छां० उ० ७।१५।१

" प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि हैं " ये शब्द प्राणका महत्व बता रहे हैं। [१] माता पिता—मातृहित करनेवाला; [२] पिता— पालक, संरक्षक, [३] भ्राता—भरण पोषण करनेवाला, [४] स्वसा—[सु असा] उत्तम प्रकार रखनेवाला; [५] आचार्य आत्मिक गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये, [६] ब्राह्मणः—यह ब्रह्मके पास लेजानेवाला है।

ये शब्दोंके मूलभाव यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राण का वर्णन है, इतना प्राणका महत्व है इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं वह स्वर्ग प्राण ही है। देखिये—

ब्रह्मचर्य ।

(५)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं । (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकका धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीको अनुसरते हैं ।(त्रयः त्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्-सहस्राः) छः हजार देव हैं । (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

आ॒चा॒र्य॑ उप॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिणं॑ कृणुते॒ गर्भ॑म॒न्तः ।
तं रात्री॑स्ति॒स्र उ॒दरे॑ बिभर्ति॒ तं जा॒तं द्रष्टु॑मभि॒संय॑न्ति दे॒वाः ॥ ३ ॥
इ॒यं स॒मित् पृ॑थि॒वी द्यौर्द्वि॒तीयो॒तान्तरि॑क्षं स॒मिधा॑ पृणाति ।
ब्र॒ह्म॒चा॒री स॒मिधा॒ मेख॑लया॒ श्रमे॑ण लो॒कांस्तप॑सा पिपर्ति ॥ ४ ॥
पूर्वो॑ जा॒तो ब्रह्म॑णो ब्रह्मचा॒री घ॒र्मं वसा॑न॒स्तप॒सोद॑तिष्ठत् ।
तस्मा॑ज्जा॒तं ब्राह्म॑णं ब्रह्म॒ ज्ये॒ष्ठं दे॒वाश्च॒ सर्वे॑ अ॒मृते॑न सा॒कम् ॥ ५ ॥
ब्र॒ह्म॒चा॒र्ये॑ति स॒मिधा॒ समि॑द्धः॒ कार्ष्णं॒ वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः ।
स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॒गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत् ॥ ६ ॥

अर्थ- ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अन्तः गर्भं) अपने अंदर करता है। उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रितक रखता है, जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयन्ति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं॥३॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पहिली (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है। इस (समिधा) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षको (पृणाति) पूर्णता करता है। समिधा, मेखला, श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा यह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है ॥ ४ ॥

[ब्रह्मणः पूर्वः] ज्ञानके पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है। [घर्मं वसानः] उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। उस ब्रह्मचारीसे [ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान [जातं] प्रसिद्ध होता है॥ तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं ॥५॥

(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ-श्मश्रुः) बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्र ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

भावार्थ- [१] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है, वह उसको अपने अंदर ही प्रविष्ट करता है। [२] मानो यह शिष्य उस गुरुके पेटमें तीन रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। [३] जब यह द्विज बन जाता है, तब उसका सन्मान सभी विद्वान् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी पूर्णता करता है। तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है ॥ ४ ॥

ज्ञानप्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्मजागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है और वारंवार उनमें चेतना बढाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥ (१४)

अर्थ- जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केंद्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म) ज्ञान, (अपः) कर्म (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

[इमे] ये (उर्वी गंभीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने [ततक्ष] बनाये हैं। ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है। इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोककी (भिक्षां आजभार) भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनको दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है। क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें सब भुवन (अर्पिताः) स्थापित हैं ॥ ९ ॥

(अन्यः अर्वाङ्) एक पास है और [अन्यः दिवः पृष्ठात् परः] दूसरा द्युलोकके पृष्ठभागसे परे है। ये दोनों [निधी] कोश (ब्राह्मणस्य गुहा) ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। [तौ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है। तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [तत् केवलं ब्रह्म] वह केवल ब्रह्मज्ञान [कृणुते] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥
अभिक्रन्दन्त्स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥
अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—(अर्वाक् अन्यः) इधर एक है और [इतः पृथिव्याः अन्यः] इस पृथिवीसे दूर दूसरा है। ये [अग्नी] दोनों अग्नि [इमे अन्तरा नभसी] इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें [समेतः] मिलते हैं। [तयोः दृढाः रश्मयः] उनकी बलवान् किरणें [अधि श्रयन्ते] फैलती हैं। ब्रह्मचारी तपसे [तान् आतिष्ठति] उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है ॥११॥

[अभिक्रन्दन् स्तनयन्] गर्जना करनेवाला [अरुणः शितिङ्गः] भूरे और काले रंगसे युक्त [बृहत् शेपः] बड़ा प्रभावशाली (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जानेवाला मेघ [भूमौ अनु जभार] भूमिका योग्य पोषण करता है। तथा [सानौ पृथिव्यां] पहाड़ और भूमिपर [रेतः सिञ्चति] जलकी वृष्टि करता है। [तेन] उससे [चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) चारों दिशायें जीवित रहती हैं॥ १२ ॥

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, [अप्सु] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है। उनके तेज पृथक् पृथक् [अभ्रे] मेघोंमें संचार करते हैं। (तासां) उनसे (वर्षं) वृष्टि (आपः) जल और (आज्यं) घी और पुरुषकी उत्पत्ति होती है॥ १३ ॥

आचार्य ही मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्विक भाव हैं, वे (जीमूताः) मेघरूप हैं, क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) यह स्वर्ग रहा है ॥ १४ ॥

(अमा) एकत्व, सहवास (केवल घृतं) केवल शुद्ध तेज करता है। आचार्य वरुण बनकर (प्रजा-पतौ) प्रजापालकके विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे (अधि प्रायच्छत्) देता है ॥ १५॥

भावार्थ— दो अग्नि हैं जो इस त्रिलोकीमें कार्य कर रहे हैं, उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥

मेघ ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की शांति करता है। ब्रह्मचारी उससे यह बोध लेवे ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारीका अग्निहोत्रके समय आगमें आहुति डालना जगत्को तृप्त करना है॥ १३ ॥

आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके सत्वकी उन्नति करता है ॥ १४ ॥

गुरुशिष्यके सहवाससे ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है। आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥१९॥
ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, [प्रजापतिः] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका प्रजापति [विराजति] विशेष शोभता है। जो [वशी] संयमी (वि-राट्) राजा होता है, वही इंद्र कहलाता है॥ १६॥

ब्रह्मचर्यरूप तपके साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकी ही इच्छा करता है॥ १७॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विन्दते) प्राप्त करती है। [अनड्वान्] बैल और (अश्वः) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है॥ १८॥

ब्रह्मचर्यरूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया। इंद्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंको (स्वः) तेज (आभरत्) देता है॥ १९॥

औषधियां, वनस्पतियां, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहोरात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) हो गये हैं॥ २०॥

(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्या ग्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः पशवः) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्याः पक्षिणः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं॥ २१॥

भावार्थ— सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये, सब राजाधिकारी— प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये। जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वेही इंद्र कहलायेंगे॥१६॥

राजा राजप्रबंधक सब लोगोंसे ब्रह्मचर्य पालन कराके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है॥ १७॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसलिये घास खाकर बने रह सकते हैं॥ १८॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इंद्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है॥ १९॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है॥ २०॥

सब पदार्थ ब्रह्मचर्यसे ही ब्रह्मचारी हैं॥ २१॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥
देवानामेतत् परिपूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ [१६]

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं । (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रहा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवोंका (एतत्) यह (परि—पूतं) शुद्ध देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है । उससे (ब्राह्मणं) ब्रह्मसंबंधी (ज्येष्ठं ब्रह्म) श्रेष्ठ ज्ञान हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर मनके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है । इसलिये उसमें सब देव (अधि समोताः) रहे हैं। वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान (आत्) और मेधा (जनयन्) प्रकट करता है ॥ इसलिये हे ब्रह्मचा-री ! (अस्मासु) हम सबमें चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [तानि] उनके विषयमें [कल्पत्] योजना करता है । [सलिलस्य पृष्ठे] जलके समीप तप करता है। इस ज्ञानसमुद्रमें [तप्यमानः] तप्त होनेवाला यह ब्रह्मचारी [स स्नातः] जब स्नातक हो जाता है तब [बभ्रुः पिंगलः] अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५॥
ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

—•—

ब्रह्मचर्य-सूक्त ।

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्तव्यकर्म व्यक्त कर रहा है। ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बडा होनेके लिये (चारी) पुरुषार्थ करता रहता है। " ब्रह्म " शब्दका अर्थ-वृद्धि, महत्त्व बडप्पन, ज्ञान, अमृत आदि है। " चारी" शब्दका भाव-आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं-' अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुरुषार्थ करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये परम पुरुषार्थ करना ।' यह मुख्य भाव " ब्रह्मचारी " शब्दमें है। उक्त पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शरीरमें वीर्यकी स्थिरता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है- इसलिये ब्रह्मचारीको वीर्यरक्षण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि " ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति । " अर्थात् " अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोकको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है।" पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है। यह अत्यंत स्पष्टही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी शक्ति बडी होनेके कारण हमाराही घात होगा। परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; तब उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तब हम सबका अभ्युदय हो सकता है। यही भाव इस मंत्रभागमें कहा है।

जब ब्रह्मचारी पृथ्वीका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबको आश्रय देती है; यह देखकर, वह निराश्रितोंको आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है। जलदेवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चसे नीच स्थानमें पहुंचती है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके घमंडमें रहना उचित नहीं है, इसलिये मैं नीचसे नीच अवस्थामें रहनेवाले पतित जनोंके उद्धारके लिये तथा उनके आत्माओंको शांत करनेके लिये अवश्य यत्न करूंगा। अग्निदेवताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंको प्रकाश देनेके लिये मुझे इस प्रकार जलना चाहिये और सीधा होना चाहिये। वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता संपादन करूंगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊंगा। चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभाका निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसी प्रकार अमृतवर्षी शांतिका स्रोत बन जाऊंगा। इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्न्यादि देव उसके लिये आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसको उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन किये हैं उसका यही तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनका धारण करनेका यत्न करता है। इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंकोही अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका जब ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ जाता है। हरएक मनुष्यकी उन्नतिका यही वैदिक मार्ग है। आजकल दोष देखनेकाही भाव बढ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरताही जाता है। इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक धर्मके मार्गमेंही आकर सब जगत्में शांतिस्थापनाद्वारा अपने अपने आत्माकी शांति बढानी चाहिये। शतपथब्राह्मणमें कहा है कि—

यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि। (शत० ब्रा० ६।२।२६) अर्थात् " जो देव करते आये हैं वही मैं करूंगा।" यही बात उक्त स्थानपर कही है। इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण

करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका यत्न करता है। इस तपस्यासे देव भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर उसके साथ अथवा यह कि उसीमें उनके शरीरमेंही निवास करने लगते हैं। इसका वर्णन आगेके मंत्रभागमें है —

देवताओंकी अनुकूलता।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण और गुणग्रहण करता है, उसमें अंशरूपसे निवास करनेवाले देवता उसके साथ अनुकूल बनकर रहते हैं। मंत्र कहता है कि-

"तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।" अर्थात् "उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं।" उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास निम्न प्रकारसे होता है, देखिये--

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्.

(ऐतरेय उ० २।४)

(१) 'अग्नि वक्तृत्वका इंद्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षुका रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया, (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें रहने लगीं, (५) औषधि वनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपानका रूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगीं।"

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चंद्र, मृत्यु, आप इन आठ देवताओंका निवास उक्त आठ स्थानोंमें हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि, इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहरके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विशेष स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है, तथा इसी आत्माकी प्रेरणासे उक्त सब देवतांश प्रविष्ट होकर कार्य करते हैं; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ३
२ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते १०
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १३
४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १८
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् २९
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ३०
७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ३१
८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ३२

(अथर्व. ११।८)

"(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हो गये। जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा, वह (अद्य) आजही (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। (२) जो पहले देवोंसे दस देव हुए थे, पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं? (३) सिंचन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामग्री को एकत्र करते हैं। (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (त्वष्टुः पिता) कारीगरोंका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) हड्डियोंकी समिधाएं बनाकर, रेतका घी बनाकर (अष्टौ आपः) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवताएं

हैं, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट् है, ब्रह्मही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ है। (७) सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इसके इतर आत्माको देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इसलिये इस पुरुषको (विद्वान्) जाननेवाला ज्ञानी (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं इस प्रकार इकट्ठे रहते हैं, कि जैसे गायें गोशालामें रहती हैं।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करते हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका थोडा थोडा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका "अशावतरण" है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशको जानता है, वह अपनी आत्माकी शक्ति जान लेता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥
(अथर्व. १०।७।१७)

मनविहीन हैं ! इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रने ही दिया है, कि 'तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति' अर्थात् 'उस ब्रह्मचारीमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं।' इस मंत्रके "स-मनसः देवाः" ये दो शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं। इनका अर्थ देखिये—

स- मिले हुए, अनुकूल, मनसः- मनसे युक्त,

देवाः— अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश।

"जो ब्रह्मचारी सूर्यपर्यंत अग्नि वायु आदि विशाल देवताओंका निरीक्षण और अनुकरण करके उपदेश लेता है, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उस ब्रह्मचारीके अंदर वे ही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारीके मनके साथ अपना मन मिलाकर उक्त देव निवास करते हैं।"

प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है। इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियशक्तियां उसके वशमें रहती हैं, इतनाही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न ही होता है। अर्थात् प्रत्येक इंद्रियस्थानीय उस देवताके अंशका भी मन भिन्न भिन्न होता है। आंख नाक, कान, मुख, हृदय, नाभी शिश्न, हाथ, पांव आदि प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका मन भिन्न है, परंतु सबके विभिन्न मनोंको अपने आधीन रखनेवाला "जीवात्माका मुख्य मन" होता है। ब्रह्मचर्यके नियमानुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है। इसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे व्यवहार करता है उस स्वच्छंद पुरुषके इंद्रियस्थानीय देवतागण भी स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वतंत्र होनेसे अंतमें इस मनुष्यकाही नाश होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि, वह नियमानुसार आचरण करके शरीरस्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहे।

प्रत्येक इंद्रियमें आकर यही कैसा विलक्षण कार्य करती है, यह विचारपूर्वक देखनेसे अपना आध्यात्मिक अनुभव हरएकको प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवसे इंद्रियशमन और इंद्रियदमन साध्य होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंशसे बना है। इन देवताओंमें भूस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं। सब देवताओंका निवास शरीरमें है, ऐसा कहनेसे मानो उक्त त्रिलोकीका ही निवास इस शरीरमें है, यह बात स्पष्ट हो ही गई। क्योंकि भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहते हैं। अब उक्त तीनों लोकोंका एक एक छोटासा अंश शरीरमें आता है, तो मानो त्रैलोक्यका ही थोडा अंश लेकर यह मानवदेह बनाया गया है। इस विषयका उदाहरण निम्न स्थानमें दिये कोष्टकसे हो सकता है—

इस प्रकार बाहरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी त्रैलोक्यका आधार है। देखिये — "स दाधार पृथिवीं दिवं च" अर्थात् यह पूर्वोक्त संयमी ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकका भी आधार देता है। यह बात उक्त कोष्टकसे अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग अनुभवकी बात ही बता रहा है। यहां किसी कल्पनाकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे मंत्रोक्त बातको अपने अंदर ही देख सकता है। केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये। जो रीति यहां बताई है, उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही मंत्रोक्त बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

त्रिलोकीका कोष्टक।

(बाहर) त्रिलोकी (बाहरकी लोक)

लोक	देवता		मनुष्यके इंद्रिय
स्वर्ग लोक [द्युलोक स्वः]	द्यौः सूर्य दिशा अग्नि	—सिर—	सिर आंख कान मुख, वागिन्द्रिय
भुवर्लोक [अंतरिक्षलोक] भुवः	इंद्र चंद्र वायु और मरुत	छाती, पेट	आत्मा मन मुख्य और गौण प्राण
भूलोक [पृथिवी लोक भूः]	मृत्यु आप,जल भूमि	नाभि, पिंडली, पांव	अपान रेत, वीर्य पांव

शरीरस्थ त्रिलोकी (भीतर)

*

त्रिशताः —तीन सौ ३००
षट् सहस्राः —छः हजार ६०००

पहिले मंत्रके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें बताया ही है कि, नाभिसे निचला भाग पृथिवी स्थानीय, नाभिसे गलेतक का भाग अंतरिक्षस्थानीय और सिर द्युस्थानीय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें बाहरके तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदमें अन्यत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता हैं, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

सिरमें मस्तिष्क है उसकी देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसकी देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तथा जठरमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य हैं। प्रत्येक देवताके आधीन दस गौण देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मिलकर ३३ देवता होती हैं। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं। इस भावको लेकर निम्नमंत्र देखिये—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
(अथर्व० १०।७)

"(१) जिसके अंगमें तेंतीस देव रहे हैं। (२) जिसके अंगोंके गात्रोंमें तेंतीस देव विशेष सेवा करते हैं, उन तेंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं। (३) तेंतीस देव जिसका कोश सर्वदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है?"

यह वर्णन परमात्मामें पूर्णरूपसे और जीवात्मामें अंशरूपसे लगता है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपसे परमात्माके साथ जगतमें हैं और अंशरूपसे जीवात्माके साथ शरीरमें हैं। परमात्माका व्यापकत्व और महत्त्व तथा जीवात्माका अल्पव्यापकत्व और अणुत्व छोड दिया जाय, तो तत्त्वरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकारके वर्णन सहस्रों स्थानोंमें हैं।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है। ये तेंतीस देव मेरुपर्वतमें रहते हैं। "मेरुपर्वत" पृष्ठवंश है, जिसको रीढ मेरुदंड आदि कहा जाता है। इस पृष्ठवंशमें छोटी छोटी हड्डियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं और बीचके संधि-पर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। योगमें जिस "ग्रंथिभेदन" का माहात्म्य वर्णन किया है, वे ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधनद्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इस प्रत्येक स्थानका अत्यंत महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत अथवा मेरुदंडके सबसे ऊपरके भागमें, मस्तकके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थितिको "ब्रह्मलोककी प्राप्ति" कहते हैं।

ये तेंतीस देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्मचारीके आधीन होती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रममें वीर्यरक्षण-पूर्वक योगसाधनद्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्य सूक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तृप्त और स्वाधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्रयत्नसे भरना और पूर्ण विकसित करना है।

उक्त तेंतीस देवोंसे भिन्न (त्रिशताः) तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये "शिवजीके त्रि-शतनाम" होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पृष्ठवंशके साथ साथ छः चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, (२) नाभिस्थानके पास स्वाधिष्ठानचक्र और (३) मणिपूरकचक्र (४) हृदयस्थानके पास अनाहतचक्र, (५) कंठस्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों भौंहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तियोंके अंश केंद्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानोंमें छः हजार शक्तियां बंट गयी हैं। यहां "तीन सौ" और छः हजार" यह संख्या निश्चितार्थ है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी योगी ही इस विषयमें कह सकता है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३; ३३; ३३० इसी प्रकार बढाई है। सहस्रों, लाखों और करोडों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मज्जातंतुओंका मुख्य केंद्र है, उसके आधीन मस्तक, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीस बनते और उसमें सौ सौ विभाग मिलकर तीनसौ, इस प्रकार

स्पष्ट कहा है। इसलिये प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य-सूक्तके साथ कठोपनिषद्का संबंध है और कठोपनिषद्की कथा का स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्यसूक्तके स्पष्टीकरणसे होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

मंत्रका तीसरा कथन है कि, " जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके उदरसे बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब विद्वान् इकट्ठे होते हैं।" पूर्वोक्त तीन रात्रि समाप्त होने-तक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है किंवा गुरुके आधीन रहता है। जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतासे जगत्में संचार करने योग्य होता है। मंत्रमें अंतिम चरणमें " जातं " पद है। इसका अर्थ " जिसने जन्म लिया है " ऐसा होता है। गुरु पिता है और विद्या माता है। इस विद्यारूपी माताने इस समय जन्म होता है। यह दूसरा जन्म है, इस विषयमें कहा है—

स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥

(आप० ध० सू० १।१।१५—१७)

" वह आचार्य विद्यासे इस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है। यह श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।" इस प्रकार आचार्यद्वारा जो द्वितीय जन्म होता है, वही श्रेष्ठ जन्म है। इस जन्मको प्राप्त करनेसे ही द्विज बनते हैं। द्विज बननेसे सर्वत्र सन्मान होना योग्य ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होना योग्य ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक जब अपने अपने घर वापस आ जाते हैं, तब वहांके लोग उनका बहुत सन्मान करते हैं।

इस चतुर्थ मंत्रमें पृथ्वीकी प्रथम समिधासे " भोग" और द्युलोककी द्वितीय समिधासे " ज्ञान "का तात्पर्य यहां अभीष्ट है। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओंके द्वारा अंतरिक्षस्थानीय हृदयकी संतुष्टि और पूर्णता करना अंतिम तीसरा उद्देश है। इस मंत्रके " पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः " ये तीनों शब्द बाह्य लोकोंके वाचक नहीं है, क्योंकि द्युलोकका संबंध अशक्य ही है। इस कारण अपने अंदरके स्थानोंका ही भाव यहां लेना उचित है। सभी शिक्षाप्रणाली हृदयकी शुद्धताके लिए ही होनी चाहिये। केवल भोगोंकी समृद्धि अथवा केवल ज्ञानसमृद्धि होनेसे भी कार्य नहीं होगा। केवल उदरपोषण अथवा केवल ग्रंथाव-लोकन होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता, परंतु जब हृदयकी शुद्धि, पवित्रता और निर्मलता होगी, तभी जीवनोद्देश्यकी पूर्ति होती है। इस उद्देश्यकी स्पष्टता करनेके लिये यह मंत्र है। भूमिके भोग और द्युलोकका ज्ञान इन दोनोंका उपयोग अंतःकरणकी शुद्धि करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्में शांति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञानविज्ञा-नका प्रचार करते हैं अथवा भोग बढानेमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु वेद यहां सबको सावधान कर रहा है और स्पष्टतासे बता रहा है कि, इन " भोग और ज्ञान " का समर्पण जब हृदयकी पूर्णताके लिये होगा, तभी मानवजातिकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रमननसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

श्रमका तत्त्वज्ञान।

अब अगले मंत्रमननमें कहा है कि, " ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तपसे सब लोगोंका सहारा देता है" समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है "मेखला" कटिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। सबके हितके कार्य तथा सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदयनिःश्रेय-सके साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा "कटिबद्ध" रहना चाहिये। " श्रम " का तात्पर्य परिश्रम है। सब प्रकारके पुरु-षार्थ करना परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥ (ऋ० ४।३३।११)

' श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते' तथा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि—

नाऽश्रान्ताय श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जन
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥ १॥
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति॥ २॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः
चरैवेति चरैवेति॥ ३॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

"(१) श्रम किये विना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। सुस्त मनुष्य ही पापी है। पुरुषार्थीका मित्र ईश्वर है। इसलिये प्रयत्न करो पुरुषार्थ करो॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होतीं हैं, फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न करनेवालेके पापभाव मार्गमें ही मर जाते हैं। इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो॥ (३) जो बैठता है, उसका दैव बैठता है; जो खडा होता है उसका दैव खडा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है, तथा जो चलता है उसका दैव भी पास आ जाता है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो॥ (४) सो जाना कलियुग है, आलस्य छोडना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है। इसलिये पुरुषार्थ करो॥ (५) मधुमक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठा फल प्राप्त करते हैं। सूर्यकी जो शोभा है, वह उसके निरलस भ्रमणके कारण ही है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो॥"

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है। तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः॥

(ऋ० १।७२।२)

"(श्रम-युवः) परिश्रम करनेवाले, (पद-व्यः) मार्गपर चलनेवाले, (धियं-धाः) धारणावती बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोग ही (अग्नेः परमे पदे) आत्मशक्तिके सुंदर परम स्थानको प्राप्त करते हैं।" तथा—

श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति। (ऋ० ८।६७।६)

"परिश्रम करके यज्ञ करनेवालेके लिये ही [ईश्वरका] संरक्षण प्राप्त होता है।" इस प्रकार परिश्रमका महत्व वेद वर्णन करता है। परिश्रम करनेवाला पुरुषार्थी, प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है। देखिये, तपका लक्षण कितना व्यापक है—

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥ (तै० आ० १०।८)

"ऋत, सत्य, अध्ययन, शांति, इंद्रियदमन, मनोविकारोंका शमन, दान, यज्ञ, (भूः) अस्तित्व (भुवः) ज्ञान (स्वः) आनंद आदि सब तप ही हैं।" विचार करनेसे पता लग जाता है कि जन्मसे लेकर मरनेतक हरएक श्रेष्ठ प्रयत्न तप ही है। तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुंचते हैं और तपसे ही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है इसी लिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, "ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोगोंको पूर्ण उन्नत करता है।" यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा और तप न आचरेगा, तो न उसकी उन्नति ही हो सकती है और न वह दूसरोंका भला ही कर सकता है। (१) आत्मशक्तिरूपी समिधा अर्पण करता है, (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करता है, (३) आनंदसे परिश्रम करके प्रारंभ किया हुआ शुभ कर्म समाप्त करता है, तथा (४) सत्यनिष्ठापूर्वक सब योग्य श्रेष्ठ कार्य करते हुए जो कष्ट होंगे, उनको शांतिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होनेतक प्रारंभ किये हुए शुभ कार्यको बीचमें ही न छोडना, ये बोध इस मंत्रद्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता।

इस मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन्भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥

(अथर्व० ६।१३३।३)

"(मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इसलिये (भूतात्) मनुष्योंमें यमके लिये और एक पुरुषकी (याचन्) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष आवेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे, तपसे, परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांधता हूं।"

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूं, परंतु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं अर्थात् पहिले जीवनसे दूर हो चुका हूं। पहिले जन्मके पाशविकता मृत्यु होनेके पूर्व दूसरा जन्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जो " द्वि-जन्मा " होते हैं, उनको " द्विज"

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचार्य ही मृत्युका कार्य करता है। मातापितासे प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें योग्य परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी हेतु गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है, ब्रह्मचर्यसूक्तमें भी "आचार्यो मृत्यु" ही कहा है। तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि 'मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं। इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलमें विद्यामृत पान करता हुआ आनंदसे कह रहा है कि "मैं जनताके और भी पुरुष इसी प्रकार मृत्युको (आचार्यको) समर्पित करनेकी इच्छा करता हूं।" अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह भावना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आकर्षित करे। इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां आवें। ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी "ज्ञान, तप, परिश्रम," आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये। एक ब्रह्मचारीका दूसरे सहपाठीसे यही संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानता है, वह दूसरोंको समझावे। दूसरोंके हितार्थ प्रयत्न करे और दूसरेका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

जब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझें, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही हो चुका है। वह अब केवल माता पिताओंका ही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उसका पिता है!! इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है!!! जो आनंदसे मृत्युको ही स्वीकारनेके लिये कटिबद्ध होता है, जो अपनी अस्थियोंकी समिधा बनानेके लिये सिद्ध हो चुका है, जो अपने वीर्य, बल, पराक्रमके अर्पणसे राष्ट्रीय महामेधमें आहुतियां देनेके लिये उत्सुक है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसको अन्य क्लेश कष्ट नहीं सकते, परिश्रमोंके भयसे वह स्वकार्यसे पराङ्मुख नहीं हो सकता। यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम।

तपसे उन्नति।

पंचम मंत्रमें तपका महत्त्व कहा है। ब्रह्मचर्यमें "घर्म और तप"का जीवन व्यतीत करना चाहिये। गर्मी–उष्णताका नाम घर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो कष्ट होते हैं, उनको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। इन दोनोंकी सहायतासे ही हरएककी उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीरका आयुष्य बढ़ता है, हानिलाभका ध्यान छोड़कर कर्तव्यतत्पर होनेसे कार्यसिद्धितक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल बढनाही उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात "घर्मं वसानः तपसा उदतिष्ठत्।" अर्थात् "उष्णता धारण करके कष्ट सहन करनेसे उदय होता है।" इस मंत्रभागमें स्पष्टतासे कही है।

११ (अ. सु. भा. ब्र. ११)

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार होता है यह भाव "तस्मात् ज्येष्ठं ब्राह्मणं" इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक, वैतनिक हों अथवा अवैतनिक हों, परंतु वे उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्यकी पूर्णता करनेवाले चाहिये। उक्त प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिन्होंने प्राप्त की है उन महात्माओंसे ही ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुष्ठानी ब्रह्मचारी "देवाः अमृतेन साकं" सब देवोंको अमरपनके साथ मिला देता है। यहां 'देव' शब्दसे व्यवहार करनेवाले सज्जन लिया गया है। "भूदेव" ब्राह्मण हैं, वीरोंका नाम "क्षात्रदेव" है, वैश्योंको "धनदेव" कहते हैं, तथा शूद्रोंको "कर्मदेव" कहते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निषाद आदि पंचम "जनदेव" भी उक्त ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना, इस प्रकार सुयोग्य ब्रह्मज्ञानी उपदेशकका ही साध्य हो सकता है, इसलिये वेदमें अत्यन्त कहा है।

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् । तां पुरं प्रणयामि वः । तामा विशत, तां प्रविशत । सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥
(अथ० १९।१९।८)

कर देता है अथवा ज्ञानरूपसे देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये। ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्योंके मनमें है, यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं।

मंत्रके अंतिम भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके " ब्रह्मचारीमें उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं।" प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार होही चुका है। इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियां और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है। मन आदि आन्तरिक इंद्रियोंका दमन और सब बाह्य इंद्रियोंका शमन होनेसे वह दान्त और शान्त होता है। यही संयम है। जिसको पूर्ण रीतिसे " सं-यम " सिद्ध होता है, उसीका नाम " यम " है और उत्तम यमका नामही "सु-यम" है। इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्ण " यम" अथवा "सु-यम" बनता है। आचार्यका ही नाम "यम" होता है।

ब्रह्मचारीकी भिक्षा।

नवम मंत्रका कथन यह है कि जब ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उससे दोनों लोकोंकी भिक्षा लेता है। भूलोककी भिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और द्युलोककी भिक्षासे उसको आत्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथिवी और द्युलोकका संबंध शारीरिक और आत्मिक शक्तियोंके साथ है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कहां रहते हैं, यह भी पहिले बताया ही है। आचार्यके पाससे यह ज्ञानमय भिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत संपूर्ण विश्वकी भिक्षा अर्पण करता है। पृथिवी और द्युलोकके अंदर संपूर्ण विश्व आगया है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंके संपूर्ण साधन इस भिक्षासे उस ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ।

जब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोंसे संपन्न हो जाता है, तब यह ब्रह्मचारी उक्त दोनोंसे कोशोंकी दो समिधायें बनकर हवन करता है। इस ज्ञानयज्ञमें उस ब्रह्मचारीको अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है। यही इसका सर्वस्वत्याग है। जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर, इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी भलाईके लिये करनेका नामही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण व्यक्तिकी अंतिम सफलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिये अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, यही पूजा और उपासना है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका व्यय संपूर्ण समाजके उदयके लिये करनाही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

दो कोश।

दसवें मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोकका कोश है और दूसरा द्युलोकका कोश है। दोनों कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रहते हैं। ब्राह्मण अर्थात् गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी भिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान्‌की बुद्धिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक तथा सब अन्य विश्व रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्यको उपदेशद्वारा उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और द्युलोक वस्तुतः ज्ञानीकी बुद्धिमें हैं, बुद्धिमें ही संपूर्ण जगत्‌का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको उक्त विश्वका दान करता है।

कोशरक्षक ब्रह्मचारी।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कोश शिष्यकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यंतका संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजानोंका किस रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें ही कहा है कि, "तपसे" संरक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढाता है, वही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता है। तपके बिना, कष्ट सहन करनेके बिना उनका रक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे कही है।

दो अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें अग्नियोंका वर्णन है। पृथिवीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरी अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अन्तरिक्षमें मिल जाती हैं। इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिष्ठाता होता है। पूर्व दोनों मन्त्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होगा कि-(१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) गुहामें रहनेवाले दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंकी दो अग्नि ये सब एकही मुख्य बातको बता रहे हैं।

शरीरमें मूलस्थानीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है। जाठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी।

बारहवें मंत्रमें मेघोंका ब्रह्मचर्य कहा है। वृष्टि करनेवाले मेघ बडी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं। दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहीन होते हैं परंतु बडी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्टही होते हैं। इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जलहीन होते हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादके समान अपनी बडी विशाल आवाजसे व्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें "नवजीवन" फैलाता है। परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो व्याख्यानोंका घटाटोप करते हैं, परंतु उनके खोखले व्याख्यानोंसे किसीका भी लाभ नहीं होता। इसका कारण पहलेमें वीर्यके साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते।

बडे ब्रह्मचारीका कार्य।

तेरहवें मंत्रमें सबसे बडा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधायें रख देता है। उस समिधसे उक्त देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके बलसे बहता है, जल उसीकी शांतिसे इतरोंको शांति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिरूप समिधा इनमें रखता है, उस कारण अग्न्यादि देव अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है। इससे वृष्टि और जल होता है. जलसे वृक्षवनस्पतियां, उससे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष किंवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बडे ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है और यमनियमादिकोंका पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मा में जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु (५) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक्, (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) वीर्य आदि हैं। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है और इनको प्रज्वलित करता है। वक्तृत्वशक्ति, दृष्टि, विचारशक्ति जीवनकी कला, और वीर्य तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी उक्त अग्नियोंमें डालता है और उनको प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है। जब उक्त शक्तियां बढ जाती हैं, तब मनकी ज्वालायें अंतरिक्षमें अर्थात अंतःकरणमें किंवा हृदयमें मिल जाती हैं। वाणी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें हो जाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषकी प्राप्ति होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र शांति फैलती है।

छोटे और बडे ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंको देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुणधर्मको इस प्रकार देखने योग्य है।

आचार्यका स्वरूप।

चौदहवें मंत्रमें आचार्यको ही मृत्यु कहा है। क्योंकि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है और शिष्य, 'द्वि-ज' बनता है। पहिला जन्म मातापितासे मिलता है। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारसे शुरू होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है; विद्या और आचार्यके गर्भमें नियत समय अर्थात् १२, १४, १६, १८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहर आता है वह उसका दूसरा जन्म है। पहले जन्मका नाश मृत्यु है। इस वेदमें कि यह पहिले वीर्य शरीरको छुडाकर दूसरा कार्यक्षम नवीन शरीर

देता है। आचार्य भी यही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारकको कहते हैं। पापसे निवारण करता है, और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य भी वरुण है। वरुण शब्द वरत्व अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ भी यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है चंद्रके समान शांति और आल्हाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। "सोम" शब्दका दूसरा अर्थ (स+उमा) ज्ञानी ऐसा भी है। "उमा" शब्द संस्कृत विद्या अथवा ज्ञान किंवा मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। वहां उमा शब्दका 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'मूलशक्ति' ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या किंवा शक्ति होती है, उसका नाम "उमा" है, इस प्रकारकी संरक्षक विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द "दोषधी" शब्दसे निरुक्तकार (निरु० दै० ३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम औषधिका है। वही कार्य आचार्य करता है शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्थ-ता) स्वावलंबन अर्थात् अपनी शक्तिसे खडा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूध है। "पयः" शब्दका अर्थ "दूध, जल, वीर्य, अन्न, बल, उत्साह" इतना है। इन सब अर्थोंका भाव "पुष्टिका साधन" इतना ही है।

पंद्रहवें मंत्रमें गुरुशिष्यके सहवासका महत्त्व कहा है। जो लाभ विशेषतः शिष्यको होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहवास, अर्थात् साथ रहनेका भाव बता रहा है। सूर्यचंद्रके सहवासके अहोरात्रका नाम "अमा" अथवा "अमावास्या" है। यहां सूर्य स्वयंप्रकाशक होनेसे गुरु किंवा आचार्य है और चंद्र परप्रकाशक किंवा सूर्यके तेजसेही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है। यह जो सूर्यचंद्रका सहवास "अमा-वास्या" के दिन होता है, वही सहवास गुरुशिष्यके विषयमें यहां "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्य-रूपी सूर्यके विद्यातेजसे शिष्यरूपी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यचंद्र विद्याध्ययनकी समाप्तितक एकत्रही रहते हैं। इतनाही नहीं परंतु यहां का "अमा" शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययनकी समाप्तितक अवश्य ही होना चाहिये। नियत समयपर पढानेके लिये गुरुका आना और पढाईके पश्चात् चले जाना, अध्यापनका यह ढंग ठीक नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिष्यको अत्यंत लाभ पहुंचता है। इसी उद्देशसे गुरुकुलवासकी प्रणाली बनाई है। गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समय में वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरुशिष्यके नित्य सहवाससे अत्यंत लाभ हैं और इस समय उन लाभोंको सबही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें "घृत" शब्द है। "घृ क्षरण-दीप्त्योः" इस धातुसे यह शब्द बना है। (१) प्रवाह चलना और (२) तेज फैलना ये दो अर्थ "घृ" धातुके हैं। घृत शब्दमें भी ये दोनों भाव हैं। गुरु-शिष्यका सहवास घृत करता है, यह मंत्रका कथन है अर्थात् गुरुशिष्यके सहवाससे विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञानतेज फैलता है। इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरु-शिष्यसंबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है। और यही ज्ञान मनुष्योंका तेज बढा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुरु अपने शिष्यसे किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा मांगता है ? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इस मंत्रमें "प्रजापतौ" यह है। यह गुरुदक्षिणा "प्रजाके पालन करनेके विषयमें" होती है। प्रजाके पालनके विषयमें अथवा जनताके हितके संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, अथवा आचार्य ऐसी दक्षिणा मांगता है कि जिससे सब जनताके पालनसंबंधी कुछ साधन बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। इस प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको बता रहा है कि संपूर्ण प्रजाजनोंके पालनके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, और राष्ट्रीय शिक्षाका यही आदर्श है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनात्मक कर्तव्यका अपना हिस्सा करके अपने आपको उत्तम नागरिक सिद्ध करे।

स्वराज्यमें संपूर्ण नागरिक जन प्रजापालनात्मक कार्य करनेवाली " प्रजा-पतिसंस्था " के अंगभूत ही होते हैं, इसलिये प्रत्येक अंगभूत नागरिकको संपूर्ण अपनी राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अपने कर्तव्यपालनकी पराकाष्ठा करना अत्यंत आवश्यकही है।

सोलहवें मंत्रमें कहा है कि "आचार्यः ब्रह्मचारी" अर्थात् "राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये।" ब्रह्मचारीका अर्थ यहां विवाह न किये हुए सज्जन, ऐसा नहीं समझना चाहिये। विवाह करनेके पश्चात् भी ऋतुगामी होनेसे तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव है। छोटे मोटे सबही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि नागरिक कार्य करनेमें लगे होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहियें। कामी, भोगी, लालची तथा स्वार्थी न होने चाहिये। जब ब्रह्मचर्यका महत्त्व सब अध्यापकोंको ज्ञात होगा, तभी वे अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार जो बात अध्यापकों द्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें स्थिर की जाती है, वह राष्ट्रमें दृढमूल हो जाती है।

आदर्श राज्य शासन।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहिये। राजा, महाराजा, सम्राट्, प्रधान, मंत्री, सेनानायक, सैनिक, प्रामाणिक भी तथा सब अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही होने चाहिये। यहां ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है, परंतु आगे गृहस्थी बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब राज्याधिकारी होने चाहिये। जहां ऐसे अधिकारी ब्रह्मचारी न होंगे वहांका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजापालनका कार्य जो जो अधिकारी करता है, उसे उचित है कि वह ब्रह्मचर्यके पालनके साथ संयमी बनकर अपना कार्य करे। राज्यके प्रधान अधिकारियोंको भी यहां सूचना मिलती है कि ओहदेदार नियत करनेके समय वे उसकी अन्य योग्यता देखनेके साथ यह भी बात अवश्य देखें कि वे ब्रह्मचारी और धार्मिक हैं या नहीं।

जिस राज्यमें ज्ञानप्रचार करनेवाले विद्याधिकारी और संरक्षणका कार्य करनेवाले क्षात्राधिकारी संयमी ब्रह्मचारी होंगे वहां की राज्यव्यवस्था क्या कहना है! यही " आदर्श राज्य-व्यवस्था " वेदको चाहिये है। इस समय जो राज्य इस भूमंडलपर चलाये जा रहे हैं, वे भोगी लोग चला रहे हैं। भोगी लोग ही आसुरी भावनावाले हुआ करते हैं। भोगी असुरोंसे प्रजाको कष्टही कष्ट पहुंचते हैं। इसलिये मंत्र ७ में कहा है कि, " ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर असुरोंको दूर किया।" भोगी असुरोंको दूर करके त्यागी संयमी जितेंद्रिय ब्रह्मचारियोंको ही अधिकारपर लाना ब्रह्मचारीका राजकीय हलचलका कार्य होता है।

ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण।

राजा, राजपुरुष आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक आदि ब्राह्मण, स्वयं ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहियें, इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है। अब इस १७ वें मंत्रमें कहा है कि राज्यव्यवस्था तथा पाठशाला, गुरुकुल आदिके प्रबंधसे राष्ट्रके ब्रह्मचर्यका रक्षण होवे।

राजा अपने राज्यमें ऐसा शासनका प्रबंध रखे कि सब अधिकारी ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले हों और वे अपने अधिकार क्षेत्रमें रहनेवाली जनतासे ब्रह्मचर्यका पालन करावें। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी यदि यत्न करेगा तो संपूर्ण राज्य ब्रह्मचर्यपालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहां संयमसे है। राज्यमें बालविवाह न हो, विवाह योग्य समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और व्यभिचार न हो, संयम और त्यागवृत्तिसे व्यवहार किया जावे इस प्रकार सर्वसाधारण ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्य राज्य-शासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके राजा राष्ट्रका विशेष रीतिसे संरक्षण कर सकता है।

सर्वसाधारण जनता आलसी होनेके कारण सुनियमोंका पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधसेही सुनियमोंका पालन होता है, तब वे लोग भी उन नियमोंके पालन करनेका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। [illegible] इसलिये अवनति की अवस्थाके अनुसार नियमोंसे रक्षित न हो सकता है। परंतु यहां ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, इंद्रियबंधन, [illegible], प्राणायाम, उपासना आदिका संबंध है। राज्यप्रबंधसे ही इस कामको करें और राजा सबसे इसका पालन कराके जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

कन्याओंका ब्रह्मचर्य।

पूर्व मंत्रमें सूचित हो गया है कि राजा प्रबंधद्वारा सब जनतासे ही ब्रह्मचर्यका पालन कराके प्रमाद विशेष प्रबंध करना है।

सब जनतामें जैसे पुरुषोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुरुषोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुरुषोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध हो गई है। इस अठारहवें मंत्रमें 'कन्या' शब्दसे स्त्रीजातिके ब्रह्मचर्यकी सूचना हो गई है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रबंधद्वारा ही होना चाहिये।

पशुओंका ब्रह्मचर्य ।

घोडे बैल आदि पशु सचमुच ब्रह्मचारी ही रहते हैं। अति कामभाव उनमें नहीं होता। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें चंचलता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें स्त्रीसंबंध न्यूनही होता है, इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है।

अपमृत्युको हटानेका उपाय ।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है। इसी रीतिसे देव अमर बने हैं। जो देवोंका मार्ग हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी प्राप्त कर सकते हैं। देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। जो इसप्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सब अधिक तेजस्वी हो सकता है। ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है। ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय पुरुषका मुख कमलके समान तेजस्वी, उत्साही और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

मेघ भी ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह "ऊर्ध्व-रेताः" है। "ऊर्ध्व" अर्थात् ऊपर धारण किया है, "रेतः" अर्थात् उदक जिसने, ऐसा मेघ है, इसलिये वह "ऊर्ध्व-रेता" है और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है। वहां कहा है कि यह "ब्रह्मचारी मेघगर्जना करता हुआ पहाडोंपर और भूमिपर (रेतः) उदकका सिंचन करता है, उससे सब दिशायें जीवित रहती हैं।" ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जो ऊर्ध्वरेता होगा उसमें भी पालन करनेकी शक्ति आ सकती है। सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकरूपी रेतको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे वीर्यको अपने ऊपर खींच सकता है। इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है।

पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य ।

पहिले बैल और घोडेके विषयमें मंत्र १८ में कहा ही है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं। बंदर आदिमें वीर्यके नाश करनेका अभ्यास दिखाई देता है, परंतु साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं। ऋतुकालसे भिन्न समयमें न तो वे स्त्री के पास आते हैं और न स्त्री उनको अपने पास आने देती है। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही तीव्र है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकालको छोडकर अन्य समयमें स्त्रीदर्शनेच्छा भी नहीं होती। कई पशुपक्षी इस नियममें अपवाद भी हैं, परंतु वह अपवाद पूर्वोक्त नियम ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषधिवनस्पतियां आदि भी ऋतुकालमें ही पुष्पवती होनेके कारण ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर तो ऋतुओंमें ही गमन करता है, इसलिये वह भी ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारीका ज्ञान सबका संरक्षण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है। क्यों कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होता है, यह बाईसवें मंत्रमें कहा है।

देवोंका तेज ।

तेईसवें मंत्रमें देवोंके तेजका वर्णन है। जो उत्साह और स्फुरण देता है, जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान् देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीरमें ज्ञान-इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव हैं कि, जो अब शरीरमें रहकर उसमें भी विलक्षण स्फूर्तिका कार्य कर रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यचंद्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चेतना दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है तथा अमरपन भी देती है।

उपदेशका अधिकारी ।

चोवीस और पचीसवें मंत्र में ब्रह्मचारीके विशेष ज्ञानका उल्लेख है। ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये उसका अद्भुत तेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अंदर सब देवताएं ओतप्रोत होकर रहती हैं। उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती। अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, अपान, व्यान आदि सब प्राणोंको अपने आधीन करता है। प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है, क्यों कि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं। यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदयकी दिव्य शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियमबद्ध होनेसे मेधाबुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बढने लगता है। अब उसकी योग्यता ऐसी है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशकके वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है। क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है।

इस कारण लोग चाहते हैं कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो। जहां उक्त ब्रह्मचारी पहुंचता है वहांसे सज्जन उससे कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी! हमें उपदेश दो! चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ! कोई कहते हैं कि अन्नकी न्यूनता बडा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विपुल अन्न कैसे प्राप्त होगा? कोई महाजन पूछते हैं कि पेट ठीक करनेका उपाय क्या है! हाजमा ठीक नहीं है, इसका कोई उपाय कहो। वे पूछते हैं कि हमारा वीर्य स्थिर नहीं रहता और खून भी खराब हो गया है; इसके लिये क्या उपाय करने चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथायोग्य-उत्तर ब्रह्मचारी देता है, योग्यता और युक्तिपूर्वक सबकी शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर चलाता है। इतनी योजना होनेपर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्म-शक्तिका विकास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथिवीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है। यह ब्रह्मचर्यका तेज है, इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये।

पापसे बचानेकी प्रार्थना।

(६)

(ऋषिः—शंतातिः । देवता—चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा । विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ॥ ६ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः । शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥
भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः । इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, ओषधि, (वीरुधः) लता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः अंहसः) हम सबको पापसे (मुञ्चन्तु) बचावें ॥१॥

राजा, वरुण, मित्र (अथो) और भग, अंश, विवस्वान्० ॥ २ ॥ सविता देव, धाता, पूषा, (अग्रियं त्वष्टारं) मुख्य त्वष्टा० ॥ ३ ॥ गंधर्व और अप्सरागण, अश्विनी देव, ब्रह्मणस्पति, (यः अर्यमा नाम देवः) और जो अर्यमा नामक देव है० ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र ये (उभौ) दोनों, (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्य० ॥ ५ ॥ (वातः) वायु पर्जन्य, अन्तरिक्ष, (अथो) और दिशा, (आशाः) उपदिशाकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएं (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शापसे मुक्त करें, (यं चन्द्रमा इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है, वह सोमदेव (मा मुञ्चतु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिवाः दिव्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्या मृगाः) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और शर्व (यः पशुपतिः रुद्रं) जो पशुपालक रुद्र है, (या एषां इषूः) जो इनके बाण (सं विद्मः) हमें विदित हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्। समुद्रा नद्यो॑ वेशन्तास्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः॥१०॥
सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्। पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः॥११॥
ये देवा दिविषदो॑ अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः। अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३ ॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा । यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥
पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन् । मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥१६॥
ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥
एतं देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत ।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥
विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो॑ मुञ्चन्त्वंहसः॥१९॥

अर्थ- (दिवं) द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियां, (वेशन्ताः) जलाशय, ॥१०॥ सप्तर्षिगण, (आपः देवी) जल, प्रजापति, (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) पितर और उनका अधिपति यम० ॥ ११ ॥

(ये दिविषदः देवा) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं, (च ये अन्तरिक्षसद०) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्रा०) जो समर्थ देव (पृथिवीं श्रिताः) पृथिवीका आश्रय किये हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आदित्य, रुद्र, वसु (दिवि अ-थर्वाणः देवाः) द्युलोकमें जो निश्चल देव हैं, तथा (मनीषिणः अंगिरः) मननशील अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, [ऋचः] ऋग्वेद, साम, [भेषजा] वैद्यके साथ [यजूंषि] यजुर्वेद, [होत्राः] होमहवन कर्म० ॥ १४ ॥

[वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि] जिनमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य, दर्भ [भङ्ग] भांग [यवः] जौ, और [सहः] बलवाली घास को [ब्रूम] हम कहते हैं कि [ते] वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

[अरायान् रक्षांसि] अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों [एकशतं मृत्यून्] एक सौ मृत्युओंको० ॥ १६ ॥

ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, [आर्तवान् हायनान्] ऋतुओंसे बननेवाले अयनों [समाः संवत्सरान् मासान्] सम वर्ष, संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो! (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ, (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्तात् उत्तरात् समेत्य) समस्त उत्तर दिशामें इकट्ठे होकर (ते न०) हम सबको पापसे बचाओ ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्यको बढानेवाले (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (नः०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः। सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥२०॥
भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी। भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२१॥
या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः। संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥२२॥
यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्। तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥२३॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(यः वशी) जो सबको वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतिको तथा (भूतं) भूतको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं, (ये द्वादश ऋतवः देवाः) जो बारह ऋतु देव हैं, [ये संवत्सरस्य दंष्ट्राः] जो वर्षके दाढके समान हैं [ते नः सदा शिवाः सन्तु] वे हम सबको सदा शुभ हों॥ २२ ॥

[मातलिः] मातलि [यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद] जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपन देनेवाले औषधको जानता है [इन्द्रः तत् अप्सु प्रावेशयत्] इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे [आपः] जलो ! [तत् भेषजं दत्त] उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥१-२३ ॥



इस सूक्तका विचार।

इस सूक्तमें मानवोंको पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्वजनिक अर्थात् सांघिक है। सब लोगोंसे मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुञ्चन्तु अंहसः' - वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक धर्ममें विशेष है, क्योंकि उससे संघशक्ति बढती है।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

पृथ्वीस्थानीय देवता।

१ अग्नि १
२ वनस्पति १
३ ओषधि १
४ वीरुधः १
५ अहोरात्र ५, ७
६ वापध्य ७
७ अपाः ७
८ पार्थिवाः पशवः ८
९ आरण्याः मृगाः ८
१० भूमि १०

११ यक्ष १०
१२ पर्वत १०
१३ समुद्र १०
१४ नदी १०
१५ वेशान्ताः १०
१६ पृथिव्याः शङ्काः शिवाः १२
१७ वसवः [अष्टौ] १३
१८ अथर्वाणः १३
१९ अङ्गिरसः १३
२० यज्ञ १४
२१ यजमानः १४
२२ ऋचः १४
२३ सामानि १४
२४ भेषजानि १४
२५ यजु १४
२६ होत्राः १४
२७ वीरुधो पञ्च राज्यानि १५
२८ सोम (वनस्पति) १५
२९ दर्भ १५
३० भंग १५
३१ यवः १५
३२ सहः १५
३३ अराय १६
३४ रक्षांसि १६
३५ सर्प १६
३६ पुण्यजन १६
३७ मृत्यु (एकशतं मृत्यवः) १६
३८ ऋतु (द्वादश) १७, २२
३९ ऋतुपति १७
४० आर्तव १७
४१ हायन १७
४२ समाः १७
४३ संवत्सर १७
४४ मासाः १७
४५ विश्वेदेवाः १८, १९
४६ देवपत्न्यः १९
४७ भूत २१
४८ भूतानां, भूतपति २१
४९ भेषज २३

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

१ गंधर्व ४
२ अप्सराः ४
३ चन्द्रमाः ५
४ वायु ६
५ पर्जन्य ६
६ अन्तरिक्ष ६
७ दिशाः ६
८ सर्वाः आशाः ७
९ सोमः ७
१० पक्षिणः ८
११ शकुन्त ८
१२ भव ९
१३ शर्व ९
१४ रुद्र ९
१५ पशुपतिः ९
१६ [illegible] ९
१७ यम ११
१८ पितर ११, १६
१९ अन्तरिक्षसदः देवाः १२
२० रुद्राः (एकादश) १३

द्युस्थानीय देवता ।

१ इन्द्र १
२ बृहस्पति १
३ सूर्य १, ५
४ राजा वरुणः २

५ मित्र २
६ विष्णु २
७ भग २
८ अंश २
९ विवस्वान् २
१० सवितादेव २
११ धाता ३
१२ पूषा ३
१३ त्वष्टा ३
१४ अश्विनौ ४
१५ ब्रह्मणस्पति ४
१६ अर्यमा ४
१७ विश्वे आदित्याः (द्वादश) ५, १२
१८ दिव्याः पशवः (पक्षिणः) ८
१९ द्युः १०
२० नक्षत्राणि १०
२१ सप्तर्षयः ११
२२ देवीः आपः ११
२३ प्रजापतिः ११
२४ दिविषदः देवाः १२, १३

यहां तीन स्थानोंमें देवताओंको बांटकर रखा है। देवतानामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवताएं अन्तरिक्ष स्थानमें अथवा द्युस्थानमें रखने योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध आनेके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है। इतना भेद विचार की सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें	४८
अन्तरिक्षस्थानमें	२०
द्युस्थानमें	२३
मिलकर कुल	९१ इतनी देवताएं हुईं ।

इनमें ८वसु, ११रुद्र, १२आदित्य, ७ऋषिगण, १००मृत्यु, १२मास, १२ऋतु ६ऋतु, २अयन, ६ऋतुपति, ४दिशा, ४ उपदिशा, ये १८४ देवताएं अधिक होती हैं। इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनसे कम किये जायं तो शेष १७२ रह जाती हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवताएं होती हैं।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध आता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न साधक को करना उचित है।

इसमें कई देवताएं पापके लिये साधकभी होती हैं। जैसे भूमि, जल, वनस्पती, पशु, पक्षी, इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते आये हैं, आपसमें झगडते रहे हैं, भूमिके कारण कितने युद्ध हुए हैं और कितने मानव काटे गये हैं, यह इतिहास में देखने योग्य है। मानवोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है। बचना तो इसी राक्षसभावसे है। व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राक्षसभाव दूर हो जाय और उनमें दैवी भाव स्थिर हो जाय। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः । ९१ । ९

'ये सब देव हमारे लिये सदा शुभमार्ग बतानेवाले हों।' इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ती होनेकी संभावना सूचित होती है। मन वश में रखकर किसी प्रकारभी अशुभवृत्ती मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

इसतरह मनुष्य पापसे बच सकता है। मन ढीला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान होगा तो मनुष्य पापसे [illegible] रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा होकर यशस्वी बने।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ।

(७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता- अध्यात्मं, उच्छिष्टः)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् । आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥३॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश । नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥
ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् । उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

अर्थ— (उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप, (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं । (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उसके अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं, (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमाः वातः आहितः) जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब उसीमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

(सत् असत् च उभौ उच्छिष्टे) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें हैं, (मृत्युः वाजः प्रजापतिः) मृत्यु, अन्न अथवा बल और प्रजापालक, (लौक्याः व्रः च द्रः च) लोकोंके संबंधमें सब धन तथा स्वीकारने योग्य और नाश करने योग्य सब। पदार्थ (उच्छिष्टे आयत्ताः) उच्छिष्टमें ही संबंधित हुए हैं । (श्रीः मयि) शोभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(दृढः दृंह स्थिरः न्यः) सुदृढ, दृढतासे स्थिर रहनेवाला और नेतिमान् (ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः) ज्ञान, विश्वकी उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (नाभिं चक्रं इव सर्वतः) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (उच्छिष्टे श्रिताः) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद उद्गीथ, (प्रस्तुत स्थितं) स्तुति और स्तवन, हिंकार, स्वर, (साम्नो मेडिः) सामगानके आलाप ये सब उच्छिष्टमें हैं, (तन्मयि) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(ऐन्द्राग्नं पावमानं) इन्द्र, अग्नि और पवमान, वायुके सूक्त, (महानाम्नीः महाव्रतं) महानाम और महाव्रतवाले मंत्र-भाग ये सब (यज्ञस्य अंगानि उच्छिष्टे) यज्ञके अंग उच्छिष्टमें स्थित हैं जैसे (मातरि अन्तः गर्भः इव) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥८॥

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥१४॥

अर्थ- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, (तत् अध्वरः) वह हिंसारहित यज्ञ, अर्क-अश्वमेध, (मदिन्तमः जीवबर्हिः) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(अग्न्याधेयं अथो दीक्षा) अग्न्याधान, दीक्षा, (छन्दसा सह कामप्रः) छन्दोंके कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, (उत्सन्नाः यज्ञाः सत्राणि) उत्सन्न यज्ञ और सब सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री, प्रक्री उक्थ्य ये सब यज्ञ और (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञके अन्य अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओतं निहितं) विद्याके साथ उच्छिष्टमें ओतप्रोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्री, पांच रात्री, छः रात्री, (उभयः) उभय अर्थात् आठ, दस और बारह रात्रीवाला, (षोडशी) सोलह, (सप्तरात्र) और सात रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टमें बने हैं और (अमृते हिताः) ये अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार, निधन, विश्वजित, अभिजित, साह्न अतिरात्र, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं। वह सब ज्ञान मुझमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता संनतिः) सत्य भाषण, नम्रभाव, (क्षेम स्वधा ऊर्ज) कल्याण, स्वधा अन्न (अमृतं सहः) अमरपन, बल सामर्थ्य, ये (सर्वे कामाः कामेन तातृपुः) सब काम और कामनायें तृप्त करनेवाले हैं, (उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और (दिवः) द्युलोक भी (उच्छिष्टे अधिश्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हैं। सूर्य उच्छिष्टमें (आ भाति) प्रकाशता है, जिससे अहोरात्र होते हैं। यह सब ज्ञान (मयि) मुझमें रहे ॥ १४ ॥

उपहव्यं विपूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पिता महः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः। उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)
शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः । अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥२२॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

अर्थ-उपहव्य, विपूवान् और (ये च गुहा हिताः यज्ञाः) जो गुहामें आश्रित यज्ञ हैं, उनको (विश्वस्य भर्ता जनितुः पिता) विश्वका पोषक और पिताका भी पिता (उच्छिष्टः बिभर्ति) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

(उच्छिष्टः जनितुः पिता) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है वह (असोः पौत्रः पितामहः) प्राणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य ईशानः क्षियति) वह विश्वका ईश्वर होकर सर्वत्र रहता है वह (वृषा भूम्यां अतिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी, (बले बलं) बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समृद्धि, (ओजः) शक्ति, (आकूतिः) संकल्प, क्षात्र, राष्ट्र, (षडुर्व्यः) छः भूमियां, संवत्सर, (इडा) अन्न, (प्रैषाः ग्रहाः) प्रैष ग्रह और हवि यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १८ ॥

चतुर्होता, आप्रिय, चातुर्मास्य, नीविद, यज्ञ, होत्रा, पशुबन्ध और उनकी इष्टियां उच्छिष्टमें रहती हैं ॥ १९ ॥

(अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) महिने, (आर्तवाः ऋतुभिः सह) ऋतुओंके साथ ऋतुसंबंधी पदार्थ, (स्तनयित्नुः) मेघ (मही श्रुतिः) बडी गर्जना और (घोषिणीः आपः) घोष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

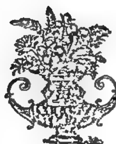
(शर्कराः सिकताः अश्मानः) पथरीली बालू, बालू, पत्थर (ओषधयः वीरुधः तृणा) औषधियां वनस्पतियां और घास, [अभ्राणि विद्युतः वर्षं] मेघ बिजलियां और वृष्टि [उच्छिष्टे संश्रिताः श्रिताः] उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

[राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिः] सिद्धि, प्राप्ति और समाप्ति, [व्याप्तिः महः एधतुः] व्याप्ति, महत्त्व और वृद्धि, [अत्याप्तिः, भूतिः] अतिशय प्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें [आहिता निहिता हिता] रखे हैं ॥ २२ ॥

[यत् च प्राणेन प्राणिति] जो प्राणसे प्राण धारण करता है और [यत् च चक्षुषा पश्यति] जो आंखसे देखता है, वह सब उच्छिष्टसे [जज्ञिरे] निर्माण हुआ है [दिवि-श्रितः देवाः दिवि] जो देव द्युलोकमें हैं वे सब द्युलोकमें रहे हैं और उच्छिष्टमें ही हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

अर्थ— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण,अपान, चक्षु, श्रोत्र, [क्षितिः अक्षितिः] भौतिक और अभौतिक पदार्थ, आनन्द, मोद, प्रमोद, [अभीमोदः मुदः] प्रत्यक्ष आनंद, देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥



उच्छिष्ट सूक्तका आशय।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उच्छिष्टका अर्थ।

" उच्छिष्ट " अर्थात् ' ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट,' जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है। विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम ' उच्छिष्ट ' है। पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
(ऋ. १०।९०।४)

'त्रिपात् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है।' एक अंशका यह विश्व बनता और बिगडता है, परंतु जो त्रिपात् पुरुष अवशिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है यह वैसा ही एकरूपमें रहता है। इस तरह परब्रह्मका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है। इसीका नाम उच्छिष्ट है। यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इसी परब्रह्ममें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है। जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यहां कुछ भी नहीं है। संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है। हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंख के सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है। इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर, विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके पुरुषसूक्तमें वर्णित हुआ है।

उच्छिष्टमें रूप।

'उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं,' यही मंत्रभाग मुख्य है; आगे इसी का स्पष्टीकरण किया है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, अग्नि विश्व, द्यावापृथिवी, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र १—२) नौ भूमियां, सूर्य (मं० १४), वालु, पत्थर, शिला, ओषधिवनस्पतियां, घास, अभ्र, विद्युत, वृष्टि, (मं० २१), जो प्राणसे जीवित रहता है, जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं० २३), देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा(मं० २७) विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४)। यह सब उच्छिष्टमें है, ये सब रूपवाले पदार्थ हैं। इनका आश्रय उच्छिष्ट—परमात्माही है।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, हिंकार, स्वर, सामके आलाप, (मं० ५), इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त, महाव्रतादिसूक्त, (मं०—६) छन्द, पुराण, (मं० २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं।

उच्छिष्टमें कर्म।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देखनेके पश्चात् ' कर्म ' कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब इस उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं, देखिये—'राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर, अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान, दीक्षा, यज्ञ, सत्र, (मं० ८) अग्निहोत्र, श्रद्धा, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्टापूर्त (मं० ९), एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री, प्रक्री, उक्थ, (मं० १०) चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशाह, षोडशी, (मं० ११), विश्वजित्, अतिरात्र, (मं० १२) आदि सब कर्म ही हैं और ये सब

उसी उच्छिष्टमें रहते हैं, उसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रची गयी है। अर्थात् सब कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है।

उच्छिष्टमें काल।

' काल ' उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है, अतः कहा है कि- ' अर्ध मास (पक्ष), मास (महिना), ऋतु (मं० २०), अयन, वर्ष, संवत्सर (मं० १८) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है। भूत, भविष्यत् (मं० १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टियां छोटे कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दीर्घकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं। अर्थात् जैसा नामरूपका परस्परसंबंध है उसी तरह काल और कर्मका परस्परसंबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

श्रद्धा, तप, व्रत, दीक्षा (मं० ९), सूनृत, नम्रभाव, कल्याण, स्वधा--अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, सहनसामर्थ्य, कामना, वासना (मं० १३), ऋत, सत्य, श्रम, धर्म, वीर्य--पराक्रम, लक्ष्मी शोभा, (मं० १७), समृद्धि, संकल्प, क्षात्रबल (मं० १८), सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, वृद्धि (मं० २२) आनंद, मोद, प्रमोद (मं० २५) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर रहते हैं।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्मसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। (मं० २३)

सत्, असत्, जीवन मृत्यु म और व (वरण और प्रावण), यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विचार किया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड यजुर्वेद का विषय है।

जो विश्वरूपदर्शन का विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक तुलना करके वेदका तत्त्व जानें।



शरीरकी रचना ।

(८)

(ऋषिः—कौरुपथिः । देवता—अध्यात्मं, मन्युः)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि । क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥
दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः । इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ- (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब उत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके अपने घर ले आया, उस समय (के जन्याः) कौन कन्या-पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बडे महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, (ते जन्याः ते वराः आसन्) वे ही कन्यापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महत् वदेत्) वही निश्चयसे आजही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है ॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्ति, (व्यान-उदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान और वाणी तथा मन, (ते वै आकूतिं आवहन्) ये ही निश्चय संकल्पशक्तिको धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विनौ) ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ ये देव (अजाताः आसन्) नहीं बने थे, (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे ॥ ५ ॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे आस्तां) बडे संसार सागरमें थे। (कर्मणः तपः ह जज्ञे) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ, (ते तत् ज्येष्ठं उपासते) वे सब उस श्रेष्ठकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये । शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते २६
आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः । चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥
आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः। गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन्२८
अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥३३॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

(आलापा च प्रलापा च ये अभीलापलपः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप, तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) आयोजना प्रयोग और योग ये (सर्वे शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च या क्षितिः) अभौतिक और भौतिक शक्तियां (व्यानोदानौ वाङ्मनः) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आशीर्वाद और घोषणा, (संशिषः च विशिषः च याः) संमतियां और विशेष अनुशासन (चित्तानि सर्वे संकल्पाः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना, (त्वरणाः याः कृपणाः च) त्वरा और कृपणता, (गुह्याः शुक्राः स्थूलाः, आपः बीभत्साः) गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा बीभत्स भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे हैं ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डी को समिधा बनाकर (अष्ट आपः असादयन्) आठ प्रकारके जलोंने सब शरीरकी बनावट की है, (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

(याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवताएं (या विराट् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, (शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरमें वही प्रजापति नामक अधिष्ठाता है ॥ ३० ॥

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुषकी आंख सूर्य (प्राणं वातः वि भेजिरे) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसका अन्य आत्मा (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्मात् वै विद्वान्) इसलिये निश्चयसे ज्ञानी विद्वान् (पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) पुरुषको यह ब्रह्म ऐसा मानता है। (हि सर्वाः देवताः अस्मिन् आसते) क्योंकि सब देवताएं इसमें निवास करती हैं (इव गावः गोष्ठे) जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं ॥ ३२ ॥

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विष्वङ् विगच्छति) तीन प्रकारसे सर्वत्र जाता है । (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है, (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकेन निषेवते) यहां एकसे सेवन करता है ॥ ३३ ॥

(स्तीमासु अप्सु वृद्धासु) गीला करनेवाले जलोंकी वृद्धि होनेपर उसमें (अन्तरा शरीरं हितं) अन्दर शरीर रखा गया है। (तस्मिन् अन्तरा अधि शवः) उसके बीचमें यह शवरूपी शरीर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उसे शव कहते हैं ॥ ३४ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

(सूचना-यह सब अर्थ सरल है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है ।)

शरीरकी रचना और योग्यता।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है । उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषही विलक्षण है । मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं । इस मानवी शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है ।

एक संकल्प था, उसकी कन्या ' संकल्पशक्ति ' थी । इस शक्तिका विवाह होना था । दूसरा आत्मा था उसका मन्यु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिके साथ करनेका निश्चय हुआ । इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें मुखिया था, उसीका नाम ' ज्येष्ठवर ' था, यही ' मन्यु ' भी कहा जाता था । (मंत्र १)

इस महान् अर्णव संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे । एक पक्ष तप करनेवाले संयमियोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था । कर्म करनेवालोंमें भी एक सकाम कर्म वाले और दूसरे निष्काम कर्मवाले थे । इसतरह ये दो पक्षके लोग थे । इनमें वधूके पक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे । इनमें ब्रह्मही सबसे मुखिया वर था । (मं० २)

दस बडे देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस होते हैं । ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानते हैं उनको ही बडे ब्रह्मका ज्ञान होता है और वेही उसका उपदेश कर सकते हैं । अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है । (मं० ३)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, आंख, कान (क्षितिः = भूमितत्त्वसे उत्पन्न) नाक, वाणी, मन और (अ-क्षिति = अभौतिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, येही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं । और बुद्धिसे विचार मनुष्य करता रहता है । (मं० ४) इनमें प्राण, अपान, व्यान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करनेवाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए जन्मसे लेकर मृत्युपर्यंत कर्म करते हैं । इस कारण इनको तप करनेवाले ऋषि कह सकते हैं । दूसरे देव आंख, नाक, कान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, कर्म करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विश्राम देना पडता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं । इनको अन्न देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं, अन्न न मिला तो ये कृश होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं । प्राणोंके समान ये भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते । आंख, नाक आदिको विश्राम चाहिये, निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये । यहां ' संकल्पशक्ति ' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है । इस वधूपक्षके साथ ये आंख, नाक, कान आदि भोगविलासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अपान आदि तपस्वी लोग हैं । इसतरह विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और यहां यह बडी धूमधामसे विवाहसंस्कार होता है ।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बडे देव इस विश्वमें हैं । इनकी शक्ति बडी भारी है । इन बडे देवोंसे अंशरूप छोटे देव, आंख, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं । इनमें कई वधूपक्षके हैं और कई वरपक्षवाले हैं । दोनोंका यहां मेल हुआ है । इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है ।

त्वष्टा, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने स्थानमें जब रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहां विविध रूपोंमें नहीं उतरे थे, तब वे कहां रहते थे ? अर्थात् किस श्रेष्ठ देवके साथ रहते थे ? उसी श्रेष्ठ देवताका नाम ' ज्येष्ठ ब्रह्म ' है । इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बडे विश्वमें कार्य करते थे । परंतु वहांसे इस छोटे विश्वमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास नहीं हुआ था । (मं० ५) अर्थात् यह समय शरीररचनके पूर्वका है । शरीररचना के समय सब देवताओंके अंश यहां इस पिण्डदेहमें उतरे और निवास करने लगे, कई अपना तप करते रहे और कई अपने कर्म करने लगे । इसतरह यहांका संसार चलने लगा । इसीका नाम शरीरनिर्मिति है ।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया । यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि कर्मसेही तप होता है, कर्म न

किया जाय तो तप बनता ही नहीं, अतः कर्म मुख्य हैं, श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। (मं० ६) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिये।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतिकी भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अंशरूपसे यहां आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, आदिके नाम तथा उसके धर्म जो जानता है, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं। (मं० ७) जो पहिले था और जो फिर नया बनता है उसको पुराण (पुरा अपि नवं) कहते हैं। इसको यथायोग्य जानना चाहिये।

ये जो देव इस पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहांसे आये हैं? मूल-देव कहां थे और ये कहांसे यहां आये और किस स्थानपर आकर बसे? इसकी खोज करनी चाहिये। (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता इन बडे देवोंसे छोटे अंशरूप देव उत्पन्न हो गये, उनके भी ये ही नाम हैं। जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किसी न किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहां इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। (मं० ९) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वात्माके विश्वदेहमें रहनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डदेहमें रहनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र है। इसतरह दस बडे देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको इस पिण्डदेहमें यथायोग्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। (मं० १०) विश्वमें बडा सूर्य है, उसका अंशरूप पुत्र 'नेत्रेंद्रिय' बडे नेत्रके स्थानमें रखकर सूर्यदेव अपने द्युलोकके स्थानमें ही विराजता है। इसी तरह अन्यान्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये। हरएक देवताके भावका स्पष्ट करके यहां वारंवार वही बात लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो देवोंके अंश शरीर की कल्पना पुराणप्रवचनमें है वह यही है। हरएक देवता अंशरूप अवतार मानव-देहमें (अथवा प्राणीके देहमें) हुआ है। इस अंशरूप देवको ही अवतार कहा जाता है। बडे देवका एक छोटासा अंश यहां उतरा है और इस पतनशील देहका तारण करनेके लिये यहां रहा है। जब ये अंशावतार यहांसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है, फिर वह देह उठता नहीं, जलाया जाता है अथवा त्यागा जाता है। देवोंसे पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके अभाव होनेके समय उसे कोई छूता भी नहीं।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहां केश, हड्डियां, स्नायु, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरको हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त किया, तब वे देव कहां गये? (मं० ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहां रहे अथवा यहांसे चले गये? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करके रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही ये जाते हैं। इस देहमें कौनसा देव कहां रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारसे इस तरह है—

विश्वके देव	शरीरमें देवतांश
परब्रह्म	जीव, आत्मा
सूर्य	नेत्र (आंख)
भूमि	नासिका (नाक)
आपः	रसना (जिह्वा)
अग्नि	वाणी (वाक्) मुख
दिशा (आकाश)	कान
वायु, रुद्र	प्राण, त्वचा
ओषधि वनस्पतयः	केश (बाल)
लोहिनीः आपः	रक्त, रुधिर
द्यौः	मस्तक, मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, छाती
पृथ्वी	पाद (पांव)
पर्वत (पर्ववान्)	पर्व (जोड, संधी)
मृत्यु-आपः	वीर्य [रज]
अश्विनौ	श्वास-उच्छ्वास

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहां शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवताओंके अंश अवतार हैं। इसका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तारसे किया है-विशेषतः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, स्नायु, हड्डी मज्जा, पर्व-जोड, मांस

कहाँसे किसने और किस तरह भर दिये गये, ऐसा प्रश्न [मंत्र १२ में] पूछा गया है । पूर्वोक्त कोष्ठकके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है ।

इन देवताओंका नाम ' संसिच् ' है । सम्यक् सिंचन करनेवाले, सींचनेवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले, जीवनमय करनेवाले ये देव हैं । इन सब देवोंने (सर्वं मर्त्यं समसिञ्चन्) सब मरणधर्मवाले अंगोंको अथवा देहको जीवनधर्मसे युक्त किया है । इसी कार्यके लिये ये सब देव (पुरुषं आविशन्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इस शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रहे । (मं० १३)

किस ऋत्विजने ऊरु, पांव, जानु, सिर, हाथ, मुख, पीठ, हँसली पसलियां, जिह्वा, गर्दन, गर्दनकी हड्डियां, त्वचा ये सब भाग बनाये और जोड दिये ? (मं० १४-१५) अन्यान्य देवोंने अपने अपने कार्य किये, अपने अपने अवयव बना दिये और ' संधा ' नामक देवता है जिसने इनको जोड दिया और जिस जोडनेसे यह शरीर अखण्ड एक जैसा बन गया है। इसमें रंग, शोभा और कान्ति भरनेवाली भी एक देवता है। (मं० १६)

ये सब देव संमिलित हुए, इन देवोंका यहां संमेलन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली । यही सती देवी सब अवयवोंको अपने वशमें रखनेवाले आत्मदेवकी भार्या है । यही भार्या यहांकी कान्ति, शोभा और रमणीयता रखने चली है । (मं० १७) इसी वधू और वरकी शादी होनेका वर्णन इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें है ।

ये सब देव बडे कारीगर हैं । अतः त्वष्टा नाम कारीगर देवताका होता है । जो छोटे अंशरूप देव इस शरीरकी कारीगरी करनेके लिये यहां आये होते हैं, उनमें जो सबका अधिष्ठाता देव होता है, उसको सब कारीगरोंका कारीगर होनेसे ' त्वष्टा ' कहते हैं । इसका पिता, परमात्मा, सब देवोंका देव, सब कारीगरोंका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह भी बडा ' त्वष्टा ' ही है । उससे शक्ति पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें प्रवेश करते हैं, तब एक एक सुराखसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थानमें विराजता है । इस (मर्त्यं गृहं कृत्वा) मर्त्य घरकी सुयोग्य रचना करके [देवाः पुरुषं आविशन्] सब देव मनुष्यके देहमें घुसकर अपने स्थानमें रहते हैं । [मं० १८] यह घर वास्तविक मरनेवाला है, परंतु यहां देवोंकी अमर शक्तियां रहनेके कारण यह मरनेवाला देह अमरसा बना है । जब देव यज्ञका यज्ञ समाप्त करके चले जाते हैं, उस समय यह देह मर जाता है । देवोंकी अमर शक्ति इस तरह अनुभवमें आती है ।

इस शरीरमें निद्रा-जागृति, तन्द्री (सुस्ती) – उदासीनता, निर्ऋति (पापवासना) – पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा – (बुढापा) – तारुण्य, खालित्य (गंजापन) – बहुकेश होना, पालित्य (श्वेतत्व) – कृष्णत्व, बालोंका सफेद होना और काले होना, स्तेय (चोरी) – अस्तेय, दुष्कृत-सुकृत, वृजिन (कुटिलता) सरलता, सत्य– असत्य, यज्ञ-अयज्ञ, यश-अयश, बल-बलहीनता, क्षात्र-निर्बलता, ओज (शारीरशक्ति) अशक्ति, भूति (ऐश्वर्य) अभूति (निर्धनता), (राति) दान (अराति) कंजूसी, क्षुधा (भूख) - भूख न लगना, तृष्णा-प्यास न लगना, निन्दा स्तुति (अनिन्दा), हां और ना करना (हन्त इति न इति), श्रद्धा-अश्रद्धा, दक्षता-अदाक्षिण्य, विद्या-अविद्या, ज्ञान –अज्ञान, आनन्द –दुःख, मोद–प्रमोद, हास्य-रोदन, नरिष्ट (अनाश) – नाश, नृत्य- अनृत्य, आलाप प्रलाप–मौन, प्रयोग –वियोग, ये सब भाव शरीरमें होते रहते हैं । ये भाव शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । (मं० १९-२५)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, चक्षु श्रोत्र, क्षिति, अक्षिति, वाणी, मन ये दस ही शक्तियां शरीरमें रहती हैं और अपना कार्य करती हैं । (मं० २६)

आशीर्वाद–क्रोधके शब्द, अनुकूल– प्रतिकूल शब्द, संकल्प-विकल्प, स्थिरता–चपलता, क्षमा–शान्ति, कृपणता– उदारता, गुप्त-प्रकट, शुक्र-निर्वीर्य, स्थूल–कृश, बीभत्स– सभ्य ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं । (मं० २७–२९) इस घरके बनानेके लिये सिक्ता थी बनाकर सब देवोंने आहुति और गम्भीरतासे ... होती है । जब देवके साथ सब देव शरीरमें घुस जाते हैं । जीवके प्रवेश करनेके पश्चात् संपूर्ण शरीरका अर्थात् उस शरीरके हरएक इंद्रियका अधिष्ठाता रहता है और उस अधिष्ठाताके साथ मिलाके शरीरके देवताका अंश भी रहता है, अथवा देवताओंका अंश बनता जीवित । जिनके कारण पुरुषके शरीरके अंग प्रत्यंग होते हैं, इसका यही कारण है । इस देहमें शरीरका सब कार्य होता है, इस लिये इसे बढकर सिद्ध वैसा होता है । इसके देवता या अध्यक्ष

सब देव शरीरमें किस रीतिसे घूमते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

जो सब देवताएं हैं और जो पानी है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, ये सब देव रेतके साथ शरीरमें घुमते हैं। [मं० ३०] जल तो प्रवाही पदार्थ-रूपसे गर्भाशयमें रहता है। उसमें वीर्यके साथ सब देवतांश पहुंचते हैं, सब विराट् पुरुष का सत्व वहां पहुंचता है, स्वयं ब्रह्मका अंश जीवभावसे वहां पहुंचता है। इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवयव अपने रहने योग्य बना देते हैं। हरएक स्थानमें योग्य सुगम बनाते हैं और वहां ठीक रीतिसे रहते हैं। जो ब्रह्मका अंश जीवभावसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमें प्रजापति-संज्ञक जीवात्मा होकर सबका पालन करता है। जब तक यह इस शरीरमें रहता है, तभीतक अन्य देवोंका निवास यहां रहता है। जब यह ब्रह्मांश शरीरको छोड देता है, तब अन्य देव भी छोडकर उसके साथ चले जाते हैं। इसलिये इनका पालक होनेसे शरीरमें यही प्रजापति कहलाता है।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आंख बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रहे हैं। यहां सबको उष्णता देनेका कार्य अग्नि कर रहा है। [मं० ३१] जब अग्निदेव अपना कार्य स्थगित करता है, तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अन्यान्य देव वहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

जैसी गौवें गोशालामें यथाक्रम रहती हैं, वसी तरह सब देवताएं इस शरीरमें यथाक्रम रहती हैं। जहां जिस देवताने रहना योग्य है वहीं वह देवता रहती है। ये सब देवताएं मानो गौवें हैं और ये सब गौवें इस शरीररूपी गोशालामें रहती हैं। इन सब देवतारूपी गौवोंका एक ग्वालिया है, उसका नाम आत्मा है जो ब्रह्मका अंश यहां रहा है। इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म
इन्द्र, वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव।

बडी गोशाला-विश्व--विराट्।

जीवात्मा
देवतांश मन, आंख, प्राण, वाणी आदि देवोंके अंश।

छोटी गोशाला--देह।

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है। यह गोशाला अपना शरीर ही है। इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गोरूपी हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका ग्वालिया, गोपाल, भगवान् है। ब्रह्म ही अंशरूपसे यहां आया है और सबका तारण कर रहा है। इसी कारण इस पुरुषको [इदं ब्रह्म] 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं। क्योंकि सब देवताएं इसके आधीन रहती हैं। [मं० ३२]

यहां गौओं और गोपालका विचार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं। एक भागसे यहांके पार्थिव भोग भोगे जाते हैं, दूसरे भागसे दिव्य सुख प्राप्त किया जाता है और तीसरे भागसे दोनोंका संबंध जोडा जाता है। [मं० ३३] ये तीन भाग स्थूल सूक्ष्म कारण नामसे प्रसिद्ध हैं।

जब गर्भाशयमें वीर्यबिंदु चला जाता है, तब वहां रजमें वह स्थिर होकर गर्भ बढने लगता है। वहां बुद्बुदावस्था होनेसे जलमें शव तैरनेके समान वहां गर्भ बढने लगता है। उसके चारों ओर एक प्रकार का जल रहता है। इस जलसे उसकी रक्षा होती है। इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको शव अथवा [के-शव] उदकमें शवरूप कहा जाता है। [मं० ३४]

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है। यह अद्भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यही देवोंका मन्दिर है और यहीं सप्त ऋषियोंका आश्रम है। हरएक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है। इसको अपनी तपस्यासे उन्नत करें और साधक अपना जीवन सफल करें।

युद्धकी तैयारी।

[९]

(ऋषि—कांकायनः । देवता- अर्बुदिः)

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च । असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ॥
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥
उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥३॥
अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥
सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् । तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

अर्थ—हे (अर्बुदे) शत्रुका नाश करनेवाले ! (ये बाहवः) जो बाहु हैं, (याः इषवः) जो बाण हैं, जो (धन्वनां वीर्याणि) शस्त्रधारियोंके पराक्रम हैं, तथा (असीन् परशून् आयुधं) तलवारें फरसे और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संकल्प है, (तत् सर्वं) उस सबको (त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बडे बडे स्फोटक अस्त्र शत्रुओंको दिखा ॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो ! और हे देवजनो ! (यूयं उत्तिष्ठत) तुम उठो, (सं नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टाः गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुविनाशक ! (उत्तिष्ठतं आरभेथां) उठो, युद्धका प्रारंभ करो, (आदान-संदानाभ्यां) पकडपकड करके (अमित्राणां सेनाः अभिधत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो ॥ ३ ॥

(यः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक सेनाध्यक्ष है, और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है। (याभ्यां अन्तरिक्षं आवृतं) जिन्होंने अन्तरिक्ष घेरा हुआ है, (इयं च मही पृथिवी) यह बडी पृथिवी भी व्याप्त हुई है। (ताभ्यां इन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं अहं अन्वेमि) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनासे शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पश्चात् मैं जाता हूं ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुविध्वंसक ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ उठ। (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (भोगेभिः भञ्जन् परिवारय) अपनी पकडोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुविध्वंसक ! (उदाराणां सप्त जातान् समीक्षयन्) स्फोटक अस्त्रोंके सात प्रकारोंको देखकर (सजते हुए) घृतकी आहुति देते ही (तेभिः सर्वैः सेनया त्वं उत्तिष्ठ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ तू उठ ॥ ६ ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु । विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥
संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥
अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥
अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥(२५)
आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥
उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज । उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥
मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि । मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥
प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमणमें (पुरुषे हते) शत्रुके वीर मरनेपर, उनकी स्त्री (विकेशी कृधुकर्णी) बालोंको खोलकर आभूषणरहित कानोंसे (अश्रुमुखी प्रतिघ्नाना) आंसुओंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई (क्रोशतु) बडा आक्रोश करे ॥ ७ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (करूकरं संकर्षन्ती) हाथ पैर पिटती हुई, (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनसे पुत्रकी कामना करनेवाली, (पतिं भ्रातरं आत् स्वान्) पति, भाई और अपने बांधवोंका हित चाहनेवाली शत्रुकी पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) भयानक बडे बडे मांस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः) गीध, श्येन आदि पक्षी (ध्वाङ्क्षाः शकुनयः) कौवे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत सेनाका मांस खाकर तृप्त हों, यह तू (समीक्षयन्) देखता रह ॥ ९ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अधि) शत्रुके पुरुषोंके मुर्दोंपर (अथो सर्वं श्वापद्) सब जानवर (मक्षिकाः कृमिः तृप्यतु) मक्खियां और कीडे सब तृप्त हो जांय ॥ १० ॥

हे [अर्बुद, न्यर्बुद] शत्रुघातक वीरो ! [तव रदिते] तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर [समीक्षयन्] और देख देखकर हमला होनेपर, [प्राणापानान् बृहतं सं आगृह्णीतं] शत्रुके प्राणोंको पकडो और बडा हमला करो । उससे [अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु] शत्रुओंमें बडा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीरो ! (अमित्रान् उद्वेपय) शत्रुओंको भयभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु भयसे भागने लग जांय । (भिया संसृज) शत्रु भयभीत हों । (उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः अमित्रान् विध्य) बडे पकडनेवाले बाहुओंसे पकडके और शस्त्रोंसे शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुह्यन्तु) इनकी बाहुएं शिथिल हो जांय, (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयके संकल्प हों वे निष्फल बनें, (एषां किंचन मा उच्छेषि) इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न बचे ॥ १३ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हते) शत्रुके वीर पुरुष मरनेपर उनकी स्त्रियां (उरः प्रतिघ्नानाः) छाती पीटती हुई, (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओंको पीटती हुई (अघारिणीः विकेश्यः रुदत्यः) देह न धारकर बालोंको न संवारती हुई रोती रहें ॥ १४ ॥

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे । अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥
खड्डूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥
चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् । स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥
उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः । जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥
प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्। अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥२०॥(२६)
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु । शौष्कास्यमनु वर्ततामित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये । तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२२॥

अर्थ-हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (श्वन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्तोंको साथ लेकर चलनेवाली स्त्रियां, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणीं) दुष्ट इच्छावाली कुतिया (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्र भी दिखा ॥ १५ ॥

(खड्डूरे अधि चंक्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस्र पक्षिकाको दिखा। (ये अन्तर्हिताः उदाराः) जो छिपाकर रखे हुए स्फोटक अस्त्र हैं उनका प्रयोग कर। (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दाढोंवाले, काले दांतोंवाले, (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान्) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्यसाः ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६ १७ ॥

हे अर्बुदे ! (त्वं अमित्राणां अमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर। (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनौ जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अमित्रः प्रब्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय। और (सेनया अग्निजिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूएकी शिखाएं विजय करती हुईं चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां अमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय, (प्राणः ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्तताम्) शत्रुओंके मुख सूख जांय। परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न हो ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरु हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो पूठ भागनेवाले और जो बधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर, और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको शत्रुओंके प्रति दिखा ॥ २२ ॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २४ ॥
ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥
तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥ (७७)

अर्थ- (अर्बुदिः च त्रिषन्धिः च) अर्बुदि और त्रिसन्धि ये हमारे वीरगण, (नः अमित्रान् विविध्यताम्) हमारे शत्रुओंको मार दें। (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे वृत्रनाशक शचीपते इन्द्र प्रभो ! [यथा एषां अमित्राणां सहस्रशः हनाम] इन शत्रुओंको सहस्रों की संख्यामें हम मार दें ॥२३॥

हे अर्बुदे ! वनस्पतियों और वनस्पतिसे बने पदार्थों औषधियों, लताओं, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरोंको तू [अमित्रेभ्यः दृशे कुरु] शत्रुओंको दिखा और [उदारान् च प्रदर्शय] स्फोटक अस्त्रोंको प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जाय ॥ २४ ॥

हे अर्बुदे [तव रदिते] तुम्हारा आक्रमण होनेपर [अमित्रेषु समीक्षयन्] शत्रुओंका निरीक्षण करनेके पश्चात् हमारे शत्रुओंके ऊपर [मरुतः देवः आदित्यः ब्रह्मणस्पतिः] आदित्य देव, बृहस्पति और मरुत [ईशां चक्रुः] अधिकार करें। इन्द्र, अग्नि, धाता, मित्र, प्रजापति ये देव [वः ईशां चक्रु] तुम शत्रुओंपर शासन करें। (ऋषयः) ऋषिलोग [ईशां चक्रुः] शासन करें ॥२५॥

हे [मित्राः] मित्रो, हे [देवजनाः] देवजनो ! [यूयं तेषां सर्वेषां ईशानाः] तुम उन सब शत्रुओंके अधिपति हो [उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं] उठो, तैयार हो जाओ। [इमं संग्रामं संजित्य] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [यथालोकं वितिष्ठध्वं] अपने अपने देश जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥

युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता " अर्बुद " है। " अर्बुद " शब्द संख्यावाचक है, वैसाही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद   १०,००,००,०००

न्यर्बुद १,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सौ कोटी न्यर्बुदमें होता है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः यहांतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे ' अर्बुद ' शब्दसे ' एक लाख सेना ' समझी जाय और " न्यर्बुद " शब्दसे " दस लाख सेना' मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन जितनी सेना होती है, उसको वैसा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम " अर्बुदी " और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम " न्यर्बुदी " होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेनापतिके वाचक हैं। श्री० सायणाचार्य कहते हैं कि, ये नाम सर्पके वाचक हैं—

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्।

(ऐ० ब्रा० ६।१)

इस वचनके अनुसार अर्बुद कद्रूका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐसाही मानना पडता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वरूपके सेनापतियोंके हैं, इसमें सन्देह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तथापि सूक्तके पूर्वापर संबंधसे हम इनको विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि, एक राजा है, उसके पास इस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड गया है। इस अवस्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहां है।

"अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धनुष्य, बाण, परशु, तलवार आदि आयुधसमूह है, उन सबकी ऐसे ढंगसे रचना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय।" [मं. १] अपने सैन्यकी और अपने शस्त्रास्त्रोंकी सुसज्जता ऐसी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पडना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये खडा तक न रहे। जो अपने मनके संकल्प हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पडता है, वह सब ऐसी घोषणासे जगत्में उद्घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनताको पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बडा भारी दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है, परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अत्यंत निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल संमति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है।

पांडवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शस्त्रास्त्रबल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निंदा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवोंको मिल गया। यहाँ युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको पाठक देखना है, उसपर अपने शस्त्रास्त्रप्रदर्शनोंका प्रभाव जमाना चाहिये और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिये। इस प्रकारकी जीत होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष शस्त्रोंद्वारा जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने " उदारों" का प्रदर्शन कराना चाहिये। उदार शब्दके ये अर्थ हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहां गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। ऐसे शस्त्रके पास होते हैं, उनको काम आनेसे शब्द करते हैं और

धंधोंमें उस बारूदके ज्वलनका धक्का दूसरा बाहर आता है। इसका नाम है उदार [उत्—आर], अंदरसे ऊपर फेंकना, अन्दरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका जाता है, उसका नाम " उत्—आर " है। इस अस्त्रको शत्रुके ऊपर फेंका जानेपर वह वहां फटता है और उसके अन्दरके विनाशक पदार्थ वेगसे बाहर फेंके जाते हैं, जिससे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरह के उदार अनेक प्रकारके अपने पास हैं और युद्ध होनेपर इनके द्वारा शत्रुका नाश अतिशीघ्र करना हमें सुलभ है, यह बात शत्रुके हृदयमें जैसी हो वैसी स्थिर करना चाहिये। जिससे शत्रु डरेगा और युद्धके लिये खडा ही नहीं होगा। इस दिखावेसे भी बहुत बार कार्यभाग हो सकता है।

जितना दिखावा करना होगा, उतनाही करना, परंतु अपने गुप्त शस्त्रास्त्र शत्रुको नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि अपने [illegible] शस्त्रास्त्रोंका पूर्ण पता शत्रुको लगना नहीं चाहिये। अपने पास अद्भुत शस्त्रास्त्र हैं, उनसे शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है, इतना ही प्रभाव शत्रुके मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्धके बिना शत्रुका नाश करनेकी यह योजना है। इन अपने उदार नामक शस्त्रास्त्रोंका प्रदर्शन करनेका उपदेश मंत्र १, १५, २२, २४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। नहीं तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलंब नहीं लगेगा। यहां केवल प्रदर्शन अर्थात् दिखावा करना है, यह दिखावा केवल शत्रुपर अपनी शक्तिका प्रभाव जमानेके लिये ही है। जो अपनी अपूर्व गुप्त सर्व है [illegible] उसका इसमें प्रदर्शन नहीं होनी चाहिये। अर्थात् दिखावा ऐसा हो कि शत्रु इस दिखावेसे ही दब जावे।

[illegible] सेनापति तैयार रहें। किस समय लडना पडे इसका पता नहीं होता है, अतः सदा सिद्ध रहना चाहिये। अपने जो मित्र राजा हैं, उनकी शक्तिका भी विचार करना चाहिये। सुरक्षितताके साथ वे अपने [illegible] मिलकर विजयमें सदा दक्ष होकर कार्य करना चाहिये। (मं० २) अपने विजयकी निश्चितता होनेके लिये यह सब इसी तरह करना योग्य है।

[illegible] बडी है ऐसा प्रभाव फैलाना, बडी [illegible] अपनी तैयारी करना, तथा अपनी सेनाकी सज्जता रखनी और अपने मित्रदलोंकी सुरक्षितता स्थिर करनी, ये कार्य युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध छिडना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैयारी करके उठना और युद्धका प्रारंभ करना। इसमें शत्रुको सोचने को भी फुरसत नहीं देनी चाहिये, यह विशेष सूचना मनन करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें 'आदान और संदान' ये दो प्रकारकी युद्धविधियाँ हैं। एकसे शत्रुको एकदम चारों ओरसे घेरकर पकडना होता है और दूसरेमें मिलकर शत्रुपर एकदम हल्ला करना होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी बडी सेना हुई तो भी युद्धमें विजय संपादन किया जा सकता है। जब इसतरह विजयकी संभावना हो तभी शत्रुके सामने जाकर [अभि-इत्य] उसपर चढाई करनी चाहिये। (मं० ३) इस मंत्रके शब्दोंका मनन करनेसे युद्धकी नीतिका पता लग सकता है।

एक बडा सेनापति है और दूसरा उसके नीचे कार्य करनेवाला है। ये दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें ऐसा पराक्रम करें कि वहांके शत्रु पूर्णतासे दबजाय। पृथ्वीके ऊपर पैदल, घुडसवार और रथियोंसे युद्ध होगा, आकाशमें विमानोंसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वत शिखरोंपर तो पांवसे युद्ध होगा। जहां जिसतरह युद्ध करना हो, वहां उसका युद्ध अत्यंत कुशलता के साथ करके अपनी विजय और उसकी पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् राजा अपनी सेनाके साथ शत्रुसे प्राप्त किये प्रदेशमें प्रवेश करे। (सेनया अहं अन्वेमि) सेनासे मैं राजा उस स्थानमें प्रवेश करता हूं। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व कभी शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं० ४) क्योंकि राजा पर ही राष्ट्रका सौभाग्य अवलंबित होता है। यदि राजा अयथार्थरीतिसे शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां बंधनमें फंस गया तो उस सेनाका पराभव और राष्ट्रकी मानहानि होना संभव है। इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुप्रदेश अपने अधिकारमें पूर्णतासे आ चुकनेपर और कोई डर न रहे तभी राजाने अपनी सुरक्षितताके लिये अपनी विश्वास रखने योग्य सेना साथ लेकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजाकी सुरक्षितता पर ही सब कुछ अवलंबित है। यहां राजा का अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिये।

योग्य समयपर सेनाका (उत्थान) उठाव करना, चढाई के

तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सांप या अजगर जिसपर लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुको घेरकर, चिरकर, काटकर, मारना चाहिये। सेनाको चारों ओरसे घेरना, अपनी सेना इतनी अधिक रखनी कि जिससे शत्रु घिर जाय। अपने सेनारूपी सांपसे शत्रुको वेष्टन करना और उसकी हलचल बंद करना, उसका अन्य जगत्‌से संबंध तोडना और उसको हैरान करना। [मं० ५]

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमिमें [अन्तर्हिताः उदाराः] गाडकर रखे जानेवाले, दूसरे पानीके अन्दर रखे जानेवाले, तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पांचवें बाणपर रखकर शत्रुपर फेंके जानेवाले, छठे नदी तालाब आदि छोटे जलस्थानोंमें रखे जानेवाले और सातवें पहाडोंपर काम देनेवाले। ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक उदार होते हैं। जहां ये रखे जाते हैं वहां शत्रुको घेर कर लाया जाता है और शत्रु वहां आया तो इनका विस्फोटक द्रव्य फट जाता है, इनसे उद्गार निकलते हैं जो शत्रुको एकाएक छिन्नभिन्न कर देते हैं। इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करनी चाहिये। हवनाग्निमें घृतकी आहुतियां देकर सब सैनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [मं० ६] यह प्रायः सबेरे का ही हवन है जो चढाईका सूचक है।

इस तरह सिद्ध होकर शत्रुपर हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा, परास्त होगा, भाग जायगा अथवा ऐसा नष्ट होगा कि उसके राज्यमें स्त्रियोंको रोने और आक्रोश करनेके सिवाय दूसरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं। [मं० ७—९] शत्रुकी सेनाके पुरुष मर जाय और कुछ भागकर उनके प्रेत सा जाय। (मं० १०) उनकी स्त्रियां छाती पीट पीटकर आक्रोश करें [मं० १४] शत्रु मारे जाय और उनमें रोने पीटनेका बडा कोलाहल मच जाय [मं० ११] ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकडा और मारा तथा काटा जाय [मं० १२] शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई शेष न रहे [मं० १३] शत्रुको मुर्दे खानेवाले पशुपक्षी नोचते रहें, कुत्ते उनके मुर्दोंको खाते रहें, हिंसक पशु आपद बनके स्थानमें घूमते रहें [मं० १५]

[ख—द्यौ] आकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शत्रुपर हमला करे [खर्व—वामनी] निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रुसेनाको ऊपरसे मारा जाय, [अन्तर्हिता उदाराः] भूमिमें अथवा जलमें अदृश्य करके जो उद्गरणशील अस्त्र हैं उनका स्फोट होकर शत्रु मारे जांय, गंधर्व, अप्सरा सर्प, राक्षस व इतर लोगोंकी सहायता लेकर शत्रुको उखाडा जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय [मं० १६—१७]।

उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नाश किया जाय। अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो। [मं० १८]

शत्रुको घेरकर मारा जाय। अपनी सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों। अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिनसे अग्निकी ज्वालाएं निकले और धुवेंसे शत्रु घेरा जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। [मं० १९]

शत्रुसेनाके [वरं वरं हन्तु] बडे बडे वीरोंको चुनचुनकर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे (मं० २०)। इस तरह पराजित होनेपर शत्रुके हृदय दहल जांय, प्राण चले जांय, मुख सूख जांय, ऐसा शत्रु न बचने तक हमला होता रहे। परन्तु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंको [मित्रेण मा] इनमेंसे कोई कष्ट न हो। [मं० २१]

धैर्यवान् और भीरु जो भी हों, जहां कहीं रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हथियार चोर फाडे जांय। वनस्पति औषधि स्फोटक पदार्थ आदि द्वारा नाशक पदार्थोंसे शत्रुको परास्त किया जाय। [मं० २२—२४]

हमारे अग्नि सूर्य, पाना, प्रजापति आदि तथा हमारे ऋषि और हमारे वीर शत्रुओंपर आवेश करें, अर्थात् हमारी सभ्यताके अन्दर शत्रुका सब जनता आश्रय लेवे। अर्थात् शत्रुपर हमारा सिक्का मैं गालिब समजते ही न हो अपितु हमारी आर्य सभ्यताका भी राज्य उनपर हो और वे पूर्णतया हमारी सभ्यतामें आ जांय। [मं० २५]

सब हमारे सैनिक इनकी विजय प्राप्त करके पश्चात् अपने अपने स्थानमें आकर विश्राम करें। उनका शत्रुओंपर हरमिश बना रहे। [मं० २६]

यह आशय इस सूक्तका है। आगे भी इसी प्रकार का सूक्त है, अब वह देखिये—

युद्धकी रीति।

[१० (१२)]

(ऋषिः-भृग्वंगिराः । देवता-त्रिषन्धिः)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥
ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥
अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥
अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ- हे (उदाराः) अपने जीवनपर उदार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत, सं नह्यध्वं) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो और तैयार हो जाओ। हे (सर्पाः इतरजनाः) सर्पो और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! इनके (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

हे (त्रिसंधे) त्रिसंधि वज्रयुक्त वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसाही मैं मानता हूं। (ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें, जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो (दुः-नामानः) दुष्ट नामवाले हैं, वे सब (ते त्रि-संधेः चेतसि उपासताम्) त्रिसंधि वीरके चित्तमें रहें, अर्थात् वह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिसंधिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले, सूईके समान नोकवाले, (अथो विकंकती मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर जाकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अन्तः धेहि) तू शत्रुसेनाके बहुत मुर्दे भूमिमें गिरा दे । (त्रि-संधेः इयं सेना) त्रिसंधिवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ । (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह उपहारकी बली लाया गया है। (त्रिसंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिसंधि नामक वज्रके लिये यह प्यारी आहुति अर्पण किया है ॥ ५ ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्ये॒ऽयं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥६॥
धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥७॥
अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥
यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥
बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् ॥१०॥ (२८)
येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥११॥
सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥१२॥
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥१३॥

अर्थ-(शितिपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) श्वेत पाँववाली और चार पाँववाली यह बाणोंकी पंक्ति शत्रुका (सं द्यतु) नाश करे । हे (कृत्ये) विनाश करनेवाले ! (त्रि-षन्धेः सेनया सह) त्रिषंधि नामक वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(धूमाक्षी सं पततु) धूँवेसे आँख पीडित होकर शत्रुसेना गिर जावे, (कृधुकर्णी च क्रोशतु) कानोंमें क्लेश होकर घोर रोती रहे । (त्रिषन्धेः सेनया जिते) त्रिषंधिकी सेनाका जय होनेपर (अरुणाः केतवः सन्तु) लाल रंगके ध्वज खडे हो जांय ॥ ७॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वयांसि अव-अयन्तां) पक्षी इस ओर आ जांय । (श्वापदः मक्षिकाः सं रभन्तां) हिंस्र पशु, मक्खियां शत्रुके मुर्दे खाने लग जांय। (आमादः गृध्राः कुणपे रदन्तां) कच्चा मांस खानेवाले गीध मुर्दोंको खा जांय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! (इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां संधां) इन्द्र और ब्रह्माके द्वारा जिस संधिको (समधत्थाः) किया था । (तया इन्द्र संधया अहं सर्वान् देवान्) उस इन्द्रकी संधिसे मैं सब देवोंको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और कहता हूं कि (इतः जयत मा अमुतः) यहां जीत लो, वहां नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरसका बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि, (असुरक्षयणं त्रि-षंधिं वधं) असुरनाशक त्रिषंधि नामक वज्रका (दिवि आश्रयन्) द्युलोकमें आश्रय लेते रहे ॥ १० ॥

(येन असौ आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, (उभौ इन्द्र च तिष्ठतः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं । उस (त्रिषंधिं ओजसे बलाय च) त्रिषंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये (देवाः अभजन्त) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको [असिंचत] सींच कर तैयार किया, [अनया आहुत्या] उस वज्रके स्वीकारसे [देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्] सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥१२॥

[आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं असिंचत] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरनाशक वज्रको सींच-

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट् कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥१४॥
सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया । संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥१५॥
वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥
क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥
त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय । पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥
मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ- कर तैयार किया, [तेन अमूं सेनां नि लिम्पामि] उस वज्रसे इस शत्रुसेनाको नष्ट करता हूं। हे बृहस्पते ! [ओजसा अमित्रान् हन्मि] सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूं ॥ १३ ॥

[ये वषट् कृतं अश्नन्ति] जो वषट्कारसे अन्न भक्षण करते हैं, वे [सर्वे देवाः अति-आयन्ति] सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं। हे देवो ! [इमां आहुतिं जुषध्वं] इस आहुतिको स्वीकार करो, और [इतः जयत, मा अमुतः] यहांसे शत्रुको जीत लो, वहांसे नहीं ॥ १४ ॥

[सर्वे देवाः अति आयन्तु] सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें [त्रिषन्धेः आहुतिः प्रिया] त्रिषंधि वज्रको बलिदान प्रिय है। [यया अग्रे असुराः जिताः] जिससे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था, उस [महतीं संधां रक्षत] बडी संधिकी तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[वायुः अमित्राणां इष्वग्राणि आञ्चतु] वायु शत्रुओंके बाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे। [इन्द्रः एषां बाहून् प्रतिभनक्तु] इन्द्र इनके बाहुओंको तोड दे। ये शत्रु [इषुं प्रतिधां मा शकन्] बाण धनुष्योंपर लगानेके लिये समर्थ न हों [आदित्यः एषां अस्त्रं विनाशयतु] सूर्य इनके अस्त्रों का नाश करे। [चन्द्रमा अगतस्य पंथां युतां] चन्द्रमा अप्राप्त शत्रुका मार्ग रोक देवे ॥१६॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि पूर्व देव अर्थात् शत्रुरूप राक्षस यहांसे दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानसे कवचोंको तैयार किया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीरके रक्षण और प्राणादिका सब रक्षण करते हैं और जो (उपोचिरे) संघटन कर रहे हैं (तत् सर्वं अरसं कृधि) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिषंधे ! (क्रव्यादा अनुवर्तयन्) मांसभक्षकोंको घेरकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युके आगे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ। (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत ला और उनको प्राप्त कर अर्थात् अपने आधीन कर ॥१८॥

हे त्रिषंधे (त्वं अमित्रान् तमसा परि-वारय) तू शत्रुओंको अन्धकारसे घेर, (पृषद्-- आज्य-- प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचः संपततु) श्वेत पांववाली शक्ति शत्रुओंकी [illegible] सेनाके ऊपर पडे। हे न्यर्बुदे ! (अद्य अमूः अमित्राणां सेनाः मुह्यन्तु) आज वे शत्रुओंकी सब सेनाएं मोहित हो जांय ॥ २० ॥

हे न्यर्बुदे ! (अमित्राः मूढाः) शत्रु मूढ हो जांय। (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखियाओंका पराभव कर। और इनको (अनया सेनया जहि) इस सेनासे अंत ले अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥२२॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम्॥२३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥
मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(यः च कवचः)जो कवचधारी है, (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है, वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयां) उनके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्रिणः) जो कवचधारी शत्रु हैं, हे अर्बुदे ! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं, (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खावें ॥ २४ ॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता शेताम्) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विकृत आकार होकर गिरे ॥ २५ ॥

(यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी [illegible] पूर्वाभिमुख आयी हुई सैन्यकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है, (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको हिंस्र पशु खावें ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं (यस्याः विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है, (तया त्रिषंधिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिसंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥

भयानक युद्ध।

युद्ध है बडा भयानक, परंतु जबतक मानव-जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेवाला नहीं है, कमसे कम अतिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षात्र भावकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लडनेवाले वीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें, (उदाराः) जीवनपर उदार हो जांय। बिलकुल अपने जीवन की चिंता न करें। सब सेनाके वीर अपने अपने झण्डे लेकर चढाईके लिये उठें और तैयार हो जाय। अपने झण्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब वीर मिलकर शत्रुपर धावा करें। (मं० १) यहां सर्प, राक्षस और अन्य लोग भी शत्रुपर हमला करनेके लिये आये दीखते है। जो भी अपना मित्रदल हो वह सब एक विचारसे चढाई करे, आपसमें फूट न हो, प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो, सब एकही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शत्रुसे लडें और शत्रुको पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण।

त्रिषंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बडा प्रखर होता है। तीन स्थानोंमें इस शस्त्रमें संधि किया होता है, इसलिये इसका नाम त्रिषंधि रखा गया है। त्रिषंधि वज्र है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कहा है—

वज्रेण त्रिषन्धिना। (मं० ३, २७)
यं वज्रं जासिंचत। (मं० १२, १३)

यह त्रिषंधिवाला वज्र है, उसमें तीन जोड होते हैं और यह पानीसे सिंचित करके बनाया जाता है, अर्थात् यह फौलाद का ही होना चाहिये, जो तपाकर पानीमें अथवा तेलादि द्रव पदार्थोंमें मिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें यांहसे निर्देश है। जो पाठक शस्त्रनिर्माण की विद्या जानना चाहते हैं, उनको इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है।

लाल झण्डे।

अरुण रंगवाले झण्डे लेकर तथा अपने वज्र साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होनेपर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे–" हे शूर सैनिको! आप सभी इस राज्यके सच्चे स्वामी हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आपही इसके बढानेवाले हैं। जो इस भूमण्डल पर मनुष्यमात्र हैं, उनमें जो दुश्चरित्र अथवा दुष्ट हैं, [दुः० नाम] दुष्टताके साथ जिनका नाम प्रसिद्ध हुआ है, उनको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमंडल का राज्य निष्कंटक करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिसंधि नामक बडा शक्ति-शाली वज्र है। उसकी सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंको दंड देना यह एकमात्र आपका कर्तव्य है, यह बात अपने चित्तमें आप [चेतसि उपावत] रखें और इसे कभी न भूलें। [मं० २] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दंड देना है, उस कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण वारंवार देखना चाहिये।" ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

बाणोंका स्वरूप।

त्रिसंधि वज्र के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी चढाई शत्रुपर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकार के होते होंगे, परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका उल्लेख है-

अयोमुखाः– जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है, जिससे बाणकी नोक तीखी रह सकती है–

२ सूचीमुखाः– सूईके समान अग्रभागवाले बाण। ये बाण शत्रुके शरीरमें बींधनासे घुस सकते हैं।

३ विकंकतीमुखाः– कंघेके समान कांटेदार मुखवाले

अथवा कंकपक्षीके मुखके समान मुखवाले। इससे विशेष मारकता सूचित होती है।

'वातरंहसः' और 'कङ्कपादाः' ये शब्द बाणोंका वेग और उनकी मारकता सूचित करते हैं। इस प्रकारके बाण शत्रुपर फेंके जाते हैं और साथ साथ त्रिसंधि वज्रका भी प्रयोग होता है। [मं० ३]

त्रिसंधि वज्रका प्रयोग करनेवाली सेना जिसके पास रहेगी वह शत्रुको जीतनेमें निःसंदेह समर्थ होगा, क्योंकि इस सेनाके वीर अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते हैं और युद्धसाधन भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं। अतः इस सेनाके द्वारा समरभूमिमें शत्रुके बहुत मुर्दे गिराना संभव हो सकता है। [मं० ४]

सेनापति अपनी ऐसी सेनाके साथ उठे और चढाई करे। युद्धमें अपने जीवनकी आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये। अन्यथा त्रिसंधि वज्रको समाधान नहीं होता। (त्रिसंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिसंधि वज्रको इस तरहकी आहुति प्रिय होती है। (मं० ५)

इससे पता लगता है कि त्रिसंधि नामक वज्रका चलाना सुलभ नहीं है, शत्रुसैन्यमें घुसकर उसका उपयोग किया जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले वीर ही त्रिसंधि वज्रके लिये प्रिय समझे जाते हैं।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं। अब यहां दो प्रकार और बताते हैं-

४ शितिपदी- तीखे पदवाले बाण, जो बाणका भाग फौलाद का होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे। यह विशेषण हरएक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है।

५ चतुष्पदी- चार पदवाले बाण। इसमें काटनेवाली धाराएं चार हुआ करती हैं। पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन दो प्रकारोंका विचार भी पाठक करें।

ये सब बाण शत्रुसेनाको पर्याप्त प्रमाणमें काटें। इस मंत्रमें 'कृत्या' नामक किसी विनाशक प्रयोगका उल्लेख है। 'कृत्या' का अर्थ काटनेवाली। इस कृत्याका वर्णन अथर्ववेद में अनेक स्थानोंपर आया है। इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता कि यह क्या है। यहां त्रिसंधि वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ इस कृत्याका प्रयोग होकर शत्रुसेनाका नाश होता है। अतः यह एक शस्त्रविशेष ही होगा। परंतु कृत्या प्रयोगकी विशेष खोज करनी चाहिये। (मं० ६)

धूवेंका प्रयोग

धूवेंके प्रयोगसे शत्रुसेनाको पीडित करनेका वर्णन 'धूमाक्षी' शब्दद्वारा सातवें मंत्रमें किया है। यह धूवाँ किस तरह किया जाता है इसका पता नहीं चलता। परंतु शत्रुसेना खुले मैदानमें होनेपर इस धूवेंसे पीडित की जाती है, इसमें संदेह नहीं। धूम्राख प्रयोग ही यह है। धूवेंका कुछ अस्त्र शत्रुपर फेंका जाता है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। शत्रुकी सेनामें वह जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धूवां वहांके सैनिकोंमें फैलता है और वे घबरा जाते हैं। इस धूवेंसे (अंतपतु) शत्रुका सैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर चढता होगा, केवल मानसिक संताप यहां अपेक्षित नहीं है। परतु शारीरिक ज्वरही अपेक्षित है।

इस धूवेंसे जैसा ज्वर होता है वैसा ही कर्णशूलभी (कृधुकर्णी) होता होगा और वह शूल इतना भयानक होता होगा कि सैनिक (क्रोशतु) आक्रोश करने लगते हैं। इतनी भयानक वेदना होती है। इतना प्रबल यह धूम्रप्रयोग है। इस धूवेंके प्रयोग आंख, फेफडे आदिको कष्ट, शरीरको ज्वर, कानमें वेदना और सबका परिणाम शत्रुसेना का आक्रोश है। इतने प्रबल शस्त्रास्त्र जिसके पास होंगे वह विजयी होगा। उसमें कोई संदेह ही नहीं है। इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक अपने लाल रंगवाले झण्डे खडे कर देते हैं और विजयानंद प्रकट करते हैं। (मं० ७)

उक्त रीतिसे शत्रुसेना काटी जानेपर उस सेनाके मुर्दोंको हिंस्र पशुपक्षी खायें। उनके मुर्दोंकी व्यवस्था करनेके लिये शत्रुकेपास कोई न बचे। यह आशय यहां है। इसका आशय यही है कि शत्रुका इतना पराभव हो। (मं० ८)

संधि किये हुए मित्र राजाओंके सैनिक इकट्ठे हो जांय और निश्चित किये मार्गसे शत्रुपर आक्रमण करके शत्रुको परास्त करें। शत्रुसेना का नाश करनेके लिये त्रिसंधि वज्रका प्रयोग किया करें। (मं० ९-१०)

त्रिसंधि वज्रसे सैनिकों में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होता है। देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका आश्रय क्यों न करें? (मं० ११) शत्रुनाशक इस वज्रसे देवोंने सब लोगोंको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग मनुष्य करें और विजय प्राप्त करें। (मं० १२-१५) इन मन्त्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिसंधि नामक वज्रका उपयोग

देवभी करते हैं। इससे सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शत्रुकी सेनाके बाणोंकी धारा खराब करना, उनके शस्त्रास्त्र निकम्मे बनाना, उनके बाहुओं को बांधना अथवा ऐसा अशक्त बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अस्त्रोंको निकम्मा बनाना, उनका मार्ग अवरुद्ध करना। इस तरह शत्रुका कार्य असफल करना चाहिये। (मं० १६)

शत्रुके (तनूत्राणं) कवच तोडने या फाडने, उनके (परिधानं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन सामर्थ्यहीन बनाने और उनकी सब योजनाएं असफल करके उनको जीतना चाहिये। (मं० १७)

शत्रुसेना के सामने मृत्यु ही खडा रहे, हिंसक शस्त्रास्त्रोंका आघात उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शत्रुपर करना चाहिये और शत्रुको परास्त करना चाहिये। (मं० १८)

तमसास्त्र का प्रयोग।

उन्नीसवें मंत्रमें भी शत्रुपर (तमसा परिवारय) अंधकार का प्रयोग करनेकी सूचना है। यह भी पूर्वोक्त ही प्रयोग होगा जिससे अंधेरेमें गिरनेके समान शत्रुको कुछ भी दीखता नहीं होगा। यह चढाई ऐसी भयानक है कि इससे शत्रुका कोई वीर बचता ही नहीं। (मं० १९)

संमोहनास्त्र का प्रयोग।

आगे बीसवें मंत्रमें (मुग्ध) संमोहन करनेका प्रयोग है। शत्रुसेना सबकी सब मोहित हो जाय। उनको कुछभी न सूझे। यहां कुछ शक्ति शत्रुपर फैंकी है, जिससे शत्रुसेनामें गिरनेसे शत्रुसेना की मति मोहित हो जाती है। जब सब सैनिकोंके चित्त भ्रांत हो जांयगे तब उनके पास जाकर उनको कोई काटे। (मं० २०) शत्रु (मूढाः) मोहित होकर मूढ बन जाय। उनको कर्तव्य करनेकी बुद्धि न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जहि) उनके वीरोंको काटा जावे। क्योंकि मोहित अवस्थामें कोई उनके पास पहुंचा तो उसको कोई भय नहीं हो सकता। परंतु यह सब शीघ्रताके साथ करना चाहिये, क्योंकि मोहनास्त्रका परिणाम कुछ समय तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अपना कार्य समाप्त करना चाहिये। (मं० २१)

शत्रु कवचधारी हो अथवा बिना कवच धारण करके आया हो, उसको पाशोंसे बांधकर नाश करना चाहिये। इस तरह नाश हुई शत्रुकी सेना भूमिमें गिर जाय और इन मुर्दोंको कुत्ते खा जाय। (मं० २२-२३) रथी, पदाती तथा अन्य प्रकारकी शत्रुसेना भी इसी तरह नष्ट हो जाय। (मं० २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि जिससे एकभी शत्रु न बचे। शत्रुको निःशेष पराजित करना अथवा नष्ट डालना चाहिये। क्योंकि शत्रु थोडा भी अवशिष्ट रहा तो वह फिर उठता और कष्ट देता रहेगा। अतः युद्धमें उसका पूरा नाश करना चाहिये।

शत्रुका पूर्ण पराजय होवे। बाणोंसे शत्रुके मर्म कटे और वह आलंबित होवे और रोनेके सिवा उसे दूसरा कुछ भी न सूझे। [मं० २६] त्रिसंधि वज्र ही बडा भारी प्रभावशाली शत्रुनाशक शस्त्र है, उसके प्रयोगसे शत्रुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (मं० २७)

इस तरह इस सूक्तमें इन सूक्तोंमें युद्धविद्याका वर्णन किया है। पाठक इसके अध्ययनसे वेदकी युद्धनीति जानें और उसमें जो ग्रहण करने योग्य हो उसका ग्रहण करें।

॥ यहां यह ११वां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००६, शके १८७१, सन १९५०

राष्ट्रका धारण ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

[अथर्व० १२।१।१]

"सत्यव्रत, सरलता, उग्रता, दक्षता, तप अर्थात् द्वंद्वसहनशीलता, ज्ञान, यज्ञ अर्थात् आत्मसमर्पण ये सात गुण मातृभूमिकी धारणा करते हैं। अर्थात् जिन लोगोंमें ये सात गुण विशेष प्रमाणमें रहते हैं, वे लोग अपनी मातृभूमिकी उत्तम रक्षा कर सकते हैं। और जो लोग इन गुणोंसे विरहित होते हैं, वे अपनी मातृभूमिकी रक्षा नहीं कर सकते। मातृभूमि लोगोंके भूत, वर्तमान और भविष्यकी सुरक्षा करनेवाली होती है। ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये हरएक दिशामें विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्पन्न करे। "



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

द्वादश काण्ड ।

यह बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पांचवां काण्ड है। इसमें पांच सूक्त हैं, इनके अनुवाक, सूक्त और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार है।

अनुवाक्	सूक्त	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	५+(१३)	६३
२	२	५+(५)	५५
३	३	६	६०
४	४	४+(१३)	५३
५	५	७(पर्याय)	७३
			३०४ कुल-मंत्रसंख्या

इन सूक्तोंके ऋषि देवता छन्द अब देखिये--

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६३	अथर्वा	भूमि	त्रिष्टुप्; २ भुरिक्; ४-६, १०, ३८, त्र्यव० षट्पदा जगती; ७ प्रस्तारपंक्तिः ८, ११ त्र्यव० षट्पदा विराडष्टिः; ९ परानुष्टुप्; १२, १३, १५, पंचपदा शक्वरी (१२, १३, त्र्यवसाना); १४ महाबृहती; १६, २१ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, १८ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टु० अनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी; १९, २० उरोबृहती (२० विराट्); २२ त्र्यव० षट्पदा विराडतिजगती, २३ पंचप० विराडतिजगती; २४ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २५ त्र्यव० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्वरी; २६--२८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३

					५७, ५६, ५९, ६३, अनुष्टुभ. (५३ पुरो बार्हता) ३० विराड्गायत्री, ३२ पुरस्ताज्ज्योति : ३४ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती, ३६ विपरीतपादलक्ष्मी पंक्ति , ३७ त्र्यव०पञ्चपदा शक्वरी, ४१त्र्यव० षट्पदा ककुमती शक्वरी, ४२ स्वराडनुष्टुप्; ४३ विराडास्तारपंक्ति , ४४,४५, ४९ जगत्य ; ४६ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशक्वरी, ४७ षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा पराविशक्वरी, ४८ पुरोनुष्टुप्; ५१त्र्यव० षट्पदा अनुष्टु०गर्भा ककुंमती शक्वरी, ५२ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती, ५७ पुरोतिजागता जगती, ५८ पुरस्ताद्बृहती, ६१ पुरोबार्हता ६२ पराविराट् ।
२	५५	भृगु	अग्नि मन्त्रोक्त देवता २१—३३ मृत्यु	त्रिष्टुप्,	२—५, १२, २०, ३४-३६, ३८-४१, ४३ ५१, ५४ अनुष्टुभ (१६ ककुमती पराबृहती, १८ निचृत्, ४० पुरस्तात्ककुमती); ३ आस्तारपंक्ति ६ भुरिगार्षी पंक्ति , ७, ४५ जगती; ८, ४८, ४९ भुरिज; ९ अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मी पंक्ति , ३७ पुरस्ताद्बृहती, ४२ त्रिपादैकावसाना भुरिगार्षी गायत्री, ४४ एकावसाना द्विपदा आर्षी बृहती; ४६ एका० द्विपदा० साम्नी त्रिष्टुप्, ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती, ५० उपरिष्टाद्विराड् बृहती, ५२ पुरस्ताद्विराड् बृहती, ५५ बृहती गर्भा ।
३	६०	यमः स्वर्गः,	ओदनः अग्नि	त्रिष्टुप्	१, ४२, ४३, ४७ भुरिज ; ८, १२, २१,२२,२४ जगत्य ; १३, १७ स्वराडार्षी पंक्ति ; ३४ विराड् गर्भा, ३९ अनुष्टु०गर्भा, ४४ पराबृहती; ५५-६० त्र्यव० सप्तपदा० ककुमत्यतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यंगर्भातिधृति (५५, ५७—६० कृति ५६ विराट् कृति) ।
४	५३	कश्यप	मधा	अनुष्टुप्,	-७ भुरिज; २०विराट्; उष्णिग्बृहती गर्भा; ३१ भुरिग्गर्भा ।
५	७३ १ पर्याय १	अथर्वाचार्य	प्रजापति		१प्राजापत्याऽनुष्टुप्; २,६भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ३द्विपदा स्वराडुष्णिक्, ४ आसुरी अनुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्ति ।
२	,,	५			७ साम्नी त्रिष्टुप्; ८, ९ आर्षी अनुष्टुभ् (८ भुरिक्); १० उष्णिक् (७-१० एकपदा) ११ आर्षी निचृत्पंक्ति ।

३	पर्याय	११	१२ विराड्विषमा गायत्री; १३ आसुरी अनुष्टुप्; १४, २६ साम्नी उष्णिह्; १५ गायत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुभः; १८ याजुषी जगती; २१, २५ साम्न्यनुष्टुभौ; २२ साम्नी बृहती, २३ याजुषी त्रिष्टुप्; २४ आसुरी गायत्री; आर्ची उष्णिह्।
४	,,	११	२८ आसुरी गायत्री; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुभौ; ३० साम्नी अनुष्टुप्; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री; ३३, ३४ साम्नी बृहती; ३५ भुरिक्साम्नी अनुष्टुप्; ३६ साम्नी उष्णिह्; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री।
५	,,	८	३९ साम्नी पंक्ति; ४० याजुषी अनुष्टुप्; ४१, ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती; ४४ पिपीलिकमध्यानुष्टुप्; ४५ आर्ची बृहती।
६	,,	१५	४७, ४९, ५१-५३, ५७—५९, ६१ प्राजापत्या-ऽनुष्टुभः; ४८ आर्ची अनुष्टुप्; ५० साम्नी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरी गायत्री ६० गायत्री।
७	,,	१२	६२—६४, ६६, ६८-७० प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ६५ गायत्री, ६७ प्राजापत्या गायत्री, ७१ आसुरी पंक्तिः, ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आसुरी उष्णिह्।

इस तरह इस सूक्तके ऋषि, देवता और छन्द हैं। यहां प्रत्येक सूक्तकी देवता विभिन्न है। अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और भावार्थ देकर उसका विवरण साथ साथ ही दिया जायगा। इसमें पहिला सूक्त मातृभूमिका सूक्त है, यह बड़ा मनोरंजक और बोध प्रद है, वह अब देखिये—







अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

द्वादशं काण्डम्।

मातृभूमिका सूक्त

[१]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहत् सत्यम्) बडी या अटल सत्यनिष्ठा (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान, (उग्रम्) क्षात्र तेज, (तपः) धर्मानुष्ठान या धर्मका पालन, (दीक्षा) हरएक कामके करनेमें चतुराई-दक्षता, (ब्रह्म) बडा ज्ञान, (यज्ञ) यज्ञ दान अथवा त्याग ये गुण (पृथिवीम्) भूमि देश या राष्ट्रका (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं। [सा पृथिवी] वह मातृभूमि (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा बीचमें आ जानेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंकी [पत्नी] पालन करनेवाली, ऐसी वह हमारी मातृभूमि (नः) हमको (उरुं) बडा भारी (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ– जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता, अधिकार, बना रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है, सत्यप्रियता, उद्योगशीलता, महत्त्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजस्विता, धर्मनिष्ठा, इंद्रियोंका निग्रह, ग्रंथोंका पढना और व्याख्यान सुनना, शान्त स्वभाव और अचापल्य, परोपकारिता, ईश्वरभक्ति, अङ्गीकार किये हुए कार्यमें दक्षता, नियमानुसार चलनेका अभ्यास, खूब धनसंचय, सर्व सहायक पदार्थोंका विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका सत्कार करना, एकतासे रहना, दुःख और आपत्तिमें पडे हुए लोगोंकी सहायता करना, यज्ञ अर्थात् स्वार्थत्याग करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा इत्यादि। जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्तकर सकते हैं। इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि– हे मातृभूमि ! हम पूर्वोक्त संपूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त हो तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है। जब कि हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं, तू भी हमारी कीर्ति बढानेका कारण हो ॥१॥

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ-(यस्या) जिस हमारी मातृभूमिके (मानवानां) मननशील मनुष्योंके (म[-ध-] ध्यतः) मध्यमें (प्रवत) नीचता उच्चता रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुतही (समं) समता (असबाधं) और ऐक्य या मैत्रीभाव है; (या) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्याः) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधीः) वनस्पति (बिभर्ति) धारण करती है, वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रथतां) कीर्ति या यशकी वृद्धिका (राध्यतां) साधन करे ॥ २ ॥

(यस्यां समुद्र) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धुः) अनेक नद नदी, (आपः) झरने झील और ताल तलैया बहुत हैं, (यस्याम्) जिस मातृभूमिमें (अन्नम्) सब भांतिके अन्न और फल तथा शाक इत्यादि बहुत अधिकतासे उपजते हैं, (यस्यां इदं प्राणत्) जिसमें सजीव, (एजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते हैं, जिसमें, (कृष्टयः) कृषीवल खेती करनेवाले मनुष्य, शिल्पकर्मविशारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवुः) बहुत संगठित हुए हैं, (सा) इस तरह की (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) दे ॥ ३ ॥

[यस्याम्] जिस हमारी मातृभूमिमें [कृष्टय] उद्यमशील तथा शिल्पचातुरीमें निपुण निज परिश्रमसे खेती करनेवाले [संबभूवुः] हुए हैं, [यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशः] जिस भूमिमें चार दिशायें और चार विदिशायें (अन्नम्) चावल, गेहूं आदि उपजाती हैं, (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे, [प्राणत् एजत्] प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका [बिभर्ति] धारण-पोषण करती है (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौओं और अन्नादिमें रखकर धारण पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र या देश के मनुष्यों में परस्पर द्रोह नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है। विशेषकर हमारे अगुआ लोगों में अर्थात् हमारी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले ओकामणियों में परस्पर ऐक्य मत है और वे एकत्र ही मिलकर सब काम करते हैं। जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिकारक रोगविनाशक अनेक औषधियां, और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती हैं, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी कीर्ति और यशको दिगन्तरमें फैलानेके लिये कारणीभूत हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुए, बावली, नहर, झीलें इत्यादि खेतीको पानी मिलनेके बडे बडे साधन हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है। जिसमें सब प्राणी मात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें कुशल हैं, किसान लोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अगण्य व्यापारी तथा कारीगर, कृषीकारोंमें प्रधान और परिश्रमी लोग होते आये हैं, और जिस भूमिकी चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम धन धान्य खूब उत्पन्न होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण पशु पक्षी आदि वनस्पति और अन्य, जीवधारियों का उत्तम प्रकार पालन, पोषण और संरक्षण होता है, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव गौवें और अन्न प्रदान करनेवाली होवे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमिमें पुराने समयके आर्य लोग (पूर्वे जनाः) बल, बुद्धि, वीर्य, ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध सब भांति पूर्णवीर पुरुष [विचक्रिरे] विक्रम, पराक्रमरूप कर्तव्य अच्छी तरह करते रहे हैं, [यस्यां देवाः] जिसमें विद्वान् और वीर (असुरान्) हिंसानिरत दुष्ट अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको [अभ्यवर्तयन्] जीतते रहे हैं। जो [गवां अश्वानां वयसः च] गौवें, घोडे और पशुपक्षियोंको [वि-ष्ठाः] विशेष सुख देनेका स्थान है, [सा नः पृथिवी] वह हमारी मातृभूमि हमको [भगम्] ऐश्वर्य और [वर्चः] तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान (दधातु) दे ॥ ५ ॥

जो (विश्वंभरा) सबकी पोषण करनेवाली [वसुधानि] सोना, चांदी, हीरा, पन्ना आदि अनेक रत्नोंकी खान है, [प्रतिष्ठा] सब वस्तुओंकी आधारभूत [हिरण्यवक्षा] सुवर्ण आदिकी खान जिसके वक्षस्थलमें है, [जगतः] जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं उनको [निवेशनी] बसानेवाली (वैश्वानरम्) सब भांतिके मनुष्योंके समूहसे भरा हुआ राष्ट्र या देश (बिभ्रती) धारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निम्) अग्रगामी, नेता (इन्द्र-ऋषभा) शत्रुओंको मारा करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंको तथा [नः] हमको (द्रविणे) धन [दधातु] धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

अर्थ—[अस्वप्नाः] निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि रहित [देवाः] विद्वान् वीर और कुशल जन [यां विश्वदानीम्] सब प्रकारके पदार्थोंकी देनेवाली और जो हमारे लिये [मधुप्रियं च दुहाम्] मधुर प्रिय हितकर पदार्थोंको दुहनेपर देती है, [पृथ्वीं भूमिम्] बडी या विस्तृत हमारी मातृभूमिको [अप्रमादम्] प्रमादरहित हो [रक्षन्ति] रक्षा करते हैं, [सा] वह भूमि [नः] हमको [वर्चसा] शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे [उक्षतु] हमें पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने—ब्राह्मणों ने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरताद्वारा और वैश्योंने अपनी वाणिज्य—कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरीसे अनेक बडे बडे पराक्रम किये थे, जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर वीर व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियों को भी उत्तम निवास-स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंको धारण करनेवाली, सब पदार्थोंको आश्रय देनेवाली, सुवर्ण आदिकी खान रखनेवाली, यावत् स्थावर जंगम जीवों या पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी उन्नतिमें सहायता देनेवाली, मातृभूमि है वह हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोषरहित सब बातोंमें चतुर और उद्यमी, परोपकारी, विद्वान्, शूर और धनिक लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विस्तृत भूमिको प्रमादरहित हो रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा हितकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुसंपन्न करे, और हममें ज्ञान, शूरता और धन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ॥
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ १

अर्थ—[या] जो भूमि [अग्रे] पहले [सलिलं अधि] जलके भीतर [अर्णवे] समुद्रमें (आसीत्) थी, [यस्याः पृथिव्याः हृदयम्] जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग [अमृतं इव] अमर स्थानके सदृश [सत्येन] सत्य संकल्प के बलसे [आवृतम्] व्याप्त है, जो भूमि [परमे व्योमन्] महत् आकाशमें है, [याम्] जिसकी [मायाभिः] कुशलताओंके साथ [मनीषिणः] मननशील विद्वान् [अन्वचरन्] अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, [सा नः भूमिः] वह भूमि हमको [उत्तमे राष्ट्रे] उत्कृष्ट राज्यमें [त्विषिम्] तेज या दीप्ति, [बलम्] शूरता, वीरता, शारीरिक बल किंवा सैन्यबल [दधातु] धारण करे ॥ ८ ॥

[यस्याम्] जिस भूमिमें [परिचराः] सब ओर जानेवाले परिव्राजक संन्यासी [आपः] जलकी भांति [समानीः] समदृष्टि हों, [अहोरात्रे] रात दिन [अप्रमादम्] सावधान रह [क्षरन्ति] परिभ्रमण करते हैं, [अथो] और भी जो [भूरि-धारा] अनेक तरहका [पयः] खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोज्य या पेय आदि दूध, घी इत्यादि [दुहाम्] देती है, [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [वर्चसा] तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि [उक्षतु] बढावे ॥ ९ ॥

[याम्] जिस भूमिको [अश्विनौ] अश्विगण भर्ता और हर्ता शूर वीरने [अमिमाताम्] मापन किया, [यस्यां विष्णुः] जिसमें व्यापकने [विचक्रमे] भांति भांतिका पराक्रम दिखाया है, [इन्द्रः] शत्रुविनाशक [शचीपतिः] शचिपति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुरुषने [यां आत्मने अनमित्राम्] जिसको शत्रुरहित किया है, [सा नः माता भूमिः] वह माताके समान हमारी मातृभूमि [पुत्राय पयः] जैसा पुत्रको दूध देती है वैसाही [पुत्राय मे] हम सब पुत्रोंको [विसृजताम्] खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ- जो भूमि पहिले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके अंदर, भीतर परमेश्वर व्याप्त है, जो आकाशमें अधर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, शुभ प्रयत्नोंसे तथा कुशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, विद्वत्ता, शूरता, क्षत्रियता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे सर्वोंका जल प्राणिमात्रको एक समान मिलता है, वैसेही जिनका उपदेश सबके लिये एक समान होता है ऐसे परोपकारक संन्यासी जिस भूमिमें रात दिन उत्तम आचरण न छोडते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें अनेक प्रकारके अन्न-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसकी सदैव भलाई किया करते हैं, जिसके लिये पराक्रमी लोग बडे बडे पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसही प्रकार हमें संपूर्ण उपभोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥
यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥
यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे [पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्य च ते] मातृभूमि ! पहाड, बर्फसे ढके पर्वत और वन तुझे [स्योनम्] सुखके देनेवाले [अस्तु] हों, इन पर्वतोंमें शत्रु न रहें, वे शत्रु रहित हों, इसलिये तुम [बभ्रुम्] सबका भरण पोषण करनेवाली हो, [कृष्णाम्] कृषिकर्मके उपयुक्त हो, [रोहिणीम्] वृक्षादिकोंको उपजानेवाली हो, [विश्वरूपाम्] सब तरहका रूप धारण करनेवाली, [ध्रुवाम्] स्थिर [पृथिवी] बडी विस्तृत लम्बी चौडी [इन्द्र—गुप्ताम्] वीरोंसे रक्षित [भूमिम्] मातृभूमिको [अजितः] जिसे शत्रुओंने नहीं जीता, [अहतः] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुंची, [अक्षतः] कहींपर किसी अंगमें जिसे घाव नहीं हुआ, [अहं अध्यष्ठाम्] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊंगा ॥ ११ ॥

हे [पृथिवि यत् ते मध्यम्] भूमि! जो तेरे मध्यमें है [यत् च नभ्यम्] जो नाभिस्थान है, (ते याः ऊर्जः) जो तुम्हारा बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त [तन्वः] शरीरधारी अर्थात [मनुष्य संबभूवुः] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किए हुए हैं, [तासु] उन उनके समाजमें (नः) हमको [अभिधेहि] स्थापित कर और इस तरह [नः पवस्व] हमारी रक्षा कर, [भूमिः] भूमि ! तुम हमारी [माता] माता हो [अहम्] हम उस [पृथिव्याः पुत्रः] पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकसे या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि, हम तेरे दुःखको दूर करेंगे इससे पुत्र हैं] [पर्जन्यः] जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् शस्यसंपत्तिसे पालन करनेवाले हैं [स उ नः] वह हमें निश्चय [पिपर्तु] पालन करे ॥ १२ ॥

(यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदीका स्वीकार करते हैं। (यस्यां विश्वकर्माणः) जिसमें उन्नतिके साधन करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, [यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात] जिस पृथिवीमें पहले [ऊर्ध्वाः] उन्नति करनेवाले, [शुक्राः] वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) यज्ञीय यूप होते हैं, जहां अच्छे अच्छे उपदेश [मीयन्ते] कहे जाते हैं, [सा नो भूमिः वर्धमाना] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हो, हम लोगोंको [वर्धयतु] उन्नति करे ॥ १३ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमे! तुझपर जो पहाड और बर्फसे ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बडे जंगल हैं, उनमें तेरे शत्रु कभी न रहें, तू शत्रुरहित होकर सदैव सबका पोषण करनेवाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त, स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम शत्रुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और महान् पदवीको प्राप्त हों, राष्ट्रको अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

*

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥
ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः नः द्वेषत्] मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है,(यः पृतन्यात्)जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध करके हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारेही में पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुम्हारेही में चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं बिभर्षि] धारण पोषण करते हो, [येभ्यः मर्त्येभ्यः] जिन मनुष्योंके लिये [अमृतम्] जीवनका हेतुभूत [ज्योतिः] तेज [उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्यकिरणोंसे [आतनोति] विस्तार करता है, [इमे] ये हम लोग [पंच मानवाः] पांच प्रकारके मनुष्य [तव] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [नः पृथिवि ताः] हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजाः] प्रजा [समग्राः] सब [वाचः] वाणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्ण [संदुह्रताम्] एकत्र हो बोलें, [मह्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःखसे छुडानेवाले हैं, इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबका पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥१२॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिनमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं । हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये इस प्रकारसे उन्नतिका कारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शब्दोंद्वारा द्वेष करते हैं, जो हमारे वैरी सेना ले हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये टपे बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान सूर्य अपना अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता रहता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवार्थी पांच मनुष्य तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो, कठोर दुःखदायी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥
महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अर्थ-(विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की [मातरं ध्रुवां पृथिवीम्] यह माता विस्तीर्ण, लम्बी, चौडी, स्थिर पृथिवी (धर्मणा) सत्य, ज्ञान, शूरता, वीरता आदि धर्मसे (धृताम्) पालित पोषित (शिवाम्) कल्याणमयी (स्योनाम्) सुख की देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी [विश्वहा] सदा [अनुचरेम] हम सेवा करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि ! तुम हम सबका [महत् सधस्थम्] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [महती बभूविथ] बडा होती रही हो । [ते] तुम्हारा [एजथुः वेपथु] हिलना डोलना [महान्] बडा [वेगः] वग या गतियुक्त होता है । इस प्रकारकी [त्वाम्] तुमको [महान् इंद्र] शत्रुके नाश करनेवाले बडा ज्ञान, बल, उत्साह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर [अप्रमादम्] चौकसीके साथ [रक्षति] तुम्हारी रक्षा करते हैं । [भूमे] हे मातृभूमि ! [सा] सो तुम [हिरण्यस्य इव] सोनेकी तरह [संदृशि] चमकती हुई [नः] हमको [कश्चन] कोई भी आपसमें [मा द्विक्षत] वैरभाव न रक्खे ॥ १८ ॥

[भूम्याम्] पृथिवीके मध्यभागमें [अग्नि] अग्नि है; [ओषधीषु] औषधियोंमें (अग्नि) अग्नि है, जिन औषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूख लगती है. [आप] जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत्के रूपमें अग्निको धारण करता है । (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्नि) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जाठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोडे आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं, जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर हो, विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह आदि सदाचार और सद्गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं. जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है, उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है, हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है; तू आकाशमें हिलते डोलते जिस वेगसे जाती है वह वेग बहुतही बडा है, ज्ञानी,शूर,वीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली,शत्रुको नाश करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाडी, भीरु और विगतधैर्य नहीं कर सकते, तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है; हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक), पत्थर, मनुष्य,गाय, घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं, उसी प्रकार हम मनुष्य जो इन सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम् । अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ [२]

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

अर्थ- (दिवः) आकाशमें (अग्नि) सूर्यके रूपमें अग्नि है । (आतपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है। (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बडे (अन्तरिक्षं) प्रकाशमें प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहम्) होम की हुई आहुति का ले जानेवाला (घृत-प्रियं) घी को प्यार करनेवाला (अग्निं) भौतिक अग्नि ऋतुओंके बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) दीपित करते हैं ॥ २० ॥

[अग्निवासाः] अग्निसे व्याप्त [असितज्ञूः] काले कज्जलसे जो जाना जाय वह अग्नि (पृथिवी असि) पृथिवीके रूपमें हो (मा) मुझको (त्विषीमन्त) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें (भूम्यां अरंकृतं) अलंकृत सुसंस्कृत (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ । देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं । इससे जिस भूमिमें (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न खानेपीने की वस्तुसे (मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य (मनुष्याः जीवन्ति) जीते हैं । (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होती है, (यं) जिस गन्धको (ओषधयः बिभ्रति) ओषधियां धारण करती हैं, (यः) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वा) सूर्य धारण करते, (अप्सरसः च) किरणें धारण करती हैं, (यं गन्धं) जिस गन्धका (भेजिरे) सुख भोगा (तेन) सुगन्धिसे (मा) मुझको [सुरभिं] सुगन्धियुक्त [कृणु] करो । [नः] हम लोगोंमें [कश्चन] कोई भी [मा द्विक्षत] किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बडी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए द्रव्य को हवनद्वारा चारों ओर फैलाने के लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं। उस अग्निमें हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और यशको बढानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके वायु और जल आदिको शुद्ध करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुम्हारेमें उत्तम सुगन्ध है, वह ओषधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको सूर्य अपनी किरणोंसे उद्दीपन करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धिसे भूषित करो और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे भी वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पुष्क॑रमावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्याया॑ विवा॒हे।
अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २४ ॥
यस्ते॑ ग॒न्धः पुरु॑षेषु स्त्री॒षु पुं॒सु भगो॒ रुचिः॑।
यो अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो मृ॒गेषू॒त ह॒स्तिषु॑।
क॒न्या॒यां॑ वर्चो॒ यद् भू॑मे॒ तेना॒स्माँ अपि॒ सं सृ॑ज॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २५ ॥
शि॒ला भूमि॒रश्मा॑ पां॒सुः सा भूमिः॒ संधृ॑ता धृ॒ता
तस्यै॒ हिर॑ण्यवक्षसे पृथि॒व्या अ॑करं॒ नमः॑ ॥ २६ ॥
यस्यां॑ वृ॒क्षा वा॑नस्प॒त्या ध्रु॒वास्तिष्ठ॑न्ति वि॒श्वहा॑।
पृ॒थि॒वीं वि॒श्वधा॑यसं धृ॒ताम॒च्छाव॑दामसि ॥ २७ ॥

अर्थ-हे [पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं] जो तुम्हारी गन्ध कमलमें [आविवेश] प्रविष्ट हुई है, [अग्रे] पहिले [यं गन्धं अमर्त्याः] जिस गन्धको वायु आदि देवता [सूर्यायाः] उषाके [विवाहे] विवाहके समय (संजभ्रुः] धारण करते हैं, [तेन मा सुरभिं कृणु] उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। [कश्चन] कोई भी [नः] हम लोगोंसे [मा द्विक्षत] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [भूमे] भूमि, [यः ते गन्धः वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः] वीर पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें तेजोमय कान्तिरूप है, [यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु] जो घोडोंमें, चौपायोंमें, हाथियोंमें, [यत् वर्चः] जो तेज रूप है, [कन्यायां] बिना ब्याही कन्याओंमें जो तेज है, [तेन] दिव्य तेजसे [अस्मान् अपि] हममें भी वही तेज (संसृज) पैदा कर दे। [कश्चन मा द्विक्षत] हममें कोई किसीसे द्रोह न करे ॥२५॥

जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलियुक्त (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरतासे (धृता) भलीभांति रक्षित हुई, [संधृता] अच्छी तरह योग्यताके साथ सुरक्षित हुई कहलावेगी, (तस्यै हिरण्यवक्षसे)उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है,(नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥२६॥

(यस्या) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड और लता आदि (विश्वहा) सदा [ध्रुवाः] स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, [धृताम्] धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, [पृथिवीं अच्छ] उस पृथिवी की हम मुख्यतया [आवदामसि] प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। हममें कोई किसीसे द्वेष न करे। हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बढे और सब समाजके लिये हितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री पुरुषोंमें, हाथी घोडे चौपाये आदिमें, ब्रह्मचारियों ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी बचपनसे ही हो। हममें कोई भी किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अमूल्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृ-भूमिको हम नमस्कार करते हैं। जबतक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी 'मातृभूमिका संरक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)
यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [उदीराणा] चलत फिरते [उत आसीना] बैठे हुए [तिष्ठन्तः] खडे हुए [प्रक्रामन्तः दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां] दाहिने या बायें पावसे टहलते हुए [भूम्यां मा व्यथिष्महि] भूमिमें हम किसीको दु:ख न दें ॥ २८ ॥

[विमृग्वरीं] विशेष खोजनेके योग्य [ब्रह्मणा] परमात्मासे [वावृधानां] बढाई गई [ऊर्जं] बल बढानेवाली [पुष्टं] पुष्टि करनेवाली [घृतं अन्नभागं च] घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [बिभ्रतीं] धारण करनेवाली [पृथ्वीं] लम्बी चौडी [क्षमां] प्राणिमात्रके निवास योग्य [भूमिं] मातृभूमिसे [आवदामि] प्रार्थना करते हैं। हे [भूमे] हमारी मातृभूमि। [त्वां] तुम्हारा [अभिनिषीदेम] हम आसरा लें ॥२९ ॥

हे [पृथिवि ! नः तन्वे] हमारे शरीरको शुद्धिके लिये [शुद्धा आपः] निर्मल जल, [क्षरन्तु] बहा करो, [यः नः] जो हमको [अप्रिये] अनिष्ट है या प्रिय नहीं है [सेदुः] उसे अलगकर [पवित्रेण] पवित्र जो हमारा कर्तव्य कर्म है [मा उत्पुनामि] उससे मुझे पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

हे [भूमे !] मातृभूमि। [याः ते प्राचीः] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, [याः उदीची] जो उत्तरकी दिशा है, [याः ते प्रदिशः] जो तुम्हारी उपदिशा अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएं हैं, [याः ते अधरात्] जो तुम्हारे नीचे हैं, [याः ते पश्चात्] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे हैं [ताः] उन सब दिशाओंमें [चरते] लोग चलते फिरते हैं, [मह्यं स्योनाः भवन्तु] मुझे सुख की देनेवाले हों, [भुवने] जिस देशमें हम [शिश्रियाणः] रहें [मा निपप्तं] कहीं हमारा अधःपात न होवे ॥ ३१ ॥

गुणोंसे भरी पूरी है,और सबका आधार है,हमसे अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमसहित स्तुति गाते हैं॥२७

भावार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसके ऊपर भी उसतहको तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है, बल बढानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है, लम्बी चौडी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो। जो कोई हमारा अप्रिय करनेकी इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे,उसके साथ हमभी वैसा ही वर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपदिशाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें- इसी प्रकार तेरे हितके लिये यत्न करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहां कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥
यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥
यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

अर्थ– हे (भूमे ! पश्चात् नः मा नुदिष्ठा) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, [मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः] जो तुम्हारा पूर्व है, उत्तर है या नीचे है, वह भी हमारा नाश न करें, [स्वस्ति] हमारा कल्याण हो । [परिपन्थिनः] शत्रु लोग हमें [मा विदन्] न जानें [किञ्च] उन शत्रुओंके [वधं] वधके लिये [वरीयः] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [यावय] वह जाय ॥ ३२ ॥

[भूमे मेदिना] हे हमारी मातृभूमि ! –अपने प्रकाशसे आनन्द देनेवाले [सूर्येण] सूर्यसे [यावत् ते अभि विपश्यामि] जहांतक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारको देखते हैं, [तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट] वहांतक ज्यों ज्यों मेरी उमर बढती जाय मेरी इंद्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमरतक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि ! [यत्] जब [शयानः] सोते हुए [दक्षिण सव्यं पार्श्वं] दाहिने और बांये [अभिपर्यावर्ते] करवट लें [यत् त्वा] जब तुमपर [प्रतीचीं] पश्चिम की ओर पांव कर [उत्तानाः पृष्टीभिः] पीठ नीचे कर [अधिशमहे] शयन करें, उस स्थानमें [सर्वस्य प्रतिशीवरि] सब लोगोंको सहारा देनेवाली [भूमे नः मा हिंसीः] हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारेमें [यत् विखनामि] जो हलसे जोतकर हम बोवें [तत् क्षिप्रं रोहतु] वह जल्द उग और बढे [विमृग्वरि] विशेष खोजनेके योग्य हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे [मर्म] नाजुक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चोट न पहुंचे और [ते अर्पिपं] तुम्हारे अर्पित [हृदयं] मन या चित्त [मा] दुःखित न हो ॥३५॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे अगुआ लोग सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमे ! जिस समय हम तेरे भक्त विश्राम करनेके लिये दाएं, बाएं अथवा औंधे तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमि जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम भूभाग कर जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढे । तुम्हारे ऊंचा नीचा रहनेसे हमारे अन्न पान और निर्वाहको मन्द बना दे, सो तुम्हारे लिये यत्न करते हुए अधिकतर तुम्हें चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें सो दुःखित न हो, हम सदा प्रफुल्लित रहें ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः। सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे। भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

अर्थ- (यस्यां पूर्वे भूतकृतः) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञ या सत्कार दान मान आदि उत्तम कार्योंसे (तपसा) धर्माचरणसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहे ॥ ३९ ॥

[सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [यत् धनं] जो धन हम [कामयामहे] इच्छा करते हैं कि हमें मिले वह हमें [आदिशतु] दे, [भगः] ऐश्वर्यवान् अपने ऐश्वर्यसे हमारे पुरुषोंके [अनुप्रयुङ्क्ताम्] सहायक हो, [इन्द्रः] शत्रुका नाश करनेवाला वीरोंका [पुरोगवः] अगुआ होकर [एतु] शत्रुपर चढाई करे ॥ ४० ॥

[यस्यां भूम्यां मर्त्याः] जिस भूमिमें मनुष्य [गायन्ति] गाते हैं, [नृत्यन्ति] नाचते हैं [व्यैलबाः] विविध प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं [यस्यां आक्रन्दः] जिसमें वीरोंके सिंहनादोंका शब्द होता है, [दुन्दुभिः च वदति] नगाडा बजता है [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [सपत्नान्] शत्रुओंको [प्रणुदताम्] दूर भगा दे, वह [पृथिवी] भूमि [मा] हमें [असपत्नं] शत्रुरहित [कृणोतु] करे ॥ ४१ ॥

[यस्यां व्रीहियवौ] जिसमें चावल, जौ, गेहूं आदि अन्न बहुत उत्पन्न हैं, [अन्नं] खानेके पदार्थ जहां अधिकतासे हैं, [यस्यां इमाः पंच कृष्टयः] जहां पांच प्रकारके लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, व्यापारी, कारीगर और मजदूर रहते हैं, जो [वर्षमेदसे] बरसात होनेसे जहां अन्न आदि अच्छे उत्पन्न हैं, [पर्जन्यपत्न्यै] पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है, उस [भूम्यै नमः अस्तु] मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

भावार्थ— हमारी मातृभूमि ऐसी है कि जिसमें अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषियोंने रहके बडे बडे दान करके व धर्मानुष्ठान और तपस्याओंसे पुरुषार्थ प्राप्त हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने धनकी हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे। ऐश्वर्य और धनादिक मिल जाने पर ऐश्वर्य और धन वीरोंकी सहायता करे और वीर पुरुष युद्धमें शत्रुओंके साथ आक्रमण करनेके लिये आगे बढें ॥ ४० ॥

जिस भूमिमें अनेक प्रकारके गानादि हो रहे हैं, जहां लोग आनन्दसे गाते हैं नाचते हैं और वीर लोग अपने राष्ट्रमें अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्ध करते— जहां वीरोंके सिंहनाद हो रहे हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंको भगा कर हमें शत्रुरहित करे ॥ ४१ ॥

जहां चावल, गेहूं, जौ आदि धान्य और और अन्नोंके पदार्थ बहुत होते हैं, जहां विद्वान्, वीर, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य प्रेमसे रहते हैं, जिस भूमिमें जिसका धनधान्य वर्षासे उत्पन्न होता है, मेघोंसे जिसका पालन होता है, उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

अर्थ- [यस्या देवकृतः पुरः] जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं [यस्या क्षेत्रे विकुर्वते] जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे कर सकते हैं, [प्रजापति]प्रजाका पालक उस भूमिको जो[विश्वगर्भां] सब पदार्थोंको पैदा करनेवाली है, [पृथिवी] उस हमारी मातृभूमिको [आशां आशां] प्रत्येक दिशाओंमें [रण्यां] रमणीय करे ॥ ४३ ॥

[बहुधा गुहा] बहुत तरह की खानोंमें [वसु] धन, [मणिं] रत्न हीरा पन्ना आदि [हिरण्यं] सोना चांदी आदि [निधिं] संग्रह [बिभ्रती] धारण करनेवाली हमारी पृथिवी [मे] हमको वह सब [ददातु] दे, [वसुदा] धनकी देनेवाली [रासमाना] दान करनेवाली [देवी] देवस्वरूप हमारा सब काम साधनेवाली [सुमनस्यमाना] जो हमसे प्रसन्नचित्त होकर [नः] हमको [वसूनि दधातु] धन दे ॥ ४४ ॥

(बहुधा नानाधर्माणं) बहुत तरहके धर्मोंके माननेवाले (विवाचसम्) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनसमुदायको (यथा ओकसं) जैसा एक घरमें कोई रहे उस तरह (बिभ्रती) धारण करनेवाली (अनपस्फुरन्ती) जिसका नाश न हो हमसे (ध्रुवा पृथिवी) स्थिर भूमि (द्रविणस्य धाराः) हजारों तरह पर (मे) मुझको (धेनुः इव दुहां) धेनु जैसा दूध देती है वैसी तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे (पृथिवि ते) हमारी मातृभूमि तुम्हारे (यः सर्पः वृश्चिकः) जो सांप या बीछू (तृष्टदंश्मा) ऐसे जीव कीड़े आदि जिनके काटनेसे प्यास अधिक लगती हो (हेमन्त जब्ध) हिमविनाशक अर्थात् उसके पैदा करनेवाले (भृमलः) या जिनके काटनेसे मुर्छा पैदा हो (क्रिमिः) ऐसे कीड़े (गुहाशये) जो बिलोंमें पड़े सोया करते हैं (प्रावृषि) बरसात के मौसिममें (यत् जिन्वत् यत् एजति) जो जीवित हुए चलते हैं या रेंगते हैं (तत् सर्पन्) जो रेंगा करते हैं, वे सब (मा उपसृपत्) हमारे पास न आवें, (यत् शिवम्) जो हमारे लिये कल्याणकारी हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ- जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बनाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगों में सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो धनी बनी है, कोई भी जिसका सूना और उजाड नहीं है, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिको प्रजाका पालक पूर्ण करे अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्यसे सुशोभित रहे ॥ ४३ ॥

जिसमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खानें हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती है, वह मातृभूमि हमें धनकी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥

जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥
भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

अर्थ- हे भूमि ! (ये ते बहवः पन्थानः जनायनाः) मनुष्योंके चलने फिरने योग्य जो तुम्हारे बहुतसे मार्ग हैं, (रथस्य वर्त्म) रथके चलने योग्य [अनसः यातवे] छकडोंके आनेजाने लायक अथवा अन्नको ढोनेके लायक जो मार्ग हैं, [यैः संचरन्ति भद्रपापाः] जिनसे परोपकारी भले लोग या जिन परसे दुष्ट स्वार्थरत लोगभी चलते हैं [तं] उसे [अनमित्रं] शत्रु रहित [अतस्करं] ठग और चोरके भयसे रहित कर । [जयेम] हम जय प्राप्त करें, (यच्छिवं) जो कल्याणकारी है (तेन नो मृड) उससे हमें सुख दो॥ ४७ ॥

(गुरु भृत्) भारी पदार्थको अपनी ओर खींचनेवाली और (मल्वं) धारण करनेकी शक्ति (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यको (निधनं) मरण (तितिक्षु) सहती हुई वह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम जल देनेवाले मेघके साथ (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छी वर्षावाली होकर (सूकराय) अच्छी किरणवाले (मृगाय) अपनी किरणोंसे अपवित्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) विशेष जाती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवि ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे वनमें रखे गये हैं (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंको हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादिक (चरन्ति) जो ते फिरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) अजगर, भेडिया, पागल कुत्ते [ऋक्षीकां] भालू आदि भेडिये (इतः अस्मात् अपबाधय] यहांसे हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

भावार्थ- अनेक प्रकारके उत्तम धनोंको पानेवाले, विविध भाषा बोलनेवाले लोगोंको आश्रय देनेवाली हमारी अविनाशी मातृभूमि जैसी गऊ दूध देती है, उस तरह हमारी पदार्थोंकी देनेवाली हो तथा धनकी देनेवाली हो ॥ ४५ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे बिलमें सांप और बिच्छू या ऐसे जीव जिनके काटनेसे दाह पैदा होती है, या जो शीत व्यथा करते हैं, वे भयंकर विषैले जीव कभी हमें हानि भी न करें, जो यहांके हमारे लिये हितकारी और कल्याण करनेवाले हों वे सदा हमारे पास आ हमें सुख देवें ॥ ४६ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारा रस्ता –जिनपर मनुष्य चलते फिरते हैं–रथ और छकडोंके चलने योग्य है, जिनपर भले और बुरे दोनों तरहके लोग चलते हैं, अन्न आदि पदार्थ जिनपरसे होके आते हैं, वह मार्ग बिना शत्रु और चोररहित अर्थात् निर्भय और सुरक्षित कर दे हम विजयी हो उस रास्ते चलें । जो हमारे लिये भलाई हो उससे हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

गुरु पदार्थको अपनी ओर खींचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, भले और बुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है। अच्छा जल बरसानेवाले मेघसे युक्त सूर्य जिसकी अपवित्रताको अपनी किरणोंसे दूर कर देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सूर्यके साथ साथ जाती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, भेडिये, [illegible], पागल कुत्ते, भालू इत्यादि हैं, उन सबको हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

ये ग॑न्धर्वा अ॑प्सरसो॒ ये चा॑रायाः॑ किमी॒दिनः॑ ।
पि॒शा॒चान्त्सर्वा॑ रक्षां॑सि॒ तान॒स्मद् भू॑मे यावय ॥ ५० ॥ (५)
यां द्वि॒पादः॑ प॒क्षिणः॑ सं॒पत॑न्ति हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि ।
यस्यां॒ वातो॑ मात॒रिश्वेय॑ते॒ रजां॑सि कृ॒ण्वंश्च्या॒वयं॑श्च वृ॒क्षान् ।
वात॑स्य प्र॒वामु॑प॒वामनु॑ वात्य॒र्चिः ॥ ५१ ॥
यस्यां॑ कृ॒ष्णम॑रु॒णं च॒ संहि॑ते अहोरा॒त्रे विहि॑ते॒ भूम्या॒मधि॑ ।
व॒र्षेण॒ भूमिः॑ पृथि॒वी वृ॒तावृ॑ता॒ सा नो॑ दधातु भ॒द्रया॑ प्रि॒ये धाम॑निधामनि ॥ ५२ ॥
द्यौश्च॑ म इ॒दं पृ॑थि॒वी चा॒न्तरि॑क्षं च मे॒ व्यचः॑ । अ॒ग्निः सूर्य॒ आपो॑ मे॒धां विश्वे॑ दे॒वाश्च॒ सं द॑दुः ॥५३

अर्थ- हे [भूमे ये गन्धर्वाः] मातृभूमि जो हिंसक आततायी हमारे वध करनेको उद्यत हैं [अप्-सरसः] कर्मकाण्डमुक्त आलसी हैं [ये अरायाः] जो निर्धन हैं [किमीदिनः] पर धनके हरनेवाले हैं [पिशाचान्] मांस खानेवाले हैं, [रक्षांसि] राक्षसी स्वभाववाले हैं [सर्वान् अस्मत् यावय] सबको हमसे दूर हटाओ ॥ ५० ॥

हमारा यह मातृभूमि है [यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि पक्षिणः संपतन्ति] जहां दो पांववाले और हंस, गरुड आदि पक्षी उडते हैं, [यस्यां मातरिश्वा वातः] आकाशमें चलनेवाली या संचार करनेवाली हवा [रजांसि कृण्वन्] धूल उडाती हुई [वृक्षान् च्यावयन्] वृक्षोंको जडसे उखाडती हुई [ईयते] बहती है। [तस्य वातस्य प्रवां उपवां] उस वायुकी गतिको [अर्चिः] तेज या प्रकाश [अनुवाति] अनुसरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

[यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च] जिस भूमिमें तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन [संहिते] इकट्ठे हो (अहोरात्रे) दिन और रात [अधिविहिते] होते हैं [सा पृथिवी भूमिः] [वह विस्तृत भूमि] [वर्षेण वृता आवृता] वृष्टिसे ढकी हुई [भद्रया] कल्याणके साथ [प्रिये धामनि-धामनि] हितकारी स्थानोंमें [नः] हमको [दधातु] धरे ॥ ५२ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय आकाश [पृथिवी] भूमि [अन्तरिक्षम्] आकाश और पृथ्वीका बीच [अग्निः सूर्यः] अग्नि और सूर्य [विश्वे देवाः च] सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजयी, या व्यवहारचतुर [इदं] यह सब [मे] मुझको [मेधां] धारणाशक्तियुक्त बुद्धि [मे व्यचः] हमारी सबमें व्याप्ति या आकर्षणशक्ति [संददुः] प्रदान करते हैं ॥ ५३ ॥

भावार्थ - हे हमारी मातृभूमे ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, असभ्यवादी नास्तिक और आततायी हैं, उनको दूर करो ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें स्वच्छंद आकाशमें हंस आदि पक्षी आनन्दसे उडते हैं, जहां धूलिको उडाते पेडोंको उखाडते वायु के झोंके चलते रहते हैं और उसकी अग्नि जहां प्रदीप्त मान रहती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें शुक्ल कृष्ण पक्ष रात और दिन होते हैं और उसकी यह पृथ्वी वर्षासे ढंकी रहती है वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमें हितकर स्थानमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

इस द्युलोक या अंतरिक्ष, पृथ्वी या अग्नि सब पदार्थोंको पहचाननेसे हमारी बुद्धि बढे और कार्यसिद्धिसे धारी और प्रकाश होवे

रो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥५४॥
माना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
त् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ- [अहं सहमान] शत्रुको सहनेवाला, सुख, दुःख सह लेनेवाला [नाम] यश और प्रतिष्ठासे [उत्तरः] उत्कृष्टतर [भूम्यां अस्मि] भूमिमें [आशां आशाम्] हरएक दिशामें [विषासहिः] विशेष विजयी [अभीषाट्] सब ओर पराक्रम करनेवाला [विश्वाषाट्] सब शत्रुओंका नाश करनेवाला [अस्मि] हूं ॥ ५४ ॥

हे [देवि] दिव्य मातृभूमि तुम [यत्] जब [पुरस्तात्] पहिले [देवैः] देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंद्वारा [प्रथमाना] प्रख्यात होकर [उक्ता] प्रशंसित हो गई तब [व्यसर्पः] विशेष उत्कर्षको पहुंची [तदानीम्] तब इसको [चतस्रः प्रदिशः] चारों दिशाओंमें [सुभूतम् महित्वम्] बडी प्रतिष्ठा [अकल्पयथाः] प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तुम्हारी प्रतिष्ठा [त्वा] तुममें [आविशत्] अब भी पहले की सी हो ॥ ५५ ॥

[ये ग्रामाः] जो गांव या नगर [यत् अरण्यं] जो वन [याः सभाः] जो राजसभा न्यायसभा धर्मसभा आदि [ये संग्रामाः] जो युद्ध [याः च समितयः] जो बडी बडी परिषदें [अधिभूम्याम्] हमारी भूमिमें [सन्ति] हैं [तेषु] उन सबमें [ते] तुम्हारे बारेमें [चारु वदेम] अच्छा कहेंगे ॥ ५६ ॥

[यात्] जब [पृथिवीम्] भूमिमें कोई युद्ध आदिमें [आक्षियन्] आकर बसे या बसाया जाय तब [तान् जनान्] उन रहनेवाले मनुष्योंको [यः रजः] जो सेनाके चलनेसे उठी धूलि [अश्व इव वि दुधुवे] घोडोंके चलनेके समान उडी वह [मन्द्रा] प्रसन्न करनेवाली [अग्रेत्वरी] अग्रभागमें आगे जानेवाली [भुवनस्य गोपा] संसारकी रक्षा करनेवाली [वनस्पतीनां ओषधीनां गृभिः] वनस्पति और औषधियोंका ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख निवारण करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तैयार हूं। और प्रयत्नसे सब शत्रुओंको परास्त करूंगा। एक भी शत्रु रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहलेके लोग जब तुम्हारी स्तुति करते थे उस समय तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा महत्त्व अब भी फैलता रहे ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि! तुम्हारेमें जहां जहां नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम किंवा मनुष्य एकत्र हों वहाँ वहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न करें ॥ ५६ ॥

युद्धमें विजयी हो जानेपर सेनाके चलनेसे जब धूलि उडकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना समुदाय एकत्र होते हैं तब उस समयमें आनन्द मनानेसे एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सबको आनन्द देनेवाली, सब देशका संरक्षण करनेवाली और औषध आदि महत्त्व पदार्थ देनेवाली होती है। इसलिये अपने मातृभूमिके संपूर्ण मनुष्य सदैव ध्यानमें रक्खें ॥ ५७ ॥

यद् वदा॑मि मधु॑मत् तद् व॑दामि यदी॑क्षे तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒तिमानवान्यान हं॑न्मि दोध॑तः
शन्तिवा सु॑रभिः स्यो॑ना कीलालो॑घ्नी पय॑स्वती। भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृ
याम॒न्वैच्छ॑द्धविषां विश्वक॑र्मान्तर्ण॑वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
भुजिष्यं॑१ पात्रं॑ निहि॑तं गुहा यदा॑विर्भोगे॑ अभवन्मातृमद्भ्यः॑
सर्व॑स्यावप॑नी जना॑नामदि॑तिः कामदुघा॑ पप्रथा॑ना ।
यत् ते॑ ऊनं तत् त आ पू॑रयाति प्रजाप॑तिः प्रथमजा ऋतस्य॑

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बडी हो, हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर, [मा] मुझको [निधेहि] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातको जाननेवाली करो [कवे मां] हे क्रान्तदर्शी ! हमें [भूत्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग,दक्ष,दीर्घायु,बुद्धिमान, जागृतिसंपन्न रहें और मातृभू[illegible] लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥६२॥

हे मातृभूमि ! मुझे बु[illegible] और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्प[illegible]र देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

[illegible] समाप्त ॥१॥

यद् वदा॑मि॒ मधु॑म॒त् तद् व॑दामि॒ यदी॑क्षे॒ तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒तिमा॒नवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः
शन्ति॒वा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒लालो॑ध्नी॒ पय॑स्वती।भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी
याम॒न्वैच्छ॑द्ध॒विषा॑ वि॒श्वक॑र्मा॒न्तर॑र्ण॒वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
॥ ६० ॥
भु॒जि॒ष्यं१ पात्रं॒ निहि॑तं॒ गुहा॒ यदा॒विर्भोगे॑ अभवन्मा॒तृम॒द्भ्यः।
त्वम॑स्याव॒पनी॒ जना॑ना॒मदि॑तिः काम॒दुघा॑ पप्रथा॒ना ।
यत् त॑ ऊ॒नं तत् त॒ आ पू॑रयाति प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥ ६१ ॥

अर्थ- [यत्] हम अपने राष्ट्र या देशके सम्बन्धमें जो [वदामि] कहते हैं [तत् मधुमत् वदामि] वह हितकर और मधुर वदामि कहते हैं [यत् ईक्षे] जो देखते हैं [तत्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [अहं त्विषीमान्] हम प्रकाशमान, तेजस्वी, दीप्तिमान् और [जूतिमान] ज्ञानवान हों इससे [अन्यान्] दूसरे जो हमारी भूमिको दुःख देते हैं [अवहन्मि] उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[शन्तिवा] शान्तिकारक [सुरभिः] सुगन्धियुक्त [स्योना] सुख देनेवाली [कीलालोध्नी] अन्न की देनेवाली [पयस्वती] जहां बहुत जल हो ऐसी [मे पृथिवी भूमिः पयसा सह] हमारी भूमि भोग्य पदार्थ जो पीनेके काममें आते उनसे हमें [अधि ब्रवीतु] कहे ॥ ५९ ॥

[यत्] जब [विश्वकर्मा] सब काम करने वाले [रजसि अर्णवे] अन्तरिक्षमें [अन्तः प्रविष्टाम्] भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको [हविषा] अन्नादि पदार्थोंसे [अन्वैच्छत्] सेवा करनेकी इच्छा करता है तब [गुहा निहितं] गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ [भुजिष्यं पात्रम्] भोजनके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भ्यः मातृभक्तोंके [भोगे] उपभोगके लिये [आविः अभवत्] प्रगट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [त्वं जनानां अदितिः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुघा] इच्छित पदार्थोंको देनेवाली [पप्रथाना] बहुत ही योग्य [आवपनी] जिसमें अन्नको बोने वा गाडनेसे बहुत अन्न उत्पन्न होता है [असि] ऐसी तुम हो [यत् ते ऊनम्] जो तुम्हारेमें कमी है [तत् ते ऋतस्य] सो तुम्हारेमें जो यज्ञ किये जाते हैं [प्रथमजाः] सृष्टिके आदिमें प्रगट हुआ [प्रजापतिः] परमेश्वर [आपूरयाति] पूर्ण कर देते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा, जो कुछ हम आंखसे देखेंगे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करेंगे उनका हम नाश करेंगे ॥ ५८ ॥

शान्ति, रस, अन्न, पय आदि को देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और रस देनेवाली हो इस तरह और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां सब तरह के यज्ञ करनेवाले पुरुष मातृभूमि की सेवा करने के लिये कटिबद्ध होते हैं वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ सब प्रकारका भोग्य धान्य (जो केवल भक्तों ही के लिये है) भक्त उनके उपभोग प्रगट होता है। अर्थात् उनके उद्योगसे सारे पदार्थ उनको सहज ही मिल जाते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली है इसलिये जो तेरेमें कमी हो उसे परमेश्वर पूर्ण करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
ेँ न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
ंदाना दिवा कवे श्रियां मां धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बडी हो, हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर, [मा] मुझको [निधेहि] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातको जाननेवाली करो [कवे मां] हे क्रान्तदर्शनी ! हमें [भूत्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग,दक्ष,दीर्घायु,बुद्धिमान, जागृतिसंपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥६२॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिवान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥१॥



मातृभूमिका वैदिक गीत।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाता है। जैसे भारतीयोंकी भरतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदिसे बच्चेका देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दूधपर बच्चे का ही अधिकार रहना चाहिये, क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेको भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमिके बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियों को न देकर अपने ही सुखके लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बड़ा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चों की है।

एक कुटुंबका रहता है, उसी तरह देश यह एक बड़ा घर है; और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि इस राष्ट्ररूप घरपर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें तो वास्तवमें यह अपराध एक घरपर हमला करनेवाले डाकूके समान है। उसीके समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वरूपका यह अपराध है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राजकारभार तत्त्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान लोग इस तरहकी राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बड़े अपराधीको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घरके मालिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते हैं और दूसरों को उत्साहित करते हैं।

वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत भक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनंदोत्सव में, विजयोत्सवमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो यह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारंभसे राष्ट्रीयताकी कल्पना है, यह ऋषियोंके कालसे चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें काण्डका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखो—

१ ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्० (सायनभाष्य)

(अथर्व० १२।१।१)

" *ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।* " अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि का रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश को रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्तका निकट संबंध है। सब लोग जानते हैं कि राष्ट्रगीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य। (नक्षत्रकल्प १७)

" पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशांति करनेके समय इसका उपयोग करे। " देशमें या राष्ट्रमें जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे 'पार्थिवी महाशांति' यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें करनी पडती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पकर्ताका कहना है। " *भूमिकामः अर्थात् भूमीकी इच्छा करनेवाला या अपनी* मातृभूमिमें शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसने यह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के हितका काम करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य हतिकर्मणि। (कौशीतकी सूत्र. ५।२)

" (भौम) प्रदेशके वा राष्ट्रके (हतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।" "हति" का अर्थ 'आदर'। "हतिकर्म" का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सवके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसीको देखेंगे।—

१ पुष्टिकामः।
२ मोहिषवाणकामः।
३ मणिहिरण्यकामः।

(सायनभाष्य अथर्व० १२।१)

" पुष्टीकी इच्छा करनेवालेको, अन्नकी इच्छा करनेवालेको, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। " तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। यदि पाठक विचारें कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाये जाते हैं, तो वे सूत्रकार एवं भाष्यकारके कथनका रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्व के ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतित्वका या मल-कियतका हक बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त ' वास्तोष्पति ' गणमें हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहनेका है जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उपत बातोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृ-भूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रगीत ही है, तथा वह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

इस बाहरी प्रमाणोंका विचार करके ही अबतक हमने मातृ-भूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणोंका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमि की कल्पना है, वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम लोगोंमें " मातृभूमि " की कल्पनातक नहीं है, वे इन वचनोंका विचार अच्छी तरह करें और अवश्य देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं, तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० १२।१।१२)

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं। " हम ही देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृ-भूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
(ऋग्वेद ५।६०।५)

"संपूर्ण (पृश्नि-मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब (उत्-भिद) अपने ऊपरके दबाव को भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं। वे अपने (सौभगाय) धनके बढानेके लिये (सं-वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं। "

इस मंत्रमें " पृश्नि-मातरः " अर्थात् भूमिको माता मान-नेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले रहते हैं। उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें बंधुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिको अपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो फरक पडता है, वह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने व्यवहा-रका केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतने साफ तौरसे बतलाई है, इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मि-योंको यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढे और अपनी उन्नति कर लें। उसी तरह-

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।
(ऋग्वेद १।१३।९)

"(मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा ये तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं। वे सर्वदा

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्व० १२।१।६३)

" हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्थासे युक्त कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर । इसमें " भूमे मातः " आदि पदोंसे मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं । इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपेयं दधातु ॥ ३ ॥
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥ ४० ॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
(अथर्ववेद १२।१)

" वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे । वह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे । वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे । वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे । वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे । वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे । "

पिछले संबंधका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें ' भूमि ' शब्द ' मातृभूमि ' के अर्थमें आया है । " मातृभूमे हमारे लिये यह करे, वह करे" आदि रचना काव्यमय अलंकार है। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि "मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर यह फल मिले । " क्योंकि प्रत्येक काव्यमें इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है । इन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है । इस विषयमें यह मननयोग्य मंत्र देखिये—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
(अथर्ववेद १२ । १)

" वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे । " यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये। माता और पुत्रका संबंध दूध पीनेसेही शुरू होता है। माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं । गायका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है। भूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये वह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है । इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाग अर्थात् " मेरी माता मुझेही दूध देवे " और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले उपभोग्य पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे " आदि अपेक्षा जो भाव है, वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है। इस तरफ पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये ।

अब कोई यह भी कह सकता है कि " भूमि या हमारी भूमि " आदि शब्दोंसे " हमारी राष्ट्रभूमि " यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन किया हुआ है । यह संदेह योग्य है और उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सन्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।
(अथर्व० १२।१।८)

"वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे ।"

इस में "उत्तमे राष्ट्रे" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् " हमारी मातृभूमि में ' तेज और बल की बाढ होवे । " हमारी मातृभूमि में ' या ' हमारे राष्ट्र में ' आदि शब्दों का अर्थ यही है कि ' हम लोगों में ' या ' हमारे देशबांधवों में ' और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है। परन्तु "हम लोगों में" या "देशबांधवों में तेज और बल बढे" कहने से यह कहना कि "हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढे ' उच्च भावना प्रदर्शित करता है। इसी दृष्टि से "मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ रस भरा हुआ है ।

अब इसी मंत्र के "उत्तमे राष्ट्रे" (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं। उसका अब विचार करना चाहिये । राष्ट्रभक्तों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है । इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की महत् आकांक्षा होनी चाहिये कि 'हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो ।' 'तर,तम' तुलनात्मक उच्चता बतलानेवाले प्रत्यय हैं । ' उत् ' उत्तर

और उत्तम' उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं। "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है। राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदशामें हो। इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचे और वे उस लक्ष की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव हैं और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्त्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। वाचका स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है। जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है। यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अयोग्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है। जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसलिये श्रद्धा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं। उन गीतोंसे देखनेसे सिद्ध होता कि हमारा धर्म शुरूसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है, वह अपने धर्मका मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति।

इस में गोवैध विद्ध बातों की ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, यह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा। अध्यात्मज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है। अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है। इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है!' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि वह विषय कैसा होना चाहिये।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्त्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी। पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया। यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है। रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया। तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश किया। इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के ३३ कोटी देवोंसे बंदिवास से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य राष्ट्रोंका यश उज्ज्वल बना दिया।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके राष्ट्रके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय तपश्चर्या करनेका चेत हुआ था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामने

उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखन के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं, उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड
सूक्त दूसरा केनसूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।
सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना
सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौको दु:ख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड
सूक्त१ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)
,, २ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)
,, ३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)
,, ४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)
,, ५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)
" ६ कालचक्रवर्णन
" ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)
" ८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)
" ९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।
द्वादश कांड सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि " ब्रह्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा। " वाचकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जाननेके लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
(अथर्ववेद कांड १० सू २)

" आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव है, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। " यह हृदयस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तमेंसे शत्रुको छिन्नभिन्न करनेके मंत्र देखो—

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः।
(अथर्व० १०।३।१)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥
अथर्व० १०। ६।१

" दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं। " इस तरह ये सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंमेंका वेदान्तवर्णन देखो—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
(अथर्व० १०।७)

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
अथर्व० १०।८

" चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। नौ दलके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं। " यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद उसीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र देखो—

अपायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ॥
(अथर्व० ११।९।१)

और उत्तम' उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं। "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है। राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदशामें हो। इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचें और वे उस लक्ष की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। वाचक स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है। जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है। यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अयोग्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है। जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं। उन गीतोंको देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरूसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है, वह अपने धर्मका मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति।

हम लोगोंमें धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, यह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा। अध्यात्मज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है। अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है। इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी। पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया। यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है। रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया। तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश किया। इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के ३३ कोटी देवोंको बंदिवास से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियोंका यश उज्ज्वल बना दिया।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्रके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनताने आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामके

उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान शत्रुनाश इच्छा के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं, उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड
सूक्त १-२। केनसूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।
सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना।
सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड
सूक्त१ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)
,, २ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)
,, ३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)
,, ४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)
,, ५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)
" ६ कालचक्रवर्णन
" ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)
" ८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)
" ९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।
द्वादश कांड सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि "ब्रह्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा।" वाचकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जाननेके लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥
(अथर्ववेद कांड १० सू २)

"आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव है, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं।" यह हृदयस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तमेंसे शत्रुको छिन्नभिन्न करनेके मंत्र देखो—

सेनारमस्य त्वं शत्रून् प्रमृणीहि पुरस्थतः।
(अथर्व० १०।३।१)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा॥
अथर्व० १०।६।१

"दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं।" इस तरह ये सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंमेंका वेदान्तवर्णन देखो–

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
(अथर्व० १०।७)

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥४३॥
अथर्व० १०।८

"चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। नौ दलके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।" यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद उसीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र देखो–

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्॥
(अथर्व० १० । ९।१)

हो रहे हैं, केवल अपनी सेनामें तोपें हैं इसलिये दूसरों को कष्ट देना और दूसरों की उन्नति कम करनेके जो राक्षसों के समान भयंकर काम हो रहे हैं; यदि इ एक देशमें अध्यात्म-ज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जावेंगे। राष्ट्र की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बडी महाशक्ति है, उस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्य ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी साम्राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि उच्च बनानी चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्तिका उपयोग करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिताको बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्मने ही पहले पहल सब जगत् को प्राचीन कालमें बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन काल में भरतखंडमें जारी थी तथापि वह बादमें लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करनेके लिये [redacted] स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करनेपर जगत् में शांति रखनेका महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्धके पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्त्व क्या है, यह थोडेमें बतलाया है। वास्तवमें यह बात विस्तृत करके लिखनी थी। परन्तु वैसा करनेके लिये जगह नहीं है। इसलिये यह विषय सारांशमें दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है।

यहांतकके लेखमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रगीतके संबंधमें सामान्य परिचय होनेके लिये जितनी बातें आवश्यक हैं उतनी दी हैं। उससे वाचकोंको मालूम हो जायगा कि [redacted] राष्ट्रगीतका विचार राष्ट्रपुष्टि की दृष्टिसे कितना महत्त्वका है। अब हमें यह देखना है कि [redacted] राष्ट्रगीतके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहलाही मंत्र देखना चाहिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥
(अ० १२।१।१)

'सत्य, सीधापन, उग्रता, दक्षता, तप, ज्ञान और यज्ञ आदि गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान स्थितिका पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देवे!'

इस मंत्रके पहले आधे भागमें यह साफ तौरसे बतलाया है कि मातृभूमिको कौन कौनसे लोग धारण कर सकते हैं। यह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्रको धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं, वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढानेके लिये कारणमात्र हैं। यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट है और उसे वाचकोंको देखना चाहिये।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय गुण 'सत्य' है। जिन मनुष्योंमें सत्यप्रियता, सत्य-पालनमें आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्यका आग्रहसे पालन करते हैं, वे ही स्वराष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। सूक्तका आरंभही 'सत्य' शब्दसे हुआ है। सूक्तके आरंभका शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक महत्त्वका होता है। इस विचारसे भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयतामें 'सत्य' अत्यंत महत्त्वका गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्यका बल पाकर निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजाके विरुद्ध सामने आ सकती है। और विजय भी पा सकती है। सत्यके व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संसारके अन्य लोगोंकी तुलनामें अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालन के अभ्यास ही से सत्याग्रहका मार्ग सफल हो सकता है। यदि भारतवासी जान लें कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है, साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी गुण से ही उनका भूतल कल्याण होगा।

इसके आगेका गुण ऋत अर्थात् सीधापन है। यह भी सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उसका आचरण सत्यके बाद होता है। जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है, उनकी मरकी उन्नति होना असम्भव है। वे इस जगत होंगे इतनाही नहीं बल्कि उनमें जितना

रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अभेदकी ओर ही ध्यान देकर सबका उत्कर्ष हो।

मंत्रमें ' अ-सं-बाध ' शब्द है। वह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्यों-का दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे-को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जीवित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातियोंमें ' संबाध ' उत्पन्न होता है। जातिजातिके झगडे, विरोध आदि बातें इस शब्दसे बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही का नाम ' संबाध ' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति—जातिमें, समाज—समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

' यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम् ।'

' जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वैरभाव रहता है।' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंको उत्तम धन दे सकती है। परंतु जिस भूमिके लोग आपसमें वैरभाव रखते हैं, वहांकी जनता भूखा पेट रहता है। कोई ऊंचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी, पर सारे हृष्टपुष्ट हों। उनको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणाधिक्यके घमण्डसे उन्हें गुणहीनोंको या न्यून गुणवालोंको न दबाना चाहिये। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न लडकर दोनोंको अपनी शक्तियोंका मेल करना चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी वेदीपर चढा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्वतः) उच्चता, (समं) समता, और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। बडा विद्वान् ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनु-ष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके घमण्डसे और बलवान् शक्तिके घमण्डसे एक दूसरेके सिर न चढें, किंतु दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक भेदोंके रहते भी अभेद-भावसे अपना मार्ग निकालें। जो मनन करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगडे उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नतिके मार्गमें आगे आता है। जो अपना परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगडे ही बढाते हैं, वे दो पैरवाले होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढनेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, वह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें, चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथका क्या दोष ? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्यका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रको अब देखिए—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं
चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। इन मानवोंको प्रतिदिन उगनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।"

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि ' हम मनुष्य भूमातासे [त्वत् जाताः] ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है। यदि नहीं रखते तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्न-तिके योग्य कार्य कर सकेगा। मातृभूमि हमारी अचेतन (जड) या काल्पनिक माता नहीं, वास्तविक माता है। यह अनुभव जिसका जागृत होगा, वही तो सच्चे भावसे यह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करेंगे तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगडे होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवासियोंमेंसे किसी भी जातिके लोग न रखें। इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि 'हम सब मातृभूमिके बालक हैं।' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपसी फूट की यह अकसीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके क्यों न हों, या उनमें जाति और वर्णके कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्रधर्मसे बंधे जावेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पादोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि यही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमिकी रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावेगी और तब हमारी आफत होगी, हमें भूखों मरनेकी नौबत आवेगी। इसपर विचार न करेंगे ?

इस विचारको मनमें न रखा कि "हे मातृभूमि ! हम तेरे बालक हैं।" हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथोंके हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही भावना हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह भावना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नहीं सकते। वाचक देख सकते हैं कि अथर्ववेदके इस वैदिक राष्ट्र-गीतके प्रत्येक मंत्रमें कैसे महत्वका उपदेश किया है। हमारी वर्तमान गिरी दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्न ही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उसके उपदेशोंको कार्यमें परिणत करें।

यहांतकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखोंसे वाचकोंको निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके जैसे उच्च तत्वोंका समावेश हुआ है, वैसे तत्व अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं है। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्वके कारणसे ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी स्थानके प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्वकी पुण्यमयी घटनासे संबंध हो, या उसका किसी महात्मासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है–

" हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिको परमेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए। जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बनाए हैं, हमारे नगरोंसे देवोंका संबंध है, देवोंका देवत्व हमारे नगरोंने देखा है। इस प्रकारका जीवित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहासमें उल्लेख है कि हमारी हिंदभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्यासे और रामेश्वरसे है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोकुल वृंदावन, तथा द्वारकासे है। इंद्रका संबंध इंद्रप्रस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवोंका संबंध है। नदियां, तालाब, सरोवर, पर्वत-शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंमें देवदेवताओंका या पुण्य पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका हाल ग्रंथोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंको भी कथा-पुराण आदि सुननेसे मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलासके पर्वत-शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है। बद्रीकेदारके आश्रमका संबंध नर-नारायण ऋषिमुनियोंसे है। मातृभूमिकी दृढ भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंको विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि 'यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।' बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक लाभके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिए नहीं कि माता सुंदर है या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्योंकि 'मातृदेवो भव' के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम, निःसीम, आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है यह बात सब लोगोंको मालूम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवोंने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक या व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हों, वे भले ही वैसा करें। उसमें किसीकी रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उस कोटिकी ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होवे इसी गरजसे सबको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवोंसे या ऋषियोंसे है।

प्रतापगढसे तथा सिंहगढसे शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपुरसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध परलीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थानका जिस स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्कृत्यका जवाब पूछनेको तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुलानेमें दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा, महत्तीर्थका नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्डको भग्न किया, काशी मथुराका बाप मोहरिबर्ग कर डाला, श्री शंकराचार्यके स्थानको तख्त-ए-सुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों धारोंके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजोंका राज हुआ तब उन्होंने धवलागिरीके गौरीशंकरका नाम मौंट एवरेस्ट रख दिया और शिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके शिखरके अंग्रेजी नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसल्मानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलात्कारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मांतर करा रहे हैं । वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ-स्थानमें खडे रहकर उसकी निंदा करते हैं । इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय ।

विजेता मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है । जित लोगोंके हृदयसे मातृभूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं । मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति उत्पन्न होनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा तबतक विदेशी जेताओंके पैर जम नहीं सकते । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेते जाती हुई पादाक्रांत जनताकी मातृभूमिके प्रेमके सब चिह्न जलदी मिटानेका प्रयत्न करते हैं । संसारके इतिहाससे वाचक इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं । पुष्टि देखनेपर ही उन्हें ऊपरके मंत्रके उपदेशका रहस्य विदित होगा ।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगोंको मालूम हो कि हमारे देशके नगर देवोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजोंका उनसे जो संबंध है उसका स्मरण रहे, बडे बडे महात्माओंके चरणरजका स्पर्श होनेसे वे स्थान तारक हो गये हैं । वेदमंत्रने ऊपरके राष्ट्र-नीतिके इन भावोंका साम परिचय करा दिया है । अतएव पाठक इस मंत्रका जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा ।

स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये ।

देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव मालूम होनेका महत्त्व जो ऊपरके मंत्रमें बतलाया गया है वह कैसे भारी महत्त्वका है, सो अपने देशकी जन स्थितिसे सहज ही समझ सकते हैं । आज जो सात करोड भारतीय मुसलमान हैं, वे नब्बे प्रति-शत हिंदू ही हैं । पर धर्मांतरके कारण वे हिंदुओंके बाहर हैं । इसीलिए बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति उनमें अपनेपनके भाव नहीं है और विदेशके मक्का, मदीनासे उन्होंने नाता जोड लिया है । इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होती । वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्र-की उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका कैसा भारी नुकसान हुआ है । धर्मांतरके बारेमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी नीति उचित रखी होती, तो आज यह दशा न होती । हमारी इस वर्तमान दशाको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रपर विचार करना चाहिये, तब उस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोल उपदेशका रहस्य मालूम होगा ।

ऋषि-ऋण ।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमिमें पूर्वके ज्ञानी, देशका भूतकाल बनानेवाले ऋषियोंने सत्र और यज्ञ करके तथा तप करके सब (गाः) भूमियोंका उद्धार किया " वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है ।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देशका भूतकालका इतिहास

भावना मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होंने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्ही प्राचीन ऋषियोंके वंशज होते हुए भी धर्मांतरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देदीप्यमान इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया। इससे इनकी बात छोड दें तब ऊपरके सिद्धान्तका कोइ इन्कार नहीं कर सकता।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत,कितनी अनेकानेक दृष्टिसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीत-के प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धतिका स्वरूप हम स्वतंत्र लेखमालिकामें दिखावेंगे, अतएव यहां उसके बारेमें विशेष न लिखेंगे। पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और सत्र आजकलके समान छोटेसे मंडपोंमें नहीं हो सकते थे। उनके मंडपोंका विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एकही बात बतला देगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथक परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें " भूतकाल बनानेवाले ऋषि " कहकर उनका सन्मान किया है। इसीके संबंधका निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देखिये—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
(अथर्ववेद १९।४१।१॥)

" लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र,बल और ओज हुआ। अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें।"

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि ' भूतकाल बनानेवाले ' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव अविनाशी है। उसे पुष्ट करनेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये। उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

देव-ऋण।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५॥

" हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया; जो गौवें, घोडे और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां कीं, अनेक चढाइयां कीं, गनीमी नीतिके युद्ध किये और खुले मैदानमें लडाइयां कीं, इतना सब काम करके अपनी मातृभूमिका यश उज्ज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है? हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका बर्ताव उस इतिहासके योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिको शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण! विचार कीजिये। हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है जरा सुनिये तो।

जिस देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा दी! कैसे शोक की कथा!! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल हमें अभिमान और गर्वके लिए नहीं कही जाती। उनके कहनेका उद्देश यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्योंसे हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उन उद्देश की पूर्ति हम लोगोंसे कहां तक हो सकी है यह देखें और उस न्यूनताको पूरा करनेका निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशोंके धर्मग्रंथोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नति के विषयमें उदासीन हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशा को देखकर कैसा भारी आश्चर्य होता है! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। उसमें समस्त विषयोंके

७ सूर्यत्वक्--महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बड़ा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं. २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वः)-विश्वका यही निवासक है। (मं. ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसीभी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूजनीय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी 'ब्राह्म उपासना' करनेका विधान बड़ा महत्त्व-पूर्ण है।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा। (मं० १)
२ नमस्यः। (मं० १,२) नमस्ते अस्तु। (मं० २)
३ विक्षु ईड्यः। (मं० १)
४ सुशेवाः। (मं० २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ 'ब्रह्मयज्ञ' अथवा मन द्वारा करने की 'मानस उपासना' ही है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन इन्द्रियोंका नामही शरीरमें ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मन भी है और मंत्रका आशय 'मनन' है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिए यहां 'ब्रह्मणा' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका अर्थ ऐसा होता है—

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा—उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। (मनन)
२ नमस्यः [नमस्ते] —तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। (नमन)
३ विक्षु ईड्यः—सब जनतामें तू ही प्रशंसा करनेके लिए योग्य है। (सर्वत्र दर्शन)
४ सु—शेवाः—तूही उत्तम सेवा के लिए योग्य है। (सेवन)

है । मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है ।

३ " दर्शन " मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है । स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च अवस्था है। जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है ।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और 'भजन' ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं- सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है ।

'दीनों का उद्धार ' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं। इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिए मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा । ' राम ' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा । ' नामस्मरण ' का यही उद्देश्य है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं, वह पाठक विचारसे जानें और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्गदर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये ।

अस्तु । ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही सीधा, सरल और अतिसुगम मार्ग है।

ब्राह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं-

१ तं त्वा यौमि-परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना। (मं० १)

२ द्वेष्यस्य हरसः अवयाता-परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्राप्ति से दूर हो जाती है । (मं. २)

३ मृडात्-वह आनंद देता है । (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है ।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये इस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये-

अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्वके आश्रयसे कार्य करनेवाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही ' अप्सराः ' शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन-

१ क्रन्दाः-पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली। प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है।

२ तमिषी-चयः—(तमिषी) ग्लानी अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है। जो उत्साह प्राणीमात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है।

३ अक्ष-कामा - (अक्षि+कामा) आखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली। पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आखोंको तृप्त कर सकता है। मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आख तृप्त नहीं होते। इससे आखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है।

४ मनो-मुहः-मनको मोहित करनेवाली। इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं। पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें। इनको (मंत्र ५में) 'गधर्व-पत्नी अप्सरा' कहा है। गंधर्व इस शरीरके अदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण (अप्+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है। इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मत्रमें किया है। प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राण का महत्त्व जाना जाता है। पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है, इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है। जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राण को नमन किया है।

प्राण का प्राण।

यहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र? 'पत्नी' शब्द कहने मात्रसेही यह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है। इसलिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहिये। जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है। इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते। इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है। उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती। इसलिये जो वर्णन, प्रशंसा या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका- अर्थात् आत्माका- है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। इसी कारण यहांका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही महत्त्वसे है, न कि केवल प्राणके लिये।

पतिकी सत्ता देखनी होती है,पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल,आमका वृक्ष,सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक " गंधर्व " सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्य) नमस्कार करने योग्य है,यह जो प्रथम और द्वितीय मन्त्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्य) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होता। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है--

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नम ॥ (मं ५)

' उन गधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हू।' पहिले दो मंत्रमें ' एक ही जगत्पालक गधर्व नमस्कार करने योग्य है ' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए ' उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है ' यह विरोधालकार है। पहिले कथन के बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस दृष्टतम विरोध भी समबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परतु--

एक एव नमस्यः। (मं० १,२)

' यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मत्रोंमें (मं ४,५में) उसकी पत्नियोंको ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिए।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंकी करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है।

परंतु यदि ' आत्माके लिए नमन नहीं है, ' ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको--मृत शरीरको--नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की हैं, परतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हरएक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि--प्राण।

यहा वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती है,और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धि कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये--

शरीर ---- इंद्रियां ---- ' प्राण ' ---- मनबुद्धि ---- आत्मा

दृश्य --x----o--------x-- अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसी लिए स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इससे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करनेवाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ- एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना असंभव है; इसलिए चेतन आत्माको शक्ति जाननेके लिए स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूल के आलंबन से सूक्ष्मकी कल्पना की जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४, ५) में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जड चेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रखकर जहां सूक्ष्मकी शक्तियाँ प्रारंभ होती हैं, वहां उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। और सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूर्य चंद्रादि पदार्थों के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में— हरएक पदार्थमें— उसकी प्रभाका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिए। तभी तो उसको नमन हो सकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाश का तेज परमात्माका है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिए। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें हो सकती है। यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है-

मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये। इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये--

प्राणोंका आना और जाना।

समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

'समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं।' इस मंत्रोंमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है। (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जाती हैं, प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक 'आना' और दूसरी 'जाना' है। श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं। प्राण अपान ये भी दो नाम हैं। एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है। ये दो गतियां सबको विदित हैं।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि-

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४ (६) २१

'यह (हंस:) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता। न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व० ११।४ (६) २१) 'प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी। यही बात इस सूक्तके तृतीय मंत्रने कही है। हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता, यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है। यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है।

प्राणोंका पति।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं। मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं। प्राणको अप्सरा शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है। इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये--

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं० ३)

'इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गन्धर्व सगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है।'

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है– ' इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी वह सर्वधारक आत्मा रहता है । '

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि इस के हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है। इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायगे। सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है । इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम् । यजु० अ० ४०।१७

' (स॰) वह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं । ' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें । परंतु यहां केवल अपने अंदर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बडे ब्रह्माड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुषमें कल्पना करना है। इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्माका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करना चाहिये ।

जिस प्रकार प्राणीके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है । इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं। दोनों स्थानोंमें शक्तियां एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है । इसीलिये अपने अंदरकी व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है ।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्व व्यापक सत्ता देख सकते हैं । वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है । वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है ।

इसकी प्रांती मानस उपासनासे करनी चाहिये । इसको सब स्थानमें उपस्थित जानकर, इसको नमन करना चाहिये । हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है ।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगतमें किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है । वह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगतमें चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है ।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी यह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये । इसके सामने सिर झुकाना चाहिये ।

सब जगत्में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे हो है । यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये ।

' मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन ' करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये । ' सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन ' रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना हो उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये ' दुःखियोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये । ' इतना विशाल यह गंभीर आशय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है । पाठक इसका अधिक विचार करें ।

— ०: —

आरोग्य–सूक्त ।

(३)

[ऋषिः-आङ्गिराः । देवता-भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।]

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् । तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अर्थ-(अदः यत्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है । (तत् ते) वह तेरे लिये ऐसा (भेषजं कृणोमि) औषध करता हूं (यथा सुभेषजं असासि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥

हे (अंग अंग) प्रिय! (आत् कुवित्) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तेरेसे उत्पन्न होनेवाले (शतं भिषजानि) सैकडों औषधें हैं, (तेषां) उनमेंसे (त्वं) (अनास्रावं) घावको हटानेवाला और (अ-रोगणं) रोगको दूर करनेवाला (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥

(असु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य (इदं महत् अरुस्-स्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषधको (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोग का नाश करता है ॥ ३ ॥

(उपजीकाः) जलमें काम करनेवाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्धरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥

(इदं अरुस्- स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला (महत्) बडा औषध (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् उ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकानेक औषधियां बनायी जाती हैं, परंतु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्रावको ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥ २ ॥ प्राणको बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी घावको ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ वह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांतिदायक हों। (इन्द्रस्य वज्र) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे। तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषव.) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों। हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका 'असुर' शब्द ' प्राण रक्षक ' वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायी जाती हैं, और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायी जाती हैं। इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करें। इस समय इस सूक्तमें सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, यह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें ' हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय ' ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जो एक दूसरेसे संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होनेसे जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है। इस लिये इस समय हम सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ हैं।

जङ्गिड-मणि ।

(४)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वार्य बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ-(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंद के लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न सडने वाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे (अभि-शोचनात्) रोनेकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (विस्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अत्त्रिणः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस ही है, वह (नः अंहसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

-(देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिसे (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्यों कि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आखोंमें रोनेके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है; इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥ ३ ॥

थोर पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्। अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः । अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ-(शणः च) सण और (जंगिडः च) जंगिड ये दोनों (विष्कंधात्) शोषक रोगसे (मा अभिरक्षताम्) मेरा बचाव करें । इन में से (अन्यः) एक (अरण्यात् आभृतः) वन से लाया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥

[अयं मणिः] यह मणि [कृत्या-दूषिः] हिंसासे बचानेवाला है [अथो] और [अ-राति- दूषिः] शत्रुभूत रोगों को दूर करनेवाला है [अथो] ऐसा यह [सहस्वान् जंगिडः] बलवान जंगिडमणि [नः आयूंषि तारिषत्] हमारे आयुष्योंको बढावे ॥ ६ ॥

भावार्थ- सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥

यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगोंसे दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥ ६ ॥

सण और जंगिड ।

इस सूक्तमें ' सण ' और ' जंगिड ' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं० ५) । शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषामें भी इसका यही नाम है । सणके विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है-

१ शणपुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च ।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.
२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ राजनिघंटु व. ४.

" (१) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है। (२) शणके ये गुण हैं—खट्टा, कषाय रुचीवाला, मल-गर्भ—रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है । "

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें । यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५)। यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है। सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है । रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है । इस सण का नाम ' त्वक्सार ' है, इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है। व्यायाम करनेके समय जब पसीना आता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं ।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है ।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

' शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें ' यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे हो गये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है । जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।

जंगिड मणिके लाभ ।

१ दीर्घायुत्वं—आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है। (मं. ६)

२ महत् रणं (रमणीयं)—बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः—अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ दक्षमाणः— (दक्षं) बल बढाना, बलवान् होना। (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः—शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः—इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः—इसमें सब औषधियां हैं। (मं. ३)

८ मयोभूः—सुख देता है। (मं. ४)

९ कृत्यादूषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति-दूषिः—आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ सहस्वान्—बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है। (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भात् पातु—जमुहाई जिससे बढती है वह शरीरका दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु—जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है। (मं. २)

१४ वि-स्कंधात् पातु—जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है। (मं. २)

१५ अभि-शोचनात्—जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है। (मं. २)

१६ अत्त्रिणः बाधते— (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं. ३)

१७ अंहसः पातु—पापवृत्तिसे बचाता है, अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं. ३)

१८ रक्षांसि सहामहे—रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है : [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोग जन्तु शास्त्र ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आखसे दिखाई नहीं देते। ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है। इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरको उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है। यह बडा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला। तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये वचाके गुण—

१ वचागुणाः— तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च। राजनिघण्टु व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी।

३ वचापर्यायाः ' मङ्गल्या। विजया। रक्षोघ्नी। भद्रा।'

'(१) वचाके गुण—तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली। वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली। वमन करानेवाली। उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है।

(२) वचासे आयुष्य बढता है, वात-कफ-तृष्णाका नाश करती है। स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है।

(३) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ-(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (रक्षोघ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली।'

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुण धर्मोंमें समानता है। पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनके गुणधर्म समान हैं। इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा। यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (मं. १) आयूंषि तारिषत् (मं. ६)
२ रक्षोघ्नी। भूतघ्नी	—	२ रक्षांसि सहामहे (मं. ४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	—	३ जम्भाद् पातु (मं. २) आभिशोचनात् पातु। (मं. २)
४ मंगल्या, भद्रा स्मृतिवर्धनी।	—	४ अरिष्यन्तः (मं. २) दक्षमाणाः। सहस्रवीर्यः (मं. २)
५ विजया	—	५ अरातिदूषिः (मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	—	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	--	७ विश्वभेषजः (मं. ३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुणधर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं। इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा। केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं बर्ती जातीं,अथवा नहीं बर्तीजानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है,तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि लीजाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है।

चरकादि ग्रंथोंमें जहां बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है। इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा। तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं। सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें।

मणि धारण।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है? क्या इससे तावीज, कवच, धागा, डोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है। इस लिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो 'जंगिडमणि' का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियोंका वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नतर—

अरण्यादन्य आभृतः।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ (मंत्र. ५)

'एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है।' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें 'आ-भृतः' शब्द है, इसका तात्पर्य '(आ) चारों ओर से (भृत) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है,' ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इसलिये जंगिड-मणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और शास्त्र विषय है इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी है, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके लकडीके मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस विषयका अनुभव हमने कई बार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी लकडीका बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रत्न और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जांय तो रोगोंका दूर होना शास्त्रदृष्टिसे सुसंगत प्रतीत होता है।

वचा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि वचाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रख सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उन रोग होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई बार प्रयोग भी किया है और लाभ ही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार प्लेग जैसे संसर्गजात रोगके दिनोंमें "इस्तंजिया" नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्टर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु मुंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वासकी बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक पिछान करनेकी (शेषो

खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें। वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है।

खोजकी दिशा।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा। श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें काशी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है। इसकी गंधसे अर्थात् उग्रवासासे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोग जन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं। यही कारण है कि वचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, वा उनकी बाधा नहीं होती है। प्राय छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जन्तुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजन्तु वचा का उग्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं। ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पुदीना, लसुण, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक हैं। आर्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है। यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पतिकी जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है। इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये सानुरोध प्रार्थना करते हैं।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य।

प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही ' जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात ' कही है। यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है। इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये।

रोग—आधि और व्याधि—यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है। जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे नीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होती है। परंतु वेदमें सेकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है। यदि दीर्घायुष्य होता है या नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी, क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्र में कहे हैं। इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है। इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंके मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

जंगिडमणि (Disinfectant) रोगबीजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा। इसलिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें।

शताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है। सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे। इसलिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है। जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है।

बलवर्धन।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं। 'अ-रिष्यन्तः। दक्षमाणाः' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए,बलिष्ठ होनेवाले' यह है। रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है। परंतु थोडासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करने के लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिये। यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है। इसका अर्थ बलवान होना है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि-

बल और विजय।

इस गुणकी बडी आवश्यकता है। रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है। जितना बल बढेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है। पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्व पूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें।

दूषण।

इस सूक्तमें 'दूषण, दूषि' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है। देखिये-

विष्कन्ध दूषण –विष्कन्धको बिगाडनेवाला

कृत्या दूषि –कृत्याको दोष लगानेवाला

अराति दूषि –अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यहां सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो। वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है। परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाईमें दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है,शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है।

अत्रि ।

वेद मंत्रोंमें ' अत्रि ' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है । इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इसलिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है ।

'अद्'(खाना)इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ 'भक्षक' है । दूसरा 'अत्'(भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है । पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है । यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है । दूसरा अत्रि शब्द 'भ्रमण करनेवाला' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है । मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल होजाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द हो सकता है । इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा । परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इसलिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो । तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त महत्व पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है । पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है ।



क्षत्रिय का धर्म ।

(५)

(ऋषिः - भृगुः आथर्वणः । देवता - इन्द्रः)

इन्द्र॑ जुषस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।
पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥ १ ॥
इन्द्र॑ ज॒ठरं॑ न॒व्यो न पृ॑णस्व॒ मधो॑र्दि॒वो न ।
अ॒स्य सु॒तस्य॒ स्व१॒॑र्णोप॑ त्वा॒ मदाः॑ सु॒वाचो॑ अगुः ॥ २ ॥
इन्द्र॑स्तु॒रा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न ।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑सहे॒ शत्रू॒न्मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥
आ त्वा॑ विशन्तु सु॒तास॑ इन्द्र॒ पृण॑स्व कु॒क्षी वि॒ड्ढि श॑क्र धि॒येह्या नः॑
श्रुधी हवं॒ गिरो॑ मे जु॒षस्वेन्द्र॑ स्वयु॒ग्भिर्म॒त्स्वेह म॒हे रणा॑य ॥ ४ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वह) आगे बढ ! (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ । (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिए (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (दिवः न) स्वर्गीय आनंद के समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो । [अस्य सुतस्य] इस निचोडे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान खुशी और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २ ॥

(यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुराषाट् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने [वृत्रं जघान] घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा [भृगुः न] भूननेवालेके समान जिसने [वलं बिभेद] शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥

हे [शक्र इन्द्र इन्द्र] शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा आ विशन्तु) निचोडे हुए ये रस तुममें प्रविष्ट हों । (कुक्षी पृणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और [विड्ढि] शासन कर [धिया नः आ—इहि] अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर । और [इह] यहां [महे रणाय) बडे युद्ध के लिए (स्वयुग्भिः) अपनी योजनाओंके साथ (आ मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ । अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर उधर जा । और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये शुद्ध बलवर्धक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥ २ ॥

पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है । जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार वह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और आनन्दित होकर शत्रुका पराभव करता है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचं) इन्द्रके पराक्रम मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं। (यानि प्रथमानि) जो पहिले जैसीके पराक्रम [वज्री चकार] वज्रधारी इन्द्रने किए थे। उसने [अहिं अहन्] कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और [अपः अनुततर्द] प्रवाहोंको खुला किया और [पर्वतानां] पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अभिनत्)भाग तोड भी दिए ॥५॥

(पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अहन्) वध किया। [अस्मै] इसके लिए (त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष) कारीगरने तेज शस्त्र बना दिया था। (वाश्राः धेनवः इव) रंभाती हुई गौवोंके समान (स्यन्दमानाः आपः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

(वृषायमाणः) बलवान् वीर [सोमं अवृणीत] सोम रसको प्राप्त हुआ। (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया। (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) इन्द्रने बाण रूप वज्र लिया और (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे शक्तिमान् शूरवीर ! सब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना अपना पेट भर दे। उस समय तू अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार श्रवण कर तथा बडे जीवनकलह में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी तेजस्वी शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुरुषके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूं, जो कि उन्होंने किये थे। बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके मार्गोंको तोडकर जंगल भी साफ किया ॥ ५ ॥

पर्वतके मार्गोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये थे। जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास आती हैं उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है। धनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखता है और बढने वाले शत्रुके अग्रणी वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है।] ॥ ७ ॥

क्षात्रधर्म ।

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है। इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका बोधक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है। इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर क्षात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये-

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्+द्र) = शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु के-वध नाश करनेवाला। (मं. १)
२ शूरः = शूरवीर। (मं. १)
३ महान = बडा, श्रेष्ठ, तेजस्वी, बलवान्। शत्रुका संहार करनेमें समर्थ। (मं. १)

४ मित्रः = जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । (मं. ३)
५ यतीः = प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । (मं. ३)
६ भृगुः = भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला । (मं. ३)
७ तुराषाट् = त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)
८ शक्रः = समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)
९ वज्री = वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं. ५)
१० वृधायमानः = अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला । (मं. ७)
११ मघवा (मघ-वान्) = धनवान् (मं. ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं। इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है। क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहियें उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये। शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इन सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहां प्राप्त होता है। पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें। अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य ।

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि = हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर। घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये। (मं. १)
२ प्र वह = आगे बढ। क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके। चढाई में ढिलाई न रहे। (मं. २)
३ वृत्रं जघान = घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो। (मं. ३)
४ बलं बिभेद = शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे। (मं. ३)
५ शत्रून् ससहे—शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं. ३)
६ विराजि (वा विराजि) = उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं० ४)
७ महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व = बडे युद्धके लिए अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु हमला करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं० ४)
८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे। (मं० ५)
९ पर्वतानां वक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बहनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं० ५)
१० अपः अनु ततर्द = जलके प्रवाह शत्रुके आधिकार में हों तो उनको सबके लिए खुले करे। [मं० ५]
११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। [मं० ६]
१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष = इसके लिए लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंसे शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके ले। [मं० ६]
१३ सायकं वज्रं आ अदत्त = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। [मं० ७]
१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन् = लडनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। [मं० ७]

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए–

राज्य शासन।

१ मित्रः–प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। [मं० ३]

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व—पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। [मं० ४]

३ अपः अज्राः समुद्रं अवजग्मुः—समुद्रतक बहने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। [मं० ६]

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिए—

प्रजासे सन्मान।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः—तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है। [मं० २]

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यकही होता है। इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्ति गत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं–

भोग।

१ सुतस्य मधोः मदाय पिब—सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिए कर। [मं० १]

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतियोंमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सातम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं–

२ सुतस्य मधोः जठरं पृणस्व। (मं० २)

३ सुवासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। [मं० ४]

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं० ७)

इन मंत्र भागोंका भी यही भाव है। [२] सोम रससे पेट भर दे। [३] सोम रस से दोनों कुक्षियां भर दे, [४] निचोडा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन वार पिओ। यह सोम रस मधुर रुचिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, थकावटको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, बुद्धि बढानेवाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है।

सोम और मद्य

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराब मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता। सोम, सुरा, वारुणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिये हम कहते, हैं कि इन शब्दोंका अर्थ पाठक अवश्य स्मरण रखें–

१ सोम = सोम वल्लीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भूने धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है । इसके गुण ऊपर दिए हैं ।

२ सुरा = किसी रसकी भाप बना कर फिर उसको शीतता देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है। (Distilled water) पानीकी भाप बनाकर फिर उस भाप का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भाप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है । किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है । यह शुद्धिकी रीति है । आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है ॥ वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्तविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ वारुणी, अमरवारुणी = ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं । इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है । परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिए ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं । प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है ।

४—५ आसव और अरिष्ट = ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं । इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति शतक दो भागके करीब होती है । इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती ।

अंग्रेज सरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है । इसीलिए देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता ।

६—७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं ।

पाठक इन विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, जिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है । सबेरे, दोपहरको और सायंकालको, रस निचोडना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है । इसलिए जो लोक सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा ।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कही है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है ।

जीवन संग्राम ।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द बारंबार आते हैं । " बडा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें रहनेवाले मनुष्य मात्रका मार्गदर्शक है । प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें सम्मिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय ? इस लिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए । अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा । चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है । यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो अनिवार्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है । पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें ।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश।

(६)

(ऋषिः-शौनकः सम्पत्कामः । देवता-अग्निः)

(२) समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें । (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (सं दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और [विश्वाः चतस्रः प्रदिशः] सब चारों दिशाओं में [आ भाहि] प्रकाशित हो ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो [च इमं प्र वर्धय] और इसको बहुत बढाओ । (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह । हे अग्ने ! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक [मा रिषन्] नष्ट न हों । और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों [मा अन्ये] दूसरे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! [इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते] ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं । हे अग्ने ! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकार में तू शुभ हो। हे अग्ने ! [सपत्नहा अभिमातिजित् भव] वैरियोंका नाश करनेवाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा [अ—प्रयुच्छन्] भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणा॑ग्ने॒ स्वेन॒ सं र॑भस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धा य॑तस्व ।
स॒जा॒तानां॑ मध्यमे॒ष्ठा राज्ञा॑मग्ने वि॒हव्यो॑ दीदिही॒ह ॥ ४ ॥
अति॒ निहो॒ अति॒ सृधोऽत्यचि॑त्ती॒रति॒ द्विषः॑ ।
विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दुरि॒ता तर॒ त्वमथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे स्थाः) सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर [राज्ञां वि--हव्यः] क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर [इह दीदिहि] यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! [निहः अति] मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, [सृधः अति] हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ--चित्तीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अथ त्वं) और तू [अस्मभ्यं] हम सबके लिए [सहवीरं रयिं दाः] वीर पुरुषोंके साथ रहनेवाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ-अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर,मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर,अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे,पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे,द्वेष भावों-को समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अग्निका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि कौन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें। उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा। तत्पश्चात् अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये-

हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि ॥ (मं० ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। 'सजातियोंकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके ' (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य ' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियां हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संमद दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है। इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवता

सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई वार देखी है, इसलिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये-

दीर्घ आयु।

१ हे अग्ने! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु-हे ब्राह्मण कुमार! हे बालक! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो। योग्यादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, ऋतु के पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु -ऋषिलोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावें। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं. १]

सत्यनिष्ठा।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु-जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन।

दिव्येन रोचनेन संदीदिहि-दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और निरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकार।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि- सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढाओ। (मं० १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धय च—स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगें। तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। [मं० ३]

१० इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते। नः संवरणे शिवः भव—ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिए कल्याणकारी हो। तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें। जनताका हितकारी होकर जनताका विश्वास संपादन कर। [मं० ३]

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव—प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो। [मं० ३]

अपने घरमें जागना।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि—गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह। अपना घर " शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र " इतनी मर्यादा तक विस्तृत है। हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है। घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुसेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे। इसलिए अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिए। [मं० ३]

उत्साहसे पुरुषार्थ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व—अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर। शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपनेमें बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर। [मं० ४]

मित्रभाव।

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व—मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर। [मं० ४]

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव—स्वजातीयों के मध्यमें—अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर। अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन समझी जावे। स्वजातीके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें। [मं० ४]

१६ राज्ञां वि-हव्यः दीदिहि—क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावें, इतनी योग्यता प्राप्त कर। [मं० ४]

चित्तवृत्तियोंका सुधार।

१७ निहः सुधः अचित्तीः द्विषः अति तर—झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर। अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख। [मं० ५]

१८ विश्वा दुरिता तर—सब पाप भावोंको दूर कर। पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख। [मं० ५]

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः—तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे। अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर। हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है। प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा। इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है।

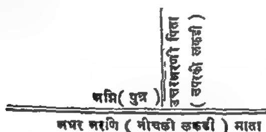
अन्योक्ति अलंकार।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिए हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें। यहां अन्योक्ति अलंकार है। अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्निं पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों--लकडियों--के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे [अधर अरणि] नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और [उत्तर अरणि] ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उन अरणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमारके लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन कीजिये।

[सूचना-यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५,६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेष भिन्नता नहीं है, इस लिए उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना।

(७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः । ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

अर्थ-(अघ-द्विष्टा) पाप का द्वेष करनेवाली, (देव-जाता) देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत्) शाप को दूर करनेवाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे (अधि-प्र अनैक्षीत्) धो डालती है [आपः मलं इव] जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥

[यः च सापत्नः शपथः] जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्री का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥

[दिवः मूलं अवततं] द्युलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथिवीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, [मे प्रजां परि] मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातिः न. मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥

भावार्थ-यह वनस्पति पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बढानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥

सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरुषोंसे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥

इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ- (शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चला जावे। (यः सुहार्त तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षु-मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणीमसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- शाप देनेवाले के पास ही उसका शाप वापस चला जावे। जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शापका स्वरूप। शापको सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूर्वा' है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छारोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीसकर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें '(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तेल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है। शाप देना, गाली देना, आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे, यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, इस पूर्वोक्त प्रकार मनकी शांतिकी स्थापना करके द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उच्छृंखल होनेवाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुई तो वह मनुष्य अप-रिमित हानी है और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं। एक ही काम के कारण कितने परिवार उच्छिन्न हो चुके हैं, और उसपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी अमर्यादित शक्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती

है। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चपल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादियोंको मर्यादासे अधिक बढ़ने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है। चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचार करें।

शापको वापस करना। पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और वेही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये--

शपथः शप्तारं एतु॥ (मं० ५)

'शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे!' गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे!! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत् है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। ये कम्प जहां पहुंचने के लिए भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं।' यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए। इसका विचार ऐसा है--

१ एक 'अ' मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव 'क' का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे 'क' मनुष्यके पास भेज दिये,

२ यदि 'क' भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर 'अ' को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर आने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु--

३ यदि 'क' उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो 'अ' से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले 'अ' के पास जाते हैं। और उसका मन उसी जातिका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं।

इस प्रकार कुविचार वापस आनेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले'अ'का दुगणा नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगणा नाश हो जाता है। परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है। इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगणी अवनति किस कारण होती है। इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको 'शाप वापस करनेकी विद्या' अवश्य जानना चाहिए। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे। (यः सुहार्त् तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षुः-मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणीमसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- शाप देनेवाले के पास ही उसका शाप वापस चला आवे। जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शापका स्वरूप। शापको सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूर्वा' है। जहां पानी होता है,उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छारोग, मस्तिष्ककी अशांति,मस्तककी गर्मी,उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिर्च के साथ पीया जाता है,चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीसकर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें '(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होतीं, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है। शाप देना, गाली देना, आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो, और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे; यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, वह पूर्वोक्त प्रकार मनकी शांतिकी स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपने आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उद्भूत होनेवाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुईं तो वह असंयत अपरिमित होती है और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती है। एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने कुटुंबोंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित शक्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती

है। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चचल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार वह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादियोंको मर्यादासे अधिक बढने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है। चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचार करें।

शापको वापस करना। पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और वेही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये-

शपथः शप्तारं एतु ॥ (मं० ५)

' शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे !' गाली गाली देनेवालेके पास वापस आवे !! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। ' ये कम्प जहां पहुंचने के लिए भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं।' यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए। इसका विचार ऐसा है—

१ एक ' अ ' मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव ' क ' का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे ' क ' मनुष्यके पास भेज दिये,

२ यदि ' क ' भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर ' अ ' को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर आने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि ' क ' उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो ' अ ' से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले ' अ ' के पास जाते हैं। और उसका मन उसी जातिका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले 'अ' का दुगना नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगना नाश हो जाता है। परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है। इसलिए [illegible] शांत मनुष्यका कल्याण होता है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगनी अवनति किस कारण होती है। इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको ' शाप वापस करनेकी विद्या ' अवश्य जानना चाहिए। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली

अथवा बुरे विचार न भेजें। क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षीकी अपेक्षा वे अपना ही अधिक अहित करेंगे। पाठको! मन:शक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये। यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है। जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे।

योग्य मित्र। मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये—

'यः सुहार्दः तेन नः सह। (मं० ५)'

'जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो,' उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदयवालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार शाप वापस भेजनेकी शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो।

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी हो जाते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम, होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। (मं० ५)

"आंखसे बुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड देते हैं।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसको पीडा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिए। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारोंको अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोभ रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेशका स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनः शक्तिका सुधार होगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०, ११ और १४ ये तीन सूक्त देखें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना।

(८)

[ऋषिः-भृगुः आंगिरसः । देवता-यक्ष्मनाशनम्]

उदंगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ—(भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं । वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देवें ॥ १ ॥

(इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा [क्षेत्रियनाशनी वीरुत्] वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी [क्षेत्रियं अप उच्छतु] आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

(बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी [पलाल्या] रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥३॥

(ते लांगलेभ्य नमः) तेरे हलोंके लिए सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे॥ ५ ॥

भावार्थ—दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढानेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं। ये चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और श्वेत रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है॥३॥

हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उसके पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती हैं, इस लिए उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ ४ ॥

जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जानता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

❀

क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इसलिए रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिससे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इसलिए यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां।

' भगवती और तारका ' ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिए—

१ भगवती—इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा जाता है, तथा-

२ तारका—इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ नक्षत्र और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। " भगवती और तारके " ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीरकी कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौके कांड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रबंध में विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ (मंत्र ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समय में पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका देनेवाला क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुंचानेवालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग समूल दूर होते हैं, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग तिरस्कारही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४-५)

कुशल वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक असाध्य रूपसे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

—:०:—

सन्धिवातको दूर करना।

(९)

[ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवता-वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।]

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् । अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् । शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः । चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (दश—वृक्ष) दस वृक्ष ! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी जकडनेवाली गठियारोग की पीडासे (इमं मुञ्च) इसे छुडादे, (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोडोंमें पकड रखा है । हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥

(अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगों के समूहमें (अगात्, आगात्, उद्गात्) आया, आपहुंचा, उठकर आया है । अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तम) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् उ) बना है ॥ २ ॥

(अयं) इसने (अधीतिः अध्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं । और (जीवपुराः अधि अगन्) जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं। [हि] क्योंकि (अस्य शत भिषजः) इसके सेकडों वैद्य हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥

[देवाः ब्रह्माणः उत वीरुधः] देव ब्राह्मण और वनस्पतियां [ते चीतिं अविदन्] तेरे आदान संदान आदिको जानती हैं, [विश्वे देवाः] सब देव (भूम्यां अधि) पृथिवीके ऊपर (ते चीतिं अविदन्) तेरे आदान संदान को जानते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है । यह गठिया रोग संधियोंको जकड रखता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता । इसकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

वह आरोग्य प्राप्त करके लोकसभाओंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

वह नीरोग बनकर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, जीवोंको जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है । यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सेकडों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥

इसकी अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसा करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त महाज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

अर्थ- [यः चकार स निष्करत्] जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिषक्-तमः) सब से उत्तम वैद्य होता है। (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिषजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके [ते भिषजानि कृणवत्] तेरे लिए औषधोंको करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। वारंवार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगोंकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

संधिवात ।

वेदमें संधिवात रोगका नाम " ग्राही " है क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वोंमें किंवा संधिस्थानोंमें जकड कर रखता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधियोंकी हलचल बंद होजाती है। " रक्षस् " अथवा पिशाच ये भी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक हैं। इस-लिये ' रक्ष. ग्राही ' का अर्थ रक्तका बिगाड होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। ' दशमूल ' नामसे वैद्य ग्रंथोंमें दश औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बडी प्रसिद्धि है। संभव है कि ये ही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ' मुञ्च ' क्रिया है, इस ' मुञ्च ' धातुसे एक ' मोच ' शब्द बनता है जो ' सोहिंजना ' या मुहँगा झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी सेंग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिंजना वृक्षकी अंतरत्वचा यदि जकडे हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकडे हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतरत्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पडते हैं, क्योंकि यह अन्तरत्वचा जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहां मंत्रमें " मुञ्च " शब्द है और वृक्षका नाम संस्कृतमें ' मोच ' है, इसलिये यह बात यहां कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि ' इस वनस्पतिसे सन्धिवातसे जकडा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है। (मं० १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और घरके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरेपर जकडकर पडा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यसभाओंमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे, विचार करने पर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

सर्वं जीवानां धाम्रं नयगात् ।
आगात्, उदगात् ॥ (मं० २)

" यह जीवोंके समूहोंमें गया, पहुंचा, उठकर खडा होकर गया ॥ ' अपने पांवसे गया अर्थात् जो वहां बिस्तरेपर अकडा पडा था वही इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोंमें घूम रहा है !!! यह आश्चर्य व्यक्त करनेके लिये एकही आशयकी तीन क्रियाएं (आगात्, अप्यगात्, उदगात्) प्रयुक्त की हैं। इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है।

इस चिकित्साकी औषधियें सहस्रों हैं और इसके चिकित्सक भी सैंकडों हैं (मं० ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है। असाध्य नहीं है। ऊपर जो ' मोच ' वृक्षसे चिकित्सा बतायी है वह प्रायः यहांके ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विश्वेदेवाः देवाः ब्राह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं। अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं। इस में ' चीति ' शब्द (आदान संधान) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान--संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं। (मं. ४)

उत्तम वैद्य।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है।—

यः चकार, सः निष्करत्, स एव सुभिषक्तमः ॥ (मं० ५)

' जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥ '

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है। इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है।

प्रवीणताकी प्राप्ति।

प्रवीणता की प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है। किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका उपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्करत्। (मं० ५)

' जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है। ' हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरीमें प्रवीण बननेकी बात है। एकलव्य नामक एक भील जातिका कुमार या उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की। यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्ध हुई है। यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं। यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है। बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभवी वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें ' ब्राह्मणाः ' पद है। यह ब्राह्मणोंका वाचक है। इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है। वेदमें अन्यत्र ' विप्रः स उच्यते भिषक् (वा० यजु० अ० १२।८०) ' कहा है, इसमें भी ' वह विप्र वैद्य कहलाता है, ' यह भाव है। यहांके ' विप्र ' शब्दके साथ इस मंत्रके ' ब्राह्मणः ' शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यकिया संमिलित है। आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं। इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

यह सूक्त ' तक्म-नाशन-गण ' का सूक्त है। इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें।

दुर्गतिसे बचनेका उपाय ।

(१०)

(ऋषिः - भृगुः अङ्गिराः । देवता-निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः)

क्षे॒त्रि॒यात्त्वा॒ निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ १ ॥
शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः ।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चा०।० ॥ २ ॥
शं ते॒ वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षे॒ वयो॑ धाच्छं ते॑ भवन्तु प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः । ए॒वाहं०।० ॥ ३ ॥
इ॒मा या दे॒वीः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ वात॑पत्नीर॒भि सूर्यो॑ वि॒चष्टे॑ । ए॒वाहं०।० ॥ ४ ॥
तासु॑ त्वा॒न्तर्ज॒रस्या द॑धामि॒ प्र यक्ष्म॑ एतु॒ निर्ऋ॑तिः परा॒चैः । ए॒वाहं०।० ॥ ५ ॥

अर्थ— (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि—शंसात्) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात् मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूं । [त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि] तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं, (उभे द्यावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(ते अद्भिः सह अग्निः शं अस्तु) तेरे लिए सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो । तथा (ओषधीभिः सह सोमः शं) ओषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो, (एव अहं त्वा क्षेत्रियात्...मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे.........छुडाता हूं । ० ॥ २ ॥

(अंतरिक्षे वातः) अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धात्) तेरेलिए बलयुक्त कल्याण देवे । तथा [चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु] चारों दिशायें तेरे लिए कल्याणकारी हों । (एव अहं०......) इस प्रकार मैं तुझको बचाता हूं । ० ॥ ३ ॥

(इमाः या देवीः चतस्र प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात-पत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुझको कल्याणकारी होवे (एव अहं ०......) इस रीतिसे मैं.........बचाता हूं । ० ॥ ४ ॥

(तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूं । तेरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंह करके दूर चले जांय (एव अहं...) इस प्रकार मैं ......तुम्हें बचाता हूं । ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

इस ज्ञान से ही द्युलोक, अंतरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-४ ॥

अमुक्था यस्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः। एवाहं०।०॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं०।० ॥ ७ ॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(यस्मात्) क्षय रोगसे, (दुरितात्) पापसे, (अवद्यात्) निंदनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशात्) द्रोहके बंधनसे (ग्राह्याः) जकडने वाले संधिशोगसे तू (अमुक्थाः) मुक्त हुआ है, (उद् अमुक्थाः) तू छूट चुका है । [एव अहं...] ऐसे ही मैं ......तुम्हें छुडाता हू । ० ६ ॥

[अ-रातिं अहाः] कृपणताको तूने छोडा है, [स्योनं अविदः] सुखको तूने पाया है । (अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभू.) और भी पुण्यकारक आनंददायी लोकमें तू आया है। [एव अहं.........] ऐसे ही मैं.........तुम्हें बचाता हूं। ० ॥ ७ ॥

(देवाः) देवोंने [तमस· ग्राह्याः] अंधकारकी पकडसे तथा [एनसः अधि मुञ्चन्त] पापसे मुक्त करते हुए (ऋतं सूर्यं नि. असृजन्) सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं...) इसी प्रकार मैं.. ....तुम्हें बचाता हूं ० ॥ ८ ॥

भावार्थ- इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाता हूं। इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जायगे ॥ ५ ॥

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधिवात आदि सब आपत्तियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुडाता हूं ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही तू अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर। मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूं ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारकी पकडको दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार करें क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे मुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप ।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है । अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्व पूर्ण सूक्त है । और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है । इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ क्षेत्रिय.—मातापितासे प्राप्त होनेवाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ । ये जन्मसे ही उनके साथ ही शरीरमें आती हैं । (मं० १)

२ निर्ऋतिः—सडावट, विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्यनियमोंका पालन न होना, दुरवस्था, विरुद्ध परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति । (मं० १)

३ जामिशंसः—इसमें दो शब्द हैं, जामि×शंस । इनके अर्थ ये हैं ' जामि ' = वंश, नाता, संबंध । जल । अंगुली। सन्मान्य स्त्री । पुत्री, बहिन, बहु । ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिए हैं । अब ' शंस ' शब्दके अर्थ देखिए प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे 'जामिशंस'का अर्थ निम्न लिखित

संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे। सत्यज्ञानका पहिला फल यह है–

(१) उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्। (मं० १)

'द्युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों' अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है। तृणसे लेकर सूर्य पर्यंतके सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करने में तत्पर रहते हैं। यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है।

(२) अद्भिः सह अग्निः शम्॥ (मं० २)

'जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है' ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से--दोनोंके संयोगसे या वियोगसे– अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है।

(३) ओषधीभिः सह सोमः शम्। (मं० २)

'ओषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है।' सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है। सोम और औषधियोंसे प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है। नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं। जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है।

(३) अन्तरिक्षे वातः वयः शं धात्। (मं० ३)

'अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है।' विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है। योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है। प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं। वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है। रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम्। (मं० ३,४)

'दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे लिये सुखकारक होंगे।' चार दिशाएं और चार उपदिशाएं अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं। इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है।

(५) सूर्यः अभिविचष्टे। (मं० ४)

'सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है' वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं। इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं।

(६) त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं० ५)

'तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं' अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है। ज्ञानसे जीवनके सुनियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है।

(७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु। (मं० ५)

'यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी।' ज्ञानसे आरोग्य संपादन के सब नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है।

(८) यक्ष्मात्, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः, पाशात्, ग्राह्याः च अमुक्थाः, उदमुक्थाः। (मं० ६)

'ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है।' अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी।

(९) स्योनं अविदः (मं० ७)

'सुख प्राप्त होगा' ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वशवर्ती होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीको कहते हैं–

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः। (मं० ७)

'सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा।' ज्ञान से ही सुकृत किये जायगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यहां भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके विना अन्य साधन रहे तो भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये–

उन्नतिका मार्ग।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये–

तमसो प्राहा अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्यं
एनसः असृजन्॥ (मं० ८)

' जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं।'

अलंकार की भाषा।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकार से रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये—

' चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नाम्नी माता करती है और सूर्य रूपी बालक का पालन दिनप्रभा नाम्नी माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाढ अंधकार में दबा रहता है। मानो इनको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, पृथिवी, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं। सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता [illegible] रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है।'

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है। जो स्वयं यत्न नहीं करेंगे उनकी उन्नति होना कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिका मूल मंत्र है।

स्वकीय प्रयत्न।

इस मंत्रमें ' ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः ' अर्थात् ' सत्य चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं ' ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वयं अपने उद्धारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरुजन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें ' ऋत ' शब्द बहुत महत्वका भाग बता रहा है, इसलिये इसका आशय। ऋत= " योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाला, गतिमान्, प्रयत्नशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अटल विश्वास, दिव्य सत्यनियम।'

जो (ऋतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरे सहायता कर सकते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं। जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसा-ही प्रभावशाली बनेगा।

वायु जल नक्षत्र आदि जगत्के देव, विद्वान शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीरस्थानीय देव उसी पुरुष की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्यनियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है। पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर नीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं 'ऋत-गामी' होना अत्यंत आवश्यक है। यही ऊपरके मंत्रमें 'ऋतं' शब्द द्वारा बताया है। जो ऋत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है। इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें।

प्रार्थना का बल।

वेदमें 'ब्रह्म' शब्दका दूसरा अर्थ 'स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना' भी है। जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त हैं उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता। 'ईश प्रार्थना' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है। इसीलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं। जो लोग एकान्तमें आकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते। इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगोंका हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ 'ईश प्रार्थना' से हो सकता है। यह मानो एक 'प्रार्थना योग' ही है। 'औषधि योग' से 'प्रार्थना योग' अधिक बलवान है। दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं! यह बडी भारी हानि है।

इस सूक्तमें 'ब्रह्म' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है। ईश गुणवर्णन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें तल्लीन हो जाता है वह संपूर्ण आपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अमृत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें।

मनको धीरज देना।

वेदमें 'मैं छुडाता हूं' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं ये वाक्य 'मानस चिकित्सा' या 'वाचिक चिकित्सा' के सूचक हैं। अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है। इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है। इस समय—

१ त्वा क्षेत्रियात्...मुंचामि। (मं० १)
२ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि। (मं० १)
३ त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं० ५)
४ यक्ष्मात् अमुक्थाः (मं० ६)
५ ग्राह्याः उदमुक्थाः। (मं० ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगीको धीरज देना होता है जैसा '—(१) तुझको क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं। (२) तुझे ईश प्रार्थना द्वारा निर्दोष करता हूं। (३) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं। (४) तू अब यक्ष्म रोगसे मुक्त हुआ है। (५) जकडनेवाले रोगसे तू अब पार हो गया है'। इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है। यह बडा भारी गहन विषय है। जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारियां कम आती हैं। पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनंद में मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढावें और अपना अत्यधिक लाभ करें।

यह सूक्त भी तक्मनाशन गण का है और यह इस गणके अन्य सूक्तों के साथ पढने योग्य है।

—:०:—

आत्माके गुण

(११)

(ऋषिः-शुक्रः। देवता-कृत्यादूषणम्)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥१॥
स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि० ॥ २ ॥
प्रति तमभि चर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। आप्नुहि० ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि० ॥ ४ ॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (दूष्याः दूषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है। (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार तू है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (श्रेयांसं आप्नुहि) परम कल्याणको प्राप्तकर और (समं अतिक्राम) अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥ १ ॥

(स्रक्त्यः असि) तू गतिशील है, (प्रतिसरः असि) तू आगे बढनेवाला है, (प्रत्यभिचरणः असि) तू दुष्टपर हमला करनेवाला है। ०॥ २॥

(तं प्रति अभिचर) उसपर चढाई कर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं। ० ॥ ३ ॥

(सूरिः असि) तू ज्ञानी है, (वर्चोधाः असि) तू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनूपानः असि) शरीरका रक्षक तूही है। ०॥ ४॥

(शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, (भ्राजः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥ ५ ॥

भावार्थ-आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महाशस्त्र और अस्त्रोंका महा अस्त्र है० ॥ १ ॥
आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है० ॥ २ ॥
जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं। उसको हटा दे० ॥३॥
तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका सच्चा रक्षक तूही है० ॥ ४ ॥
तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक शक्तिसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये-

(१) दूष्याः दूषिः असि-दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये । अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । (मं० १)

(२) हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः असि = शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है । शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलानेवाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है । (मं० १)

(३) स्रक्त्यः असि = आत्मा गतिमान है । 'अत-सातत्यगमने' (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है । सतत प्रयत्नशीलताका यह द्योतक है । वही भाव इस शब्दमें है । छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है । कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है। (मं० २)

(४) प्रतिसरः असि = आगे बढनेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है । आत्मा 'इन्द्र' है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है । (मं० २)

(५) प्रत्यभिचरणः असि = दुष्ट शत्रुको पराभूत करनेवाला । (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाववाला ही है ।) (मं० २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है । अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पञ्चम मंत्रके द्वारा करते हैं-

(६) सूरिः असि = तू ज्ञानी है । आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । (मं० ४)

(७) वर्चोधाः असि = तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है । शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं । (मं० ४)

(८) तनू-पानः असि = शरीरका रक्षक है । जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है । जब यह आत्मा इस शरीरमें चले जाता है तब शरीर सडने लगता है । इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है । (मं० ४)

(९) शुक्रः असि = वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है । आत्माको ही 'शुक्रं' (यजु० ४०।८ में) कहा है । इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है । (मं० ५)

(१०) भ्राजः असि = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है । आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है । (मं० ५)

(११) स्वः असि = निज निजबलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है । अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है। (मं० ५)

(१२) ज्योतिः असि = स्वयं ज्योति है । प्रकाश स्वरूप है । (मं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं । मनुष्य स्वयं अपने आपको अज्ञानी निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है । इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं । जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है । इसमें भी वैसेही प्रभावशाली गुणधर्म हैं कि जैसे परमात्मामें हैं । यह आत्मा ज्ञानी, पुरुषार्थी, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है । इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं । यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकासकी मर्यादा बहुत ही बडी है ।

मनका बल बढाना।

(१२)

(ऋषिः-भरद्वाजः । देवता-द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ—[द्यावापृथिवी] द्युलोक, और पृथिवी लोक, [उरु अंतरिक्षं] विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करनेवाली भूमि [अद्भुतः उरुगायः] अद्भुत और बहुत प्रशंसनीय सूर्य [उत] और [वातगोपं उरु अन्तरिक्षं] वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब [मयि तप्यमाने] मेरे तप्त होने पर [इह ते तप्यन्तां] यहां वे सब संतप्त होवें ॥ १ ॥

हे [देवाः] देवो ! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार करने योग्य हो, वे सब [इदं शृणुत] यह सुनो, कि [भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति] बल बढाने वाला मुझको उत्तम उपदेश देता है। परन्तु [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारे इस मनको बिगाडता है, [सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्] वह पापके पाशमें बंधा जाकर नियममें रखा जावे ॥ २ ॥

हे [सोम-प इन्द्र] सोमपान करनेवाले इन्द्र ! [शृणुहि] सुन कि [यत् शोचता हृदा जोहवीमि] जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूं। [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारा यह मन बिगाडता है, [तं] उसको [वृक्षं कुलिशेन इव] वृक्षको कुठारीसे काटनेके समान [वृश्चामि] काट डालूं ॥ ३ ॥

[तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः] तीन छंदोंसे अस्सी मंत्रोंद्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा [आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः] आदित्य वसु और अङ्गिरोंके साथ [पितृणां इष्टापूर्तं नः अवतु] पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे। मैं [दैव्येन हरसा अमुं आददे] दिव्य क्रोध या बलसे इस को पकडता हूं ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ- [द्यावापृथिवी मा अनुदीधीथां] द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों। हे [विश्वे देवास] सब देवो ! [मा अनु आ रभध्वं] मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करो। हे [अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः] अंगिरस सोम्य पितरो ! [अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु] अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे [मरुतः] मरुतो ! [यः अतीव मन्यते] जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, [यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्] अथवा जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निंदा करे। [वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु] सब कार्य उसके लिये तापदायक हों। तथा [द्यौः ब्रह्मद्विषं संतपाति] द्युलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत ताप देवे ॥ ६ ॥

[ते तान् सप्त प्राणान्] तेरे उन सात प्राणों को और [अष्टौ मन्यः] आठ मज्जातंतुओं को मैं [ब्रह्मणा वृश्चामि] ज्ञानके साधनसे छेदता हूं या खोलता हूं। तू [अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अयाः] अग्निका दूत बनकर सिद्ध होकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥

[समिद्धे जातवेदसि] प्रदीप्त अग्निमें [ते पदं आदधामि] तेरा स्थान रखता हूं। [अग्निः शरीरं वेवेष्टु] यह अग्नि

का उपाय कहा, उसी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है। मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता।

मानस शक्ति विकासके साधन।

त्यागभाव।

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें 'भरद्वाज,' अर्थात् '(भरत् + वाजः ' = वाजः + भरत्) बल भरनेवाला कहा है। 'वाजः' का अर्थ 'घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द' यह है। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही शुद्ध सात्विक सेवन किये जाय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणों के बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ। पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे,तो उनको इससे अपना बल बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। यह बल जो भर देता है, उसका नाम 'भरद् - वाजः' होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है-

शुभवचन।

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति ॥ (मं० २)

'बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है। परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्तशंसन है। इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान।

इस 'ज्ञानाग्नि' को ही 'जात—वेद अग्नि' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है, वह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं। मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसकी इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥ गीता अ० १५

' ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिए ' तत्पश्चात् उन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मन्त्रमें कहा है, वह अब देखिये—

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ (म० ७)

' सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं । तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यम के घरको जा । ' इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है। और यहां काटनेका शस्त्र ' ब्रह्म ' अर्थात् ' ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र ' इत्यादि प्रकार का है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है। पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी ' ज्ञान अथवा ईश उपासना ' (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बनकर किसी को काट सकते हैं ? यदि ये शस्त्र बन कर किसीको काटने होंगे तो किसको काटते हैं ? यह विचार करना चाहिए ।

असंगशस्त्र और ब्रह्मास्त्र।—गीतामें ' असंगशस्त्र ' से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है। वासनाएं भी भोग की इच्छासे ही फैलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयों के ही होते हैं। अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही हैं । भगवद्गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको ब्रह्मरूपसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है-

अश्वत्थं.. ...असंगशस्त्रेण छित्वा ॥ (भ० गीता १५। ३)
सप्त प्राणान् ... ब्रह्मणा वृश्चामि ॥ [अथर्व० २ । १२ । ७]

' वृश्चामि ' का अर्थ भी ' छेदन ' ही है । दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक हैं । (असंग) वैराग्य, और (ब्रह्म) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें साथ होनेवाले हैं, आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं । वैराग्य के विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तार को भगवद्गीता काटना चाहती है उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है । इसकी छिन्नता करनेके लिये हमें ' सप्त प्राण ' कौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

शिश्न और मुख है, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं। इनके कारण उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतनाही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भवमें ग्रस्त होता है, वे सात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको टेढा मेढा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन सप्त वृक्षोंको टेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्यादामें ही रखना उचित है।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको संयमके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णवृत्तिसे दमन करना चाहिये। इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है। शाखा छेदन का तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी— इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथि, या धमनियां हैं, उनको भी छेदन करने का विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इनसे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इन्हींसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहिये। देखिये गुदाके पास की मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्रीपुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यहां की ही दिव्य शक्ति ईशभक्ति में परिणत होती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाली इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको 'ग्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संज्ञाएं हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांवका हिलना या न हिलना होता है, उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेदन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेदन (ब्रह्मणा वृश्च मि) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये—

संयमका मार्ग— १ समिद्धे जातवेदसि पदं = जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८) । २ अग्निः शरीरं वेवेष्टु = जिसके शरीरके रोमरोममें यह ज्ञान अग्नि भडक उठा है (मं० ८) । ३ वागपि असुं गच्छतु = जिसकी वाणी भी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है। (मं० ८) । ४ सप्त प्राणान् वृश्चामि = सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मंत्र ७) । ५ अष्टौ मन्याः वृश्चामि = आठ मज्जा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या— वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर यमके घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डर के मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है। देखिये मंत्र के शब्द—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं जयाः (मं० ७)

'(अरंकृत) अलंकृत (अग्नि-) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।' क्योंकि अब तुम्हें उसका डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। अंतिम दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध पवित्रतम कर्ममय हुआ है, और जो सज्जनोंके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पहुंचेगा।

इसी प्रकार देखिये—

निर्भय ऋषिकुमार — कठोपनिषद्‌में कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ। उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानाग्निसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागवृत्तिसे अन्त में उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ वहांसे वापस आया। ऐसा क्यों हुआ? पाठको! विचार तो कीजिये। नचिकेता ऋषिकुमार अग्निका दूत बनकर, ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था, इसलिये वह निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायगे वे डरते हुए जायगे, इसलिये पकडे जांयगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी।

यहां तक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें 'आत्मवद्भाव' इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान भावसे देखने लगता है। जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है। वह अपनेमें और दूसरोंमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी यह मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिए जिस समय वह सचमुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणीमात्र सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगत् के दुःखका भार आनन्दसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलायी हुई तन्तुवाद्यकी तारें एक बजाई जानेपर अन्य सब स्वयं बजने लगती हैं, इसी प्रकार यह ज्ञानीके 'सर्वात्मभाव के जीवन' से सब जगत्‌के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह 'आत्मवद्भाव' की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है—

मयि तप्यमाने ते इह तप्यन्ताम् [मं १]

'मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां सन्तप्त हों।' पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत् को सुखी करनेके लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत् को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिस के रोम रोम में भरी है, जिसके दैनिक जीवन में ढाली गई है, वह अपने आपको जगत् के साथ एकरूप देखता है, जगत् को अपने आत्माके समान समझता है, या यों कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है।

यह मनुष्य की उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुःखी होता है और इसके दुःखसे भी सब दूसरे दुःखी होते हैं। इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, यह देखना है—

ज्ञानके विरोधी। जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, यह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ यः अतीव मन्यते = जो अपने आपको [illegible] घमंडसे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं० ६)

२ क्रियमाणं न ब्रह्म य निन्दिषत् = किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, (मं ६)

३ वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु = सब कर्म उसके लिए तापदायक हों, उसको हरएक कर्ममें बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्म से उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, (मं० ७)

४ द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति = प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती (मं० ७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है । यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये । परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है । इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है । यह बात इस छठे मंत्रने बताई है । अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बाकीके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिए—

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु । (मं० ५)

२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम् । (मं० २)

३ अमुं दैव्येन हरसा आददे [मं० ४]

४ यः अस्माकं इदं मन हिनस्ति त कुलिशेन वृश्चामि । (मं० ३)

"(१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे । [२] जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे । (३) उसको दिव्य कोध या बलसे पकड रखता हूं । [४] जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं । "

ये चार मंत्रोंके चार अन्तिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं । पहिले वाक्यने कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्यने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है । यह एकसे एक बडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिए । मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातिका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बडा होता है । इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है । यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है ।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरोंकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है । इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार– सबसे पहिला बल आनुवंशिक संस्कार का है । जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके बापसे पापुरुष हुए हैं, जिसके मात पिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं, अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अपनेमें दोष आनेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है—

पितृभिः सोमपेभिः वसुभिः आङ्गिरोभिः आदित्यैः
पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु ॥ (मं० ४)

'वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।' परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है। मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है। येही आनुवंशिक शुभसंस्कार हैं। हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं। इसलिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है।

ईश प्रार्थना।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं। इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है। स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी। इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनेसे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य हैं—

हे सोमप इन्द्र! शृणुहि। यच्छा शोचता हृदा जोहवीमि ॥ (मं० १)

'हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूं।' हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये। ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। तथा—

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं शृणुत। (मं० २)

'जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें।' इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम्। विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम् ॥ (मं० ५)

'द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें।' अर्थात् देवोंकी इच्छासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे। कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो। मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें। देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने अपको देवतामय अनुभव करना चाहिये।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहां अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहां दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे। इस प्रकार देवोंका जागृत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे।

प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[१३]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-अग्निः, नानादेवताः ।)

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥
परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

अर्थ-हे [अग्ने अग्ने] तेजस्वी अग्ने ! तू [आयुः-दा] जीवनका दाता, [जरसं वृणान] स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, [घृत-प्रतीकः] घृतके समान तेजस्वी और [घृत-पृष्ठः] घीका सेवन करनेवाला है । अतः [मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा] मीठा सुंदर गाय का घी पीकर [पिता पुत्रान् इव] पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू [इमं अभिरक्षतात्] इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

[नः इमं] हमारे इस पुरुषको [परिधत्त] चारों ओरसे धारण कराओ, [वर्चसा धत्त] तेजसे युक्त करो, इसका [दीर्घं आयुः जरामृत्युं कृणुत] दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो ॥ [बृहस्पतिः एतत् वासः] बृहस्पतिने यह कपडा [सोमाय राज्ञे परिधातवै] सोम राजाको पहननेके लिये [उ प्रायच्छत] निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

[इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः] यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, [गृष्टीनां अभिशस्तिपाः उ अभूः] तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार [पुरूचीः शरदः शतं च जीव] परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ । और [रायः पोषं च उप सं व्ययस्व] धन और पोषणका कपडा बुनो ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे तेजस्वी देव ! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और हवनादिमें घी का सेवन करनेवाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

इस बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अति-वृद्धावस्थाके पश्चात् [illegible] इसका मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरु बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणकी वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला यही उत्तम साधन है । इसी प्रकार सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करो और धनका साना और पोषणका बाना कर यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बुनो ॥ ३ ॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॑ष्ठा॒श्मा भ॑वतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥
यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑१ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः ।
तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हवः॑ सु॒जात॑म् ॥ ५ ॥

अर्थ- [एहि, अश्मानं आतिष्ठ] आ, शिला पर चढ, [ते तनूः अश्मा भवतु] तेरा शरीर पत्थर जैसा दृढ बने। [विश्वे देवाः] सब देव [ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु] तेरी आयु सौ वर्षकी करें॥ ४ ॥

[यस्य ते प्रथमवास्यं वासः हरामः] जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह वस्त्र हम लाते हैं [तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु] उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें। [तं त्वा सुजातं] उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और [वर्धमानं] बढते हुए बालकके [बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनु जायन्तां] पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ— यहां आ, इस शिलापर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनावें ॥४॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये वस्त्र हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुलमें जन्मा है और यहां तू उत्तम प्रकार से बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है। इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्वका सब विधान इससे पूर्व होचुका है, ऐसा समझना उचित है। अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है। सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं। परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, क्षमयाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभु की प्रार्थनाकी गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मूल्य देकर दुकानसे लाया नहीं रहता। परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपडा बुनती है, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ ऋग्वेद ५।४७।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं। देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति = माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं। और—

(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते = इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है। माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ उनका प्रेम उस कपडेके तंतुओंमें बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें। यह कपडा केवल कपडा नहीं है परंतु इसीके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं० ३)

" यही कपडेका नाना ऐश्वर्य है और नाना पुष्टि है। इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है। " सचमुच ऐसाही होगा, यही माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगा। धन्य है वह माता और वह बालक जो इस

प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं। इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह है—

परिधत्त, धत्त, नो वर्चसा इमम् ।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः ॥ (मं० २)

" पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे। " जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि " देवोंके कुलगुरु बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था। " अर्थात् यह प्रथा सनातन है। कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिंतन करें। यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है। पाठक इसका विचार करके यह शुभ-संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है।

१ स्वस्ति।

इदं वासः स्वस्तये अधि धाः। (मं० ३)

" यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो। " स्वस्ति का अर्थ है ' सु+अस्ति ' अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम स्थिति। अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुनाहुआ कपडा पहनना चाहिए। दूसरेका बुना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिति बुरी होती है, बिगड जाती है। अपना बुना कपडा पहननेसे अपना ' स्वस्ति ' अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिये।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो गया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है । अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा । जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है । इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें लाने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका यत्न करें ।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं । पहिले की अपेक्षा दूसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक निरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है । पाठक इसे अश्लील न समझें क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है ।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

— ० —

विपत्तियोंको हटानेका उपाय ।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता-शालाग्निदैवत्यं ।]

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्। सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥
नि वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् । नि वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ-[निःसालां] घरदार न होना, [धृष्णुं] भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, [एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं] निश्चयपूर्ण एक भाषण करनेवाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाली, तथा [चण्डस्य सर्वाः नप्त्यः] क्रोधकी सब की सब सन्तानें और [सदान्वाः] दानवोंकी राक्षस वृत्तियोंका हम [नाशयामः] नाश करते हैं ॥ १ ॥

[वः गोष्ठात् नि अजामसि] तुमको हमारी गोशालासे हम निकाल देते हैं, [अक्षात् निः] हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, [उपानसात् निः] मद्यपानके गड्डेके स्थानसे तुमको हटाते हैं, [मगुन्द्याः वः नि] मनके मोह से तुमको हटाते हैं । हे [दुहितरः] दूर रहने योग्य ! तुम्हें [गृहेभ्यः चातयामहे] घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥

[असौ यः अधरात् गृहः] यह जो नीच घराना है [तत्र अराय्यः सन्तु] वहां विपत्तियां रहें [तत्र सेदिः] वहां ही क्लेश [नि उच्यतु] निवास करे [सर्वाः यातुधान्यः] सब दुष्ट वहां ही जाय ॥ ३ ॥

भावार्थ— आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं—

(१) घरदार कुछ भी न होना,

(२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना या दूसरोंको डराना,

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः । यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् । अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

अर्थ-[भूतपतिः इन्द्रः] प्रजापालक राजा [सदान्वाः इतः निरजतु] राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। [गृहस्य बुध्न आसीनाः] घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टतायें [इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु] इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥ ४ ॥

हे [सदान्वाः] आसुरी वृत्तिसे होनेवाली पीडाओ ! [यदि क्षेत्रियाणां स्थ] यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, [यदि वा पुरुषेषिताः] यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो [यदि दस्युभ्यः जाताः] यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब [इतः नश्यत] यहांसे हट जाओ ॥ ५ ॥

[आशुः गाष्ठां इव] जैसे घोडा अपने स्थान को पहुंचता है उसी प्रकार [आसां धामानि परि सरन्] इन विपत्तियोंके मूल कारणको दूर कर निकाल दो। [वः सर्वान् आजीन् अजैषं] तुम्हारे सब संग्रामों को जीत लिया है जिससे हे [सदान्वाः] पीडाओ ! [इतः नश्यत] यहां से हट जाओ ॥ ६ ॥

---

(३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना,

(४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियां हैं, इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये ॥ १ ॥

जिसप्रकार पुत्रियाको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये। गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥

जो नीच वृत्तिवालोंके घर हैं वहीं विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारीभी रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे। किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥

इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसप्रकार घोडा अपना पांव उठा कर अ तव्य स्थानपर पहुंचता है इसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये। सब जीवनकलहोंमें अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जागृत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं ॥ ६ ॥

विपत्तियोंका स्वरूप।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१. निःसालाः = शाला अर्थात् घर दार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं० १)

२ धृष्णु = सदा भयभीत रहना, दूसरोंसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकडे। इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, धमकाना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना इ० (मं० १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वः = एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घातपातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव। जिससे निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती, सदा संदेहमें रहना है। (मं० १)

४ चण्डस्य सर्वा नप्त्यः = क्रोधकी सब संतान । अर्थात् क्रोधसे जो जो आपत्तियां आना संभव है वे सब आपत्तियां । (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः) = असुरोंका नाम दानव है । दानवका अर्थ है घात पात करनेवाले; गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है । दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है । (मं० १)

६ अ-राय्यः = कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव । (मं० ३)

७ सेदिः = क्लेश, महाक्लेश । शारीरिक कृशता, दुर्बलता । कुछ भी कार्य करनेकी सामर्थ्य न होना । (मं० ३)

८ यातुधान्यः = धन्यता न होना । चोर डकैती करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव । (मं० ३)

ये सब आपत्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्लेशोंसे परिचित हैं । इसलिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं-

तीन भेद ।

१ क्षेत्रियाः = अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो मनुष्य के स्वभावमें सेजसे आयी होती हैं, वंशपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं । (मं० ५)

२ पुरुषेषिता = दूसरी आपत्तियां ऐसी होती है कि जो (पुरुष-इषिता) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणाओंके कारण होती हैं । (मं० ५)

३ दस्युभ्यः आताः = तीसरी आपत्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकू आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं। (मं० ५)

आपत्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुरुषोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके कारण होनेवाली । इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये ।

कई आपत्तियां खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये-

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि ।

१ गोष्ठात् निः अजामसि— गोशालासे हटाता हूं अर्थात् गोशाला के कुप्रबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करता हूं । गोशालाकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है । (मं० २)

२ अपानसात् निः अजामसि — अन्नपानके गड्ढे, अथवा बर्तन आदिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां आसकती हैं उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाता हूं । (मं० २)

३ अक्षात् निः अजामसि— अपनी इंद्रिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूं । इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है । आत्मशुद्धि की सूचना यहां मिलती है । (मं० २)

नीचतामें विपत्तिका उगम।

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है। इसमें कहा है कि- 'जो यह (अधरात् गृहः) नीच घराना है वहां ही सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं। ' नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है। 'अधर' शब्द यहां नीचताका द्योतक है। जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेवाला है। जहां हीनता होगी वहीं आपत्तियोंका उगम होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

राजाका कर्तव्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' (भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने बलसे (सदान्वाः) सब डाकुओंको और (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरके अंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे। ' अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनावे। इस प्रकार उत्तम राजशासन द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है। सुराज्य होना भी एक बडा साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती हैं, या दूर जाती हैं।

जीवनका युद्ध।

आपत्तियोंके साथ झगडा करना, विपत्तियोंसे लडना और उनका पराभव करके अपना विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती हैं। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है। शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोठे युद्ध करने ही होते हैं। इन युद्धोंको किये विना और वहां अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवन होना असंभव है। यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है—

वः सर्वान् आजीन् अजैषम्। (मं० ६)

' सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं। ' इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है। प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिए। अन्यथा विजय होना अशक्य है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बढी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा। पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी। इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियों को दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां हटानेके प्रयत्नमें तत्पर हों।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनी हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं। राज्य शासन सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्य शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धि के उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने अभीष्ट स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है। इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही युद्ध में सिद्धिको प्राप्त करे। प्रत्येक गुणस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसे ही प्राप्त हो सकता है। पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है। पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और ऐश्वर्यको प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे।

निर्भय जीवन।

(१५)

[ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ ५ ॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ-(यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) वैसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! (मा बिभेः) तू मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते० ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र० ॥ ३ ॥

ब्रह्म और क्षत्र ॥ ४ ॥०

सत्य और अनृत ० ॥ ५ ॥ ०

भूत और भविष्य नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ- द्युलोक पृथ्वी, दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म क्षत्र, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं, इसीलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते। इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ती से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरपन।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि 'जो नहीं डरते और निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते।' उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिया है। दिन रात या सूर्यचन्द्र किसीका भय न करते हुए निःपक्षपातसे अपना कार्य करते हैं। समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं। किसीकी पर्वा नहीं करते, किसीकी सिफारस नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करते अथवा किसीपर क्रोध भी नहीं करते। अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं इसलिये वे किसीसे डरते नहीं, अतः वे विनाशको भी प्राप्त नहीं होते। इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाशको प्राप्त नहीं होगा। (मं० १-६)

हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जांय। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक जीवित रहे हैं। और आगेभी वे मार्गदर्शक बनेंगे। ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे।

सत्य और अनृत ।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जो सत्य होता है-वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्य सत्य कर देते हैं; परंतु यह बात थोडे समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इस लिये क्षण मात्र किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय यह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलीरूपमें प्रकट होने विना नहीं रहते। इसलिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है।

भूत और भविष्य ।

पद मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, ये किसीसे डरते नहीं। यह बिलकुल सत्य है। सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है। जो डरानेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरावेसे लोगोंको सताया, वे अब भूतकालमें होगये हैं। उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे होगये हैं!! साधारणसे साधारण इतिहास तत्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं। इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्यके सदृश असहाय हो जाते हैं। इतना भूतकालका प्रभाव है। पाठक इस कालके प्रभाव को देखें। समर्थसे समर्थ भी इस भूतकालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता। परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है। रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रत्युत आज भी अनंत लोगोंको मार्गदर्शक होरहा है!! यह भूत कालका महिमा देखिये। भूतकाल निडर है किसीकी पर्वाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है।

भविष्य काल भी इसी प्रकार है। अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं। क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निडर होनेका तात्पर्य क्या है। इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यका ही जय होता है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें।

अभय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है।

विश्वंभर की भक्ति।

(१६)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥
सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥
अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ-हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः मा पातं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो० ॥ २ ॥

हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर० ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर अग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर० ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥ २-३ ॥

विश्वव्यापक सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करे। मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥ ४-५ ॥

यह जगच्चालक मुख्य पुरुष भी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सूर्य चन्द्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इसीके वशमें रहते हैं और अपना अपना कार्य करते हैं। इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इसीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द 'विश्वंभर और वैश्वानर' देखें और इनके मननसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें। वह सब जगत्का भरण पोषण करनेवाला है इस लिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। जिस ने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इससे कल्पना हो सकती है। ऐसे अनंत सामर्थ्यशाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा।

सूर्य नेत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, द्यावा पृथिवीमें चारों ओर फैली हुई दिशाएं कर्ण इंद्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहां प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उसी विश्वंभर की कृपासे होरहा है इस का अनुभव करके उसी एक अद्वितीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे।

आत्मसंरक्षण का बल।

(१७)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

ओजो॒ऽस्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥
सहो॑ऽसि॒ सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥
बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
आयु॑र॒स्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ-(ओजः असि) तू शारीरिक सामर्थ्य है, (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥
तू (सहः असि) सहन शक्तिसे युक्त है (मे सहः दाः) मुझे सहनशक्ति दे ॥ २ ॥
तू बल स्वरूप है मुझे बल दे ॥ ३ ॥
तू (आयुः असि) आयु अर्थात् जीवनशक्ति है मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥
तू (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥ ५ ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

(इति तृतीयोऽनुवाकः ।)

अर्थ- तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥

तू (परिपाणं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे। (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, श्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१—७)

(१८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-अग्निः)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

अराय-क्षयणमस्यराय-चातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ-तू (भ्रातृव्य-चातनं) वैरियोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

तू सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

तू (अ-राय-क्षयणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

तू (पिशाच-क्षयण) मांस चूसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

तू (स-दान्वाक्षयणं) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा हा) आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-वैरी, शत्रु, कंजूस, खूनचूस और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूं ॥ १-५ ॥

बलकी गणना।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ ओजः—स्थूल शरीरकी शक्ति, पुट्ठोंका बल,

२ सहः—शीत उष्ण अथवा अन्यान्य द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति। अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सह है। शत्रुका हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोडना, अर्थात् शत्रुका हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना। यह भी एक सहन शक्ति ही है। सहज ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना। शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना।

३ बलं—सब प्रकारके बल। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यको उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल।

४ आयुः—दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु।

५ श्रोत्रं—कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां। श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या।

६ चक्षुः—चक्षु आदि इंद्रियोंकी शक्तियां। प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान।

७ परिपाणं—परित्राण की शक्ति। अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति। (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति।

८ भ्रातृव्य—क्षयणं-भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये। दो भाईयोंके पुत्र आपसमें भ्रातृव्य कहलाते हैं। यह घरमें भ्रातृव्यपन है। इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें " भ्रातृव्य " कहलाती है। इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं। ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिए तभी विजय होगा। अन्यथा पराभव होगा। राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है। यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है।

९ सपत्नक्षयणं—एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं। इन पक्ष भेदों का नाम " सपत्न " है क्योंकि ये एकही पतिके अंदर हुआ करते हैं। इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने या अन्य सपत्नोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है। यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है।

१० अरायक्षयणं—राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है। यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है। वैश्यों और कारीगरोंके उद्यमसे यह बात साध्य हो सकती है।

११ पिशाचक्षयणं—रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है। (पिशिताच्- पिशाच) रक्त पीनेवाले रोग भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है। मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं। इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं। समाज से इनको दूर रखना योग्य है।

१२ स दान्वाक्षयणं—(स—दानव—क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना। यह पुराणोंमें " देवासुर युद्ध " नामसे प्रसिद्ध है। आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चलही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

स्वाहा विधि।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये। इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है। पाठक प्रत्येक बलक और उसके प्रयोग क्षेत्रका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको इस बातका पता लग सकता है। दूसरोंका घातपात करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलों का उपयोग " स्वाहा " विधिसे करनेको कहा है। " स्वाहा " विधिका तात्पर्य ' आत्मसर्वस्वका समर्पण ' करना है। पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढजांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तें में विशेष महत्त्व रखता है।

स्व = अपना }
हा = त्याग } — आत्म—सर्वस्व—समर्पण।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है। यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी आर्यपद्धति बता रहा है। शास्त्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और आर्यपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है। सब शत्रुनाश या शत्रुपार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बडी समस्या है। परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेंगे तो इस समस्याका हल स्वयं हो सकता है। क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ "स्वाहा" का उल्लेख हुआ है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि वह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गई और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता गया तो कितनी हानी की संभावना है। एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा। तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए। आत्म समर्पणसेही शक्तिका उचा उपयोग हो सकता है। और सच्चा हित भी हो सकता है।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह बार "स्वाहा" का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग में आत्मसमर्पण की विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

शुद्धि की विधि।

(१९-२३)

(ऋषिः-अथर्वा। देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः २२ चन्द्र, २३ आपः)

(१९) अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥
अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ ० ॥ २ ॥
अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒० ॥ ३ ॥
अग्ने॒ यत्ते॒ शोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒० ॥ ४ ॥
अग्ने॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑तेजसं कृणु॒ यो॒० ॥ ५ ॥
(२०) वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒० ॥ १ ॥
वायो॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒० ॥ २ ॥
वायो॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒० ॥ ३ ॥
वायो॒ यत्ते॒ शोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒० ॥ ४ ॥
वायो॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑तेजसं कृणु॒ यो॒० ॥ ५ ॥
(२१) सूर्य॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒० ॥ १ ॥
सूर्य॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒० ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५ ॥

अर्थ-हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप् देवता ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप्त करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं २ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (अतेजसं) अतेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इसलिये कृपा करके हमारे द्वेषोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हटाकर, उन में आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो। जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

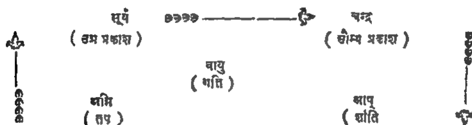
पांच देव

इन पांच सूक्तोंमे पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है। ये पांच देवताएं ये हैं—

" अग्नि, वायु, सूर्य , चन्द्र, आपः "

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है। अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थासे एकके पश्चात दूसरी आगई है कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देनेवाले हैं। अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है। यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी।

पंचायतन।



पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं। उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्वकी पूर्ण शान्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है। शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है। और इसी लिए इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकट्ठा किया है।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियां इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं। उनके नाम ये हैं।

" तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः " ये पांच शक्तियां हैं। ये पांचों शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं। इससे पाठक जान सकते हैं कि हरएक की ये शक्तियां भिन्न हैं। अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा 'हरः' नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है " हरण करना " हरलेना। यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

लिए पचीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेसे सहज हीमें जान जायंगे।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिए हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः तपाना, तपना। इसका महत्त्व बडा भारी है। सुवर्णादि धातु अग्निमें तपने से ही शुद्ध होते हैं। कायिक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है। तपना अनेक प्रकारसे होता है। तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है।

२ हरः— हरण करना, हरलेना। दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना। सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है। इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः-अर्च् धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है। पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है। दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचि --शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है। शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना। हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें। स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः—तेजन करना है। तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है। शस्त्र की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट है। तीखा करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना।

उदाहरण के लिये लोहा लीजिये। पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् इसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला, (अर्चि॰) जाता है, नंतर (शोचि) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है। यह एक चक्कू छुरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है। फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है! तात्पर्य " तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन " यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है। पाठक इसका बहुत मनन करें।

मनुष्यकी शुद्धि।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिए। इस कार्य के लिए पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए। इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है। इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराजमान हैं यह देखिये—

देवतापंचायतन।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ये पांच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः [अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्] = अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है। अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) = वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है। और यह प्राण एकादश विध होकर सब शरीरमें व्यापता है।

३ सूर्य. (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) = चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ बसा है।

५ आप. (आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्) = जल रेत बन कर शिश्नके स्थानपर बसा है।

ये पांच देव इन पाच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं । यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहांही पाठक देखें। यहां जो वाक्य ऊपर लिए हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ० उ०-११२) मेंसेही लिए हैं। इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है। अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंमें अर्थ देखिए-

सूक्त १९ = [अग्नि-वाणी] = हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है। तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंत:करण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसकी शुद्धि कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूक्त २० = [वायु = प्राण] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है। प्रत्येक की पाच शक्तियां हैं और उनसे जो शुद्धता होती है,उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है। जो बाह्य देवताएं हैं उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान हैं, उन अंशोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है। यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है।

शुद्धिकी रीति।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पाच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिए तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए—

१ वाणीका तप—सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिए। जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उस-को सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये। सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है। वाणीके अंदर जो दोष हैं उनको भी दूर करना चाहिये। वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिए, जो बोलना है वह स्वभावसे परिशुद्ध विचारोंसे युक्त ही बोलना चाहिए। इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिए उत्सुक हो जाता है। (सू० १९)

२ प्राणका तप—प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धौंकनीसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण), सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए। दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है ? इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बडा भारी पतन का साधन है।

आज कल अखबारों और मासिकोंमें देखिए दूसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है और उन्नतिका सच्चा मार्ग कम लिखा जाता है। दो चार मित्र इकट्ठे बैठें या मिलें तो उनकी जो बातचित, शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरेका द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिए मनुष्य द्वेषही करता आता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि " जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये। " क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढती रहती है। किसी कारण भी वह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव यह नियम अटल है। अब देखिए, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है।

इसी लिए द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए। और अपनी शुद्धि करना चाहिए। तथा आगेके लिए निन्दावृत्ति छोडना भी चाहिए। अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरवस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञात हो सकता है। नव प्रविष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिए खुला होनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विशेषता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है। पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें।



डाकुओंकी असफलता ।

(२४)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-आयुष्यम्)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ-हे (शेरभक शेरभ) वध करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय। (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ। (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लडनेके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे (शेवृधक शेवृध) घातपात करनेवाले०।० ॥ २ ॥

(हे म्रोक अनुम्रोक) हे चोर और चोरोंके साथी ! ०।० ॥ ३ ॥

हे (सर्प अनुसर्प) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले ! ०।० ॥ ४ ॥

हे (जूर्णि) विनाशक ! ०।० ॥ ५ ॥

हे (उपब्दे चिल्लानेवाले ! ०।० ॥ ६ ॥

हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥ ७ ॥

हे (भरूजि) भीषण वृत्तिवाले ! तुम सबके (यातवः) अनुयायी और (हेति.) शस्त्र तथा (किमीदिनीः) लूट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जांय। जिसके अनुयायी तुम हो (तं अत्त) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो ।)

दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके। इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जांय, इनके शस्त्र व्यर्थ हों, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें। ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें। विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जांय॥ १-८॥

दुष्ट लोग।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं। ये डाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं। इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें। सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे। प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखे मरने लगेंगे। पश्चात् आपसमें लडेंगे और आपसमें लड कर मर जांयगे। इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होंगी।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लुटेरे भूखसे मरने लगना ही इन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है। ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है। पाठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंको सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा।



पृश्निपर्णी।

[२५]

(ऋषिः-चातनः। देवता-वनस्पतिः)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः। उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्॥ १॥
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत। तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २॥

अर्थ-[देवी पृश्निपर्णी नः शं] देवी पृश्निपर्णी औषधी हमारे लिये सुख और [निर्ऋत्यै अ-शं] व्याधियोंके लिये दुःख [अकः] करती है। [हि उग्रा कण्व-जम्भनी] क्योंकि यह प्रचण्ड रोग बीज नाशक है। [सहस्वतीं तां अभक्षि] बलवती उस औषधिका मैं सेवन करता हूं॥ १॥

[इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत] यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है। [तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि] उस वनस्पतिसे बुरे नामवाले रोगोंका सिर मैं कुचलता हूं [शकुनेः इव] जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर तोडते हैं॥ २॥

भावार्थ-पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है; यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है॥ १॥

इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधी है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है॥ २॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति। गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥
गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्। तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४॥
पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्। तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

अर्थ- हे पृश्निपर्णि! [अ-राय] शोभा हटानेवाले, [असृक्-पावानं] रक्त पीनेवाले [यः च स्फातिं जिहीर्षति] जो पुष्टिको रोकता है, उसको तथा [गर्भ-अदं] गर्भ खानेवाले, [कण्वं नाशय] रोगबीजका नाश कर और [सहस्व] उसको जीत लो ॥३॥

हे [देवि पृश्निपर्णि] देवी पृश्निपर्णी औषधी! तू [एनान् जीवितयोपनान्] इन जीवित का नाश करनेवाले [कण्वान्] रोगबीजोंको [गिरिं आवेशय] पहाडपर ले जाओ और [त्वं तान् अग्नि इव अनुदहन्] तू उनको अग्निके समान जलाती हुई [इहि] प्राप्त हो ॥४॥

[एनान् जीवित-योपनान्] इन जीवितका नाश करने वाले [कण्वान् पराचः प्रणुद] रोगबीजोंको अधोमुखसे हटा दे। [यत्र तमांसि गच्छन्ति] जहां अंधकार होता है [तत्] वहां [क्रव्यादः अजीगमं] मांस भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है ॥५॥

भावार्थ— जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको गुलाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥३॥

जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उनके रोग बीजोंको जला देगी ॥४॥

प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो। जहां अंधेरा रहता है वहां ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥५॥

पृश्निपर्णी।

इस पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी कहते हैं। भाषामें इसको 'पीठवन, पीतवन, पठौनी' कहते हैं। इसके गुण ये हैं-

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः॥ भाव पू. १ भाग. गुडू. वर्ग.

'यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है।' इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है। इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करनेके लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये-

३ स्फातिं निर्हावर्तिं—पुष्टि हटाता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर कृश होता जाता है। शरीर का सुडौलपन कम होता है। अर्थात् शरीर क्षीण होता है। (मं० ३)

४ गर्भाद् (गर्भ—अद) = गर्भको खानेवाला रोग । म ताकि गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (मं० ३)

५ कणव —जिस रोगमें रोगी अशक्ततासे (कणति) शब्द करते हैं, आहें मारते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं। (मं० १,३—५)

६ निर्ऋतिः— (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग । (निः-ऋतिः) टेढा च ल चलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं। (मं० १)

७ दुर्नामा—(दु –नामा) दुष्ट यशवाला रोग। अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। (मं० २)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्ऋति, ७ दुर्नामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करना आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय रोग आदि होते हैं। ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकोंको सावध किया है कि वे इन घातक रोगोंसे अपना बचाव करें। अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं।

रोगका परिणाम।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहां बतायी है देखिए—

जीवित-योपन ॥ (मं ४–५)

" जिवित का नाश करनेवाला यह रोग है । " खून बिगडकर पांडुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग हुए तो उनसे जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है। ये रोग बडे कष्ट साध्य होते हैं। इसलिए अपने आपको बचाना ही योग्य है।

उत्पत्तिस्थान।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तने स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए-

तमांसि यत्र गच्छन्ति
यत्रक्वारो अजीनशम् ॥ (मं. ५)

" जहां अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्रसृ होते हैं । " जहां सदा अंधेरा रहता है। जहां वायु नहीं पहुंचता, जहां सूर्य प्रकाश नहीं आ सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं। अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते सूर्य प्रकाश न पहुंचनेवाले कमरोंमें रहते हैं। अथवा जिनके निवास गृह ऐसे हैं उनको ये रोग होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानोंमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकते। इसलिए पाण्डुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहां परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए।

बचावका उपाय ?

रोग होने के पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तने कहा है वह अब देखिए—

अजीवितयोपनात् धनाद् कण्वात्।
गिरिं आवेशय ॥ (मं० ४)

" जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हों अर्थात् जिन को ये रोग हो गये हैं, उनको पहाड पर लेजाओ ।" पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायुवाले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाओ । यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन समूहोंमें मत रखो, परंतु पहाडपर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे शुद्धवायुहीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो । नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहांका वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पहाडपर ले जानाही योग्य है । इस मंत्र में प्राणनाशक रोगबीज (जीवितयोपन कण्व) को पहाड पर लेजाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाडपर ले जाना है । क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि प्रयोग भी लिखा है, देखिए—

देवि पृश्निपर्णि ! त्वं तान् अग्निः इव
अनुदहन् इहि ॥ (मं० ४)

" यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अग्निके समान जलाती हुई प्राप्त होगी । " अर्थात् पहाडपर गये उक्त रोगियोंको इस औषधिका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोगी आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि—

इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना अजायत । (मं० २)

" यह पहली पिठवन विजयी होती है । " किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है । इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे ।

कण्वजम्भनी उग्रा हि
तां सहस्वतीं अभक्षि ॥ (मं० १)

यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है । इसका सेवन (सहस्वती) वीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिए । "इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे समयमें ताजी वनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तात्काल उसका सेवन कराया जा सकता है । वहांसे वनस्पति उखाडकर नगरमें आनेतक वह रस-हीन होना संभव है ।

देवी पृश्निपर्णी नः शं
निर्ऋत्या अ—शं अकः ॥ (मं० १)

" " यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगोंको ही दुःख देती है । " अर्थात् रोगोंको परे हटाती है तथा—

तया अहं दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि । (मं० २)

" इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं । " मानो इनका शिर ही तोड देता हूं, ताकि वे रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठा सकें ।

जीवित—योपनान् कण्वान्
पराचः एनान् प्रणुद ॥ (मं० ५)

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (singledrug systym) ही लिखा है। अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिए पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है। इसलिए जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पैंठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें।

गो-रस ।

(२६)

[ऋषिः-सविता । देवता-पशवः ।]

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥
इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥
सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ- [पशवः इह आयन्तु] पशु यहां आजावें। [ये परा-ईयुः] जो परे गये हैं। [येषां सहचारं वायुः जुजोष] जिनका साहचर्य वायु करता है। [येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद] जिनके रूप त्वष्टा जानता है। [अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नियच्छतु] इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे ॥ १ ॥

[पशवः इमं गोष्ठं संस्रवन्तु] पशु इस गोशालामें मिलकर आ जांय। [बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु] बृहस्पति जानता हुआ उनको ले आवे। [सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु] सिनीवाली इनके अग्रभागको ले आवे। हे [अनुमते] अनुमते! [आ जग्मुषः नियच्छ] आनेवालोंको नियममें रख ॥ २ ॥

[पशवः अश्वाः उ पूरुषाः सं सं सं स्रवन्तु] पशु, घोडे और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें। [या धान्यस्य स्फातिः सं] जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे। मैं [संस्राव्येण हविषा जुहोमि] मिलानेवाले हविसे हवन करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ- जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजांय। इनके विषयोंको त्वष्टा जानता है। सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे ॥ १ ॥

सब पशु मिलकर गोशालामें आजांय, जाननेवाला बृहस्पति उनको ले आवे। सिनीवाली अग्रभागको ले चले और अनुमति सब आनेवालोंको नियममें रखे ॥ २ ॥

पशु घोडे और सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें। धान्यभी मिलकर बढे। सबको मिलानेवाले हविसे मैं हवन करता हूं ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥
आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः ।)

अर्थ- [गवां क्षीरं सं सिञ्चामि] गौओंका दूध सींचता हूं । [बलं रसं आज्येन सं] बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। [अस्माकं वीराः संसिक्ताः] हमारे वीर सींचे गये हैं। [मयि गोपतौ गावः ध्रुवा] मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर हों॥४॥

[गवां क्षीरं आ हरामि] गौओंका दूध मैं लाता हूं। [धान्यं रसं आहार्षं] धान्य और रस मैं लाता हूं। [अस्माकं वीराः आहृताः] हमारे वीर लाये गये हैं। और [पत्नीः इदं अस्तकं आ] पत्नियां भी इस घरमें लायी गई हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं गौओंसे दूध लेता हूं तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूं। हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है। इस कार्यके लिये हमारे घरमें गौवें स्थिर रहें ॥ ४ ॥

मैं गौओंसे दूध लेता हूं, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूं। हमारे वीरों और बालोंको इकट्ठा करता हूं, घरमें पत्नियां भी लाई जाती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौवें, घोडे, बैल आदि बहुत पाले जाय। यह एक प्रकारका धन ही है। आज कल रुपयोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है। इनकी पालना योग्य रीतिसे करने के विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं। आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, क्वचित् किसीके घरमें एक दो गौएं होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं। नगरके लोग प्रायः दूध आदि मोल ही लेते हैं। इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ से प्रतीत होंगे। परंतु पाठकगण अपनी दृष्टि वैदिक कालमें ले जाय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषियोंके पास हजारों गौवें होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशु भी बहुतसे होते थे। ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं।

भ्रमण और वापस आना ।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें भ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके बिना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका भ्रमण होनेके बिना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। और न उनका दूध गुणकारी हो सकता है। इसलिये-

येषां सहचारं वायुः जुजोष । (मं० १)

" जिनका सहचर्य वायु करता है " यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंके आरोग्यके लिए उनका शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात बता रहा है तथा-

१ त्वष्टा येषां रूपाणि वेद। (मं० १)
२ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु। (मं० १)
३ बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु॥ (मं० २)
४ सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु। (मं० २)
५ अनुमते! आजग्मुषः नियच्छ। (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम अलेक कार्यके लिए आगये हैं। इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल भावार्थ भी यहां देखिए-

१ त्वष्टा— सूक्ष्म करनेवाला, कुशल कारीगर। (त्वक्ष-तनूकरणे)
२ सविता— प्रेरक। (सु-प्रेरणे)। चलानेवाला।
३ बृहस्पतिः-ज्ञानधन, (बृहत्) बडेका (पति) स्वामी। पुरोहित, निरीक्षक।
४ सिनीवाली-(सिनी) अन्नक (वाली) बलसे युक्त। अन्नवाली स्त्री।
५ अनु-मतिः-अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थोंके साथ ही ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं। ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिए-

१ कुशल कारीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है। २ प्रेरक उनको गोशाला में क्रमपूर्वक नियममें रखे। ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे। ४ अन्नवाली स्त्री पशुओंके आगे चले। और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले।

यहां पशु पालनेके आदेश मिलते हैं। इनका विचार यह है- "(१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिकारी होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थान-पर आगये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुरक्षण्य विद्याको अच्छी प्रकार जाननेवाला हो, वही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजांय तो उनको खान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबसे आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलने वाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले।" इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध करती हैं इस लिए अंतिम दो कार्योंमें स्त्रियोंको नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है यह स्पष्ट ही है।

जहां सैंकडों और हजारों गौवें पाली जाती हों ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है। आजकल जहां गौवोंका अभाव सा हो गया है वहां ऐसे बडे प्रबंधकी आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है। यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है, इसका पाठक अवश्य विचार करें। जिस घरमें दस पांच गौवें कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते हैं और जिस घरमें गौवें नहीं होतीं, उस घरके मनुष्य कैसे मरियल से होते हैं इसका विचार करनेसे गो पालनके साथ तन्दुरस्ती का संबंध कितना घनिष्ट है इसका पता लग सकता है। यहां तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। तृतीय मंत्रमें सबके मिलजुलकर रहनेसे लाभ है या यह बात कही है। पशु तथा और मनुष्य तथा सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी पुष्टि करें, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति करें। इस प्रकार धान्य, वनस्पतियां और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढाते हुए अपनी उन्नति करें। (मं० ३)

दूध और पोषक रस।

दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यान्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहिये, और उनका सेवन भी यथेष्ट प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश दे रहे हैं। इन मंत्रोंमें

'वीराः' शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, 'पुत्र, बालबच्चे संतान' भी है। यहां इन मंत्रोंमें 'पत्नी' के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः अभीष्ट है।

'मैं गौओंसे दूध लाता हूं, वनस्पतियोंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, घी भी लाया हूं। घरमें धर्मपत्नियां हैं और बालबच्चे भी इकट्ठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र और पुरुष भी जमा हुए हैं, इन सबकी इच्छाके अनुसार यह सब खाद्यपेय दिया जाता है। (मं० ४—५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। ' संसिक्ता अस्माकं वीराः ' हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब भीग जाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध घी आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है। 'संसिच्' धातुका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, भिगोना है। बालबच्चे दूध दही मक्खन घी, रस आदिमें पूरे पूरे भीग जांय इतना गोरस घरमें चाहिये। हृष्टपुष्टता तो तब आ सकती है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मीयोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी गृहव्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक हृष्टपुष्ट हों। आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढावें। सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होंगे। गोरक्षण, गोवर्धन तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही लाभ होने का प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा।



विजय-प्राप्ति।

(२७)

(ऋषिः-कपिञ्जलः। देवता-१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं० ॥ २ ॥

अर्थ-[शत्रुः प्राशं न इत् जयाति] प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर नहीं निश्चयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्योंकि तू [सहमाना अभिभूः असि] जयशील और प्रभावशाली है। [प्राशं प्रतिप्राशः जहि] प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत लो। [ओषधे! अरसान् कृणु] हे औषधे! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥

[सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत्] गरुडने तुझे प्राप्त किया है और [सूकरः त्वा नसा अखनत्] सूअरने तुझे नाकसे खोदा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्योंकि मेरी यह शक्ति जय शालिनी और प्रभावपूर्ण है। इसलिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव होगा। औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क करेगी ॥ १ ॥

इस वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सूअर खोदता है ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ह च॒क्रे त्वा॑ बा॒हावसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे । प्रा॒शं० ॥ ३ ॥
पा॒टामिन्द्रो॒ व्या॑श्ना॒दसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे । प्रा॒शं ॥ ४ ॥
तया॒हं शत्रू॒न्त्साक्ष॒ इन्द्रः॑ सालावृ॒काँ इ॑व । प्रा॒शं० ॥ ५ ॥
रुद्र॑ जला॑षभेषज॒ नील॑शिखण्ड॒ कर्म॑कृत् ।
प्रा॒शं प्रति॑प्राशो जह्य॒रसा॒न्कृ॑ण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य॑ प्रा॒शं त्वं ज॑हि॒ यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामुत्त॑रं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ— [इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहौ ह चक्रे] इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहुपर धारण किया था ॥ ३ ॥

[असुरेभ्यः स्तरीतवे] असुरों से बचाव करनेके लिये [इन्द्रः पाटां व्याश्नात्] इन्द्रने इस पाटा वनस्पतिको खाया था । ० ॥ ४ ॥

[अहं तया शत्रून् साक्षे] मैं इस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूं [इन्द्रः सालावृकान् इव] जैसे इन्द्र भेडियोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

हे [जलाष-भेषज] जलसे चिकित्सा करनेवाले [नील-शिखण्ड] नील शिखावाले [कर्मकृत् रुद्र] पुरुषार्थी रुद्र ! [प्राशं प्रतिप्राशः] प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको [जहि] जीत लो । [ओषधे अरसान् कृणु] हे औषधे ! तू प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! [यः नः अभिदासति] जो हमें दास बनाना चाहता है [तस्य प्राशं त्वं जहि] उसके प्रश्नको तू जीत लो [शक्तिभिः नः अधिब्रूहि] शक्तियों के साथ हमें कह और [प्राशि मां उत्तरं कृधि] प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥

उसीसे शत्रुओंको भगा देता हूं ॥ ५ ॥

हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरुषार्थी रुद्रदेव ! प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे ! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत लो, प्रतिप्रश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

विजय के क्षेत्र ।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों विजयोंको प्राप्त करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी ।

प्रश्न करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिप्राश्' कहते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समानही ये 'प्राश और प्रतिप्राश' शब्द हैं। पाठक इनमें समानता देखें। पहिला मंत्र तथा आगेभी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्ता भी हम ऐसे कि हमारा ज्ञान भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखें, और इस प्रकार युक्ततासे प्रश्न करे कि एक दो वा

थोडेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका मुख फीका पडजाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सहज ही में वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । [redacted] सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई वार दी है । वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय ।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है । जिस तैयारीसे अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाटा औषधी ।

इस सूक्तमें उक्त विजयके लिये एक औषधि प्रयोग लिखा है । इस औषधिका नाम 'पाटा या पाठा' (मं० ४) है इस औषधिके गुण ये हैं-

तिक्ता गुरूष्णा वातपित्तज्वरघ्नी ।
भग्नसंधानकृत् पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च । राज नि० व. ६
श्रेयसी सुखवाचिका । कफकण्ठरुजापहा । भावप्र० ।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरु, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, टूटेहुएको जोडनेवाली, पित्त दाह अतिसार का नाश करनेवाली है । यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है ।' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' नकपाठा, आकनादी, निमुखा' कहते हैं ।

वादविवाद के समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और कफशुष्कसे होनेवाले कष्ट नहीं होते । यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन [redacted] सूक्तमें किया है । इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावटभी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिए उपयोगी है कि इससे टूटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर आते हैं । महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके अंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे । जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिए सिद्ध हो जाते थे । नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है । महाभारतमें वहां औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन की जाती थी इतनाही लिखा है । इस सूक्तने " पाठा " नाम दिया है । ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था ।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर [redacted] गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः बाहौ चक्रे । (मं० ३)
२ इन्द्रः पाटां प्राश्नात् । (मं० ४)

इन मंत्र भागोंमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी इस खोज करेंगे, और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं । भारतीय युद्धके समय वीर, भी इसका उपयोग,

करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्व।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिए—

शक्तिभिः अधिब्रूहि। (मं० ७)

" अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो।" अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता है। इसलिए वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा—

यः नः अभिदासति तं जहि। (मं० ७)

" जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो।" यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बडा लाभकारी हो सकता है। अपना बल बढाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासन का निषेध।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किया है। यहां तक यह निषेध है कि " अभिदास " का अर्थ " विनाश " ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बन ना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास गुलाम- बनना पसंद नहीं करता। पाठक इस बातका यहां मनन करें और धर्ममयी वीरवृत्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें।

जलचिकित्सक।

यह मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थी शूरका वर्णन है। "जलाष भेषज" शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जलही है। नील शिखण्डीका अर्थ नील शिखावाले हैं, यह तरुण जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध करता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है, तरुणकी ही नीली या काली होती है। " कर्म—कृत् " शब्द पुरुषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्म में कुशल। " रुद्र " शब्द का अर्थही (रुद्+द्र) रुलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सक का नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें जखितोंम वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पारा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिए ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेगी।

—०—

दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

(२८)

[ऋषिः-शम्भुः । देवता-जरिमा, आयुः]

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः ॥ १ ॥
मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (जरिमन्) वृद्धावस्था ! (तुभ्यं एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे । (इमं ये अन्ये शतं मृत्यवः) इसको जो ये सौ अपमृत्यु हैं (मा हिंसिषुः) मत हिंसित करें । (प्र-मनाः माता पुत्रं उपस्थे इव) प्रसन्नमनवाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्र मित्रियात् एनम् अंहसः पातु) मित्र मित्रसंबंधी पापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । (होता वयुनानि विद्वान् अग्निः) दाता और सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला अग्नि (तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥

(ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे) पृथ्वीके ऊपर के प्राणियोंका तू स्वामी है । (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोड दें । तथा (मित्राः इमं मा वधिषुः) मित्र इसे न मारें और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥ ३ ॥

भावार्थ- मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे । बीचमें उसका अपमृत्यु उत्पन्न करनेवाले भी इसे न कष्ट करें । जिस प्रकार अपने प्रियपुत्र को माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ बचाती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥

द्यौष्ट्वा॑ पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता ज॒राम॑त्युं कृणुतां संविदा॒ने ।
यथा जीवा अदि॑तेरु॒पस्थे॑ प्राणापा॒नाभ्यां॑ गुपि॒तः श॒तं हिमाः ॥ ४ ॥
इमम॑ग्न आयु॑षे वर्च॑से नय प्रि॒यं रेतो॑ वरुण मित्रराजन् ।
मा॒तेवा॑स्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे॑ देवा ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त् ॥ ५ ॥

अर्थ- (द्यौः पिता पृथिवी माता संविदाने) द्यौष्पिता और पृथ्वी माता मिलकर (त्वा जरामृत्युं कृणुतां) तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । (यथा अदितेः उपस्थे) जिससे मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे (अग्ने मित्र वरुण राजन्) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा ! (प्रियं रेतः) प्रिय भोग और वीर्य का बल देकर (इमं आयुषे वर्चसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा । हे (अदिते) आदिशक्ति ! तू (माता इव अस्मै शर्म यच्छ) माता के समान इसे सुख दे । हे विश्वे देवो ! (यथा जरदष्टिः असत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे अग्ने वरुण मित्र राजन् ! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घआयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ । आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे । और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

" शतायु " शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके (मं० ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) " सौ वर्षतक जीवो " कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा–

ये अग्ने शतं मृत्यवः ते इमं मा हिंसिषुः । (मं० १)

" जो सेंकडों अपमृत्यु हैं वे इसको बीचमें ही न मार सकें । " अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह यहां कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिए ऐसे दृढव्रती हों, और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दृढताते पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जांय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिए—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं० ४)

" प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीओ । " इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिए । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । वे ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं० २, ५ में) पाठक देख सकते हैं । इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं। साधारण भस्रा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त हैं। भस्रा प्राणायाम धौंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है। यह थोडे समय तक ही होता है। अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है। जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है। श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो। इच्छानुसार कुंभक किया जावे या न किया जावे। यह अतिसुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और विना आयास जिस समय चाहे हो सकता है। यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए अति उपयोगी है।

इस प्रकार प्राणका बल बढानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है। और अपानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं। अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे मार्गसे गमन आदि हैं, वे इससे होते हैं। अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं।

इस योजनासे प्राण और अपानका बल बढानेसे दीर्घआयु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है। हित मित पथ्य भोजन, संयमवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राण अपानके बलसे अपने आपको सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहां इस कार्यके लिए इस सूक्तने बताया है और वह योग्य ही है।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होंगे, भूख उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी। इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार विना कष्ट होने लगेंगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्ग पर अपना पग है। परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना योग्य है, कि अपना पग दूसरे मार्गपर पडा है। यही तृतीय मंत्रमें कहा है।

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः [मं० ३]

" प्राण अथवा अपना इसे बीचमें ही न छोड दें। " अर्थात् यह मनुष्य सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें। जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिए, क्योंकि ये कार्य ठीक चलते रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है। (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे सौ वर्ष जीवित रहेगा। इसलिए दीर्घायुष्य के इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंको बढावें।

ईशप्रार्थना ।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः (मं० ३)

" हे ईश्वर ! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी न करें । " तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकही है, " भूत भविष्य कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे । " यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब चराचर जगत् का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढता है, वह अपूर्व है। श्रद्धावान् लोग ही इस बलका अनुभव करते हैं । और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं । इस लिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (स्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घआयु प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे वंचित न रहें। इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते। पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढावें जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं ।

देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए । देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरुषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उन्ही ग्रंथोंका पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिए।

आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापोंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढने वालोंमें रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है, और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं। परंतु ये पुस्तक आज कल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हीन दर्जे के लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए—

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः
सद् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ (मं० २)

" सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे । " यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है । इस में सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्य को यथावत् जाननेवाला हो । इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगोंको (देवानां जनिमानि देवताओंके जीवनचरित्र सुनावे । देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, कैसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे । राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिए अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहिए । आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है । राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है । यदि उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिए रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी। आयु बढानेके लिए भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिए लें और रावणका जीवन न लें । आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही बिगाड कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहां देने का है । इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा ।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं । संयम शीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं । इस लिए धर्मग्रंथ पठन यह एक आजकल दुष्प्राप्य बात हो रही है । तथापि ऋषियोंकी कृपासे रामायण महाभारत ग्रंथ तथा.

अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित है कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके। अस्तु। इस मंत्र भागने "दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन" यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है यह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें।

पापसे बचाव। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है। और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिए—

मित्र एनं मित्रियात् अंहस: पातु। (मं० १)

"मित्र इस मनुष्यको मित्रसंबंधी पापसे बचावे।" शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए। कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनके लिए, कुछ भी बुरा भला किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप जो है वह हमेशाही पाप होता है वह किसीके लिए किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा। इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलाने की सलाह देवे। मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे। मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इस लिए कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्यका संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं। और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिए एक सहज ही सी बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए-

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय। (मं० ५)

"इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिए ले चलो।" अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढता जाय। परंतु भोग भोगने और वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले। अपना समय भोग और पराक्रमके कार्यके लिए ऐसा बांटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें। अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए। रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेक से ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भोग भी करनेके विषयमें समझना योग्य है। इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी

४ विश्वे देवाः ! जरदष्टिः यथा असत्। [मं० ५]

" मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें ॥ द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥ हे अविनाशी आदि शक्ति ! तू माता के समान सुख दे ॥ हे सब देवो ! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो ॥ "

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदि इनकी अनुकूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्य देव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचायेगा ? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तब ही जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है। मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घजीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

(२९)

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-नाना देवताः।)

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

अर्थ-हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और बृहस्पति (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य तन्वः भगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संबंधी (रसे बले) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धात्) देवे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयु धेहि) इसके लिये दीर्घ आयु दे। हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां अधि निधेहि) इसके लिये प्रजा दे। हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे। (तव अयं शतं शरदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे॥ २ ॥

भावार्थ— हे देवो ! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न रस बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! इसको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥
ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥
शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ-(नः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसौ) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्त) दो । हे इन्द्र ! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृण्वानः) करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे दबाता है ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उत्साही वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है । हे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी ! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधत्, मा तृषत्) क्षुधा और तृषासे पीडित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली ! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूध वाली ! इसके लिये दूध दो द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देते हैं । तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, मरुत्, आप ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

(शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याणमयी क्रियाओंद्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं । तू (अनमीवः) निरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो । (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो ॥ ६ ॥

(विद्धः इन्द्रः) भक्ति किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्नयुक्त सुधा को उत्पन्न करता है, देता है । (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लियेही है । (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह । (ते मा आसुस्रोत्) तेरे लिये ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने इसको रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे देव ! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्यक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करे, और शत्रुओंको नीचे मुख किए हुए बना देवे ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरुके द्वारा शिक्षित बना, वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इसलिए यह उग्र बनकर हमारे अन्दर आया है, और कार्य करता है। मातृभूमि की उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्यास से कभी कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें। जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥

शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को तृप्त करता हूं। तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा आनंदित हो जाओ। मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पीओ ॥ ६ ॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्तितक जीवित रह। तेरी आयु में ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो। और तेरे लिए वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है। अर्थात् शरीर का बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज [redacted] रससेवनपर निर्भर है।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें यह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिलकुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि अग्निकी उष्णता; सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण होकर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है। इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश [redacted] रसमें होनेसे ही वह रस मानो देवताओंका ही रस है। इसलिए उसके सेवनसे देवताओंके सत्वांश का ही सेवन होता है। जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल हो जाती है। यह बात देखनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है। पाठक यहां अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिए अन्नादि भोग तैयार करनेमें कैसे दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं!! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है।

" अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे युक्त आयुष्य और तेज देते हैं।" यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है। इसलिए दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें। यह प्रथम मंत्रका बोध है। (मं० १)

शतायु बनो।

द्वितीय मन्त्र कहता है कि " जातवेदसे आयु, त्वष्टासे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है।" (मं० २) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है। जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होती है। इसलिए इनका विशेष विचार करना आवश्यक है–

१ जातवेदः– (जात-वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है। जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैलता है। (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी। (जातस्य वेदः) उत्पन्न [redacted] वस्तु मात्र का ज्ञान। [redacted] अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है। किसीभी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, मंत्रमें कहा है कि वह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि " ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है।" यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और उस विद्यासे अन्नपानादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिए।

२ त्वष्टा-बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर सब जगत् का बडा भारी कारीगर है, इसलिए उसको त्वष्टा कहते हैं। अन्य कारीगर भी छोटे त्वष्टा हैं। " त्वष्टा इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे " यह इस मन्त्रभागका कथन है। योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यको अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल सन्तान होना सम्भव है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आना सम्भव है। त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है।

३ सविता—प्रेरणा करनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका सञ्चार करता है इसलिए उसका नाम सविता होता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंको (पोषं) पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भी बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिए कि वह इनसे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। ' हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जाय। ' यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है। अन्नसे शरीर की भूख शान्त होती है, उससे बल बढता है; धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् वंशविस्तार के लिए सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है। इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उनसे यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसको बतानेवाला मन्त्रभाग यह है–

अयं सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मं० ३)

' यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे। ' इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदर के बलका संबंध है। ' सहः ' नाम है ' निजबल ' का। जिस बलसे शत्रु का हमला सहा जाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला आने पर भी अपना नुकसान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम सह है। मनुष्यको यह ' सह ' संज्ञक बल अपने अंदर बढाना चाहिए। यह बल जितना बढेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। और इसीके प्रभावसे शत्रु परास्त होंगे। इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। इसलिए इस मंत्र भागने जो " सह " संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसको ध्यानमें धारण करके, यह बल अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवी के अंदर जो आया है वह ' इन्द्रने आज्ञा दिया हुआ, वरुण द्वारा शासित बना हुआ, और मरुतों द्वारा चलाया हुआ आया है, इसलिए यह यहां आकर भूख और प्याससे दुःखी न बने। ' (मं० ४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे। अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करनेवाले हैं, यह बात मनमें लानेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव हैं यह विचार बड़ा बल बढाने वाला है। जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि जल अग्नि सूर्य आदि देव इसके लिए अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्य देव इसको अन्यप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे यशस्वी और विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता? कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध होकर अपने पांवपर खडा होना चाहिए।

अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है, दूधवाली गौवें इसके लिए दूध देती हैं, द्यावा पृथिवी इसके लिए बल देती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती है। (मं० ५)

पाठक इसका अनुभव करें। इतनी देवताएं मनुष्यकी सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं। इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है। इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न प्राप्त करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरुषार्थ करनेके लिए कटिबद्ध हों। मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखंड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति।

अन्न प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती। इसलिए पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठ मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है-

ते हृदयं शिवाभिः तर्पयामि। (मं० ६)

" तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं। " शिवा शब्द शुभता का वाचक है। जो मंगलमय है वह शिव है, फिर वह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है। कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किसी अन्य बातसे नहीं। पाठक यहां अनुभव करलें कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा अशांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो जाता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है। इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको ही सुसंतान होती है। पाठक यहां देखें कि हृदयकी शांतिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है। यही बात आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्ठाः (मं० ६)

" नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो। " अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इस लिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मंगलमय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खडी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरण के निश्चलत्व के विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसा करना चाहिए इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिए-

सधामिनो मार्या परिधाय मध्यं पिबतम्। (मं० ६)

" सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रस का पान करो " इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्त्व पूर्ण हैं—

१ स-धामिनौ—एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उचनीच भेदको न बढाते हुए समान चित्त रखे इकट्ठे रहने वाले। एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाज में बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर विद्वेष न बढे, परन्तु एकताका बल बढे, यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ मार्या परिधाय—माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता, कौशल आदि प्रकार का है। यह शब्द बुद्धि शक्ति और कर्मशक्तिके समानतया प्रयुक्त होता है। कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करने की सूचना इस

शब्दद्वारा मिलती है। जगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। कुशलताके विना कार्य करनेवाला यशका भागी नहीं हो सकता।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रस पान करके आनंद प्राप्त कर सकते हैं। पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें।

स्वधा।

मंत्र ७ में 'स्वधा अजर और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सौ वर्ष जीओ' यह उपदेश है। यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए—

'स्व+धा' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है। जिस शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसको स्वधा शक्ति कहते हैं। यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है। शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती। जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता, बढ सकता और विजय पासकता है। यह स्वधा शक्तिका महत्त्व है। इसके विना मृत्यु निश्चित है। इसीलिए सप्तम मन्त्रमें कहा है कि "यह स्वधाशक्ति अजर है" अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इससे (जरा) बुढापा जलदी नहीं आता, वृद्ध आयुमें भी जवानी रहती है। यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चा:) उत्तम कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभवशाली होता है और (शत जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त कर सकता है।

इसलिए ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्तोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्ति बढावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सूक्तके षष्ठ मन्त्रमें के उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इह पर लोकमें कृतकृत्य बने। यही—

"नः आशीः"

"हमारे लिए आशीर्वाद मिले" और सर्वत्र निर्वैरता और शान्तिका बडा साम्राज्य हो!

पति और पत्नीका मेल ।

(३०)

(ऋषिः-प्रजापतिः । देवता-अश्विनौ)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥
सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥
यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥
यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

अर्थ—(यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः अधि) भूमिपर (इदं तृणं मथायति) यह घास हिलाता है, (एवा ते मनः मथ्नामि) वैसा ही तेरा मन मैं हिलाता हूं जिससे तू (मां कामिनी असः) मेरी इच्छा करनेवाली होवे और (यथा मत् अप-गाः न असः) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥

(हे कामिना अश्विना) परस्पर कामना करनेवाले दो बलवानो! (च इत् सं नयाथः) मिलकर चलो, (च सं वक्षथः) और मिलकर आगे बढो। (वां भगासः सं अग्मत) तुम दोनों को ऐश्वर्य इकट्ठे प्राप्त हों, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिलें और (व्रतानि सं) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥ २ ॥

(यत्) जहां (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलनेवाले सुंदर परवाले पक्षी जाते हैं और (विवक्षवः अनमीवाः) बोलनेवाले नीरोग मनुष्य जाते हैं, (तत्र) वहां (मे हवं गच्छतात्) मेरी प्रेरणानुसार जाओ, (यथा शल्यः कुल्मलं इव) जैसा बाण की नोक निशानेपर जाती है ॥ ३ ॥

(यत् अन्तरं तत् बाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और (यत् बाह्यं तत् अन्तरं) जो बाहर है वही अंदर है। हे औषध! (विश्वरूपाणां कन्यानां) विविध रूपवाली कन्याओंका (मनः गृभाय) मन ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसा तीव्र वायु घास हिलाता है उस रीतिसे मैं तेरा मन हिलाता हूं, जिससे तू मेरे ऊपर प्रीति करनेवाली होकर सदा मेरे पास रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥

हे परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो! तुम दोनों मिलकर चलो, मिलकर आगे बढो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर होते रहें ॥ २ ॥

जहां सुन्दर पक्षवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग मनुष्य भ्रमण करते जाते हैं ऐसे सुंदर स्थानपर तू मेरी प्रेरणासे चल ॥ ३ ॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है और जो बाहर है वही अंदर है। मैं निष्कपट भावसे बर्ताव करता हूं और इस निष्कपट आचरणसे मैं विविध रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूं ॥ ४ ॥

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(इयं पति-कामा आ अगन्) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और (जनि कामः अहं आ अगमं) स्त्री की इच्छा करनेवाला मैं आया हूं । (अहं भगेन सह आ आगमं) मैं धनके साथ आया हूं, (यथा कनिक्रदत् अश्वः) जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है ॥ ५ ॥

भावार्थ- पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान हिनहिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूं । हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनी देव ।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बडे महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है । इस सूक्त की देवता 'अश्विनौ' है । ये देव सदा युग्ममें रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते । विवाहमें भी स्त्रीपुरुष एकवार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आमरण विवाह बंधन से बधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रखी है । जिस प्रकार अश्विनी देव सदा इकट्ठे रहते हैं कभी वियुक्त नहीं होते, उसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रम में इकट्ठे रहें और परस्परसे वियुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोडकर स्वैर वर्तन कभी करनेवाले कभी न बनें ।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इकट्ठे रहते हैं; उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों । यहां " अश्विनी " शब्द ' अश्वशक्तिसे युक्त ' होनेका भाव बता रहा है । पुरुष गर्भाधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें " वाजीकरण " के प्रयोग लिखे हैं । वाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं । स्त्रीपुरुष अश्विनी हों, इसका अर्थ वाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भाधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो । " अश्वि " शब्दका यह श्लेषार्थ यहां पाठक अवश्य देखें । स्त्री पुरुष परस्पर " कामिनौ " अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्राप्तिकी इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे । इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है । देखिए--

विवाह का समय ।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र भाग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है--

इयं पतिकामा आ अगन् ॥
अहं जनिकामः आ अगमम् (मं० ५)

" यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आगई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूं । " यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है । स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए । इस समय विवाह करना चाहिए । परंतु यहां यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भाधानका समय हो । फिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है । यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भाधान का मानना पडेगा । तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य समाप्तिके पश्चात् प्रौढ और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरुष होनेके पश्चात् [illegible] विवाह करना चाहिये । इस विषयमें इसी मंत्रमें आगे देखिए-

यथा कनिक्रदत् अश्व ।
अहं भगेन सह आगमम् ॥ (मं० ५)

' जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आया हूं । ' यहां उत्तम तारुण्य और गर्भाधान की अत्युत्तम शक्ति जिसके शरीरमें है ऐसे तरुणका वर्णन है। यही विवाह के लिए योग्य है । विवाह के लिए न केवल तारुण्य और

वीर्य की आवश्यकता है, प्रत्युत (भग) धनकी भी आवश्यकता है। कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे, यह बोध यहां मिलता है। पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तरुण बने, वीर्यवान और बलवान् हो, धन कमाने लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे। यह पंचम मंत्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " शब्द हैं, इनका आशय इससे पूर्व बताया है। ' कामिनौ ' शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और ' अश्विनौ ' का स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो ' अश्विनौ ' शब्द यहां उत्तम तारुण्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और ' अश्व ' शब्द वाजीकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरुष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

पंचम मंत्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है। ' धीः, श्री, स्त्री ' यह वैदिक क्रम प्रसिद्ध है।

निष्कपट बर्ताव।

स्त्री पुरुषोंका परस्पर बर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिए। तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्वपूर्ण है--

यदन्तरं तद्वाह्यं यद्वाह्यं तदन्तरम्। (मं० ४)

' जो अंदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है। ' यह निष्कपट व्यवहारका परम उच्च आदर्श है। पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें। गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यहां वेदने सुबोध शब्दोंद्वारा बताया है। वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढावें।

विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय॥ (मं० ३)

' विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे। ' कोई तरुण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका बर्ताव सीधा और कपट रहित रखे। कपट भावसे कन्याको धोखा देकर उसको फसानेका यत्न कोई न करे। सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय। कभी कोई छल वा कपट न किया जाय। स्त्री पुरुष व्यवहारके विषयमें इस मंत्रका यह उपदेश अत्यंत महत्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका वारवार मनन करें।

आदर्श पतिपत्नी।

चतुर्थ मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसका मांसला नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिए—

१ समयन्—सन्मार्गसे चलो और चलाओ। एक मत से चलो। एक मतसे प्रचार चलाओ। स्त्री और पुरुष एक दिलसे चलें और परिवारको चलावें।

२ सवक्षथ—मिलकर आगे बढो। स्त्री और पुरुष एक विचारसे आगे बढने तथा उन्नति संपादन करनेका प्रयत्न करें।

३ भग स सवामत—सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें। मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे।

४ चित्तानि स—आपके चित्त मिले हुए हों।

५ व्रतानि स—आपके व्रत भी मिलजुल कर किए जांय।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो। यहांतक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जावे। यद्यपि ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है। पाठक इस दृष्टिसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपत्नीके विषयमें इसका उज्वल उपदेश स्मरण रखें।

भ्रमण का स्थान।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जांय, इस-बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहां देखिये—

यत् सुपर्णा विवक्षवः ॥
अनमीवा विवक्षवः ॥
तत्र मे इच्छं गच्छतात् ॥ (मं० ३)

"जहां सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग पुरुष वार्तालाप करते हुए जाते हैं, वहां प्रेरणानुसार जाय।" ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रुचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जाय। जहां सुंदर सुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहां नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहां जांय। यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ? पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें। उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान भी पुरुषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं। यहां वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कपट भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें।

स्त्रीके साथ बर्ताव।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ कैसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस विषयका उपदेश किया है। ' जिस प्रकार वायुसे घास हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता हूं। ' (मं० १) यह कथन बड़ा बोधप्रद है। वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बड़े बड़े वृक्ष भी टूट जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोड़ता, परंतु केवल हिलाता है। इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे। जिस प्रकार वृक्षोंको तोडनेवाला वायु घासको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरुष भी स्त्रियोंसे कोमल रीतिसे ही बर्ताव करे। कठोर व्यवहार कभी न करे।

स्त्रियां भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों।

यहां [illegible] उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं। इस उपमाका विचार जितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है। यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती। पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें।

यह सूक्त पतिपत्नीके गृहस्थधर्मका आदर्श बता रहा है, यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनको बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है। विवाह विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें।

रोगोत्पादक क्रिमि।

(३१)

(ऋषिः-काण्वः । देवता-मही)

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत्क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न्दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥
दृ॒ष्टम॒दृष्ट॑मतृह॒मथो॑ कु॒रूरु॑मतृहम् ।
अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑ञ्छ॒लुना॒न्क्रिमी॒न्वच॑सा जम्भयामसि ॥ २ ॥
अ॒ल्गण्डू॒न्हन्मि॒ म॒हता॑ व॒धेन॑ दू॒ना अदू॑ना अर॒सा अ॑भूवन् ।
शि॒ष्टान॑शिष्टा॒न्नि ति॑रामि वा॒चा यथा॒ क्रिमी॑णां॒ नकि॑रु॒च्छिषा॑तै ॥ ३ ॥
अ॒न्वा॒न्त्र्यं॑ शी॒र्ष॒ण्य॑१॒मथो॒ पार्ष्टे॑यं॒ क्रिमी॑न् ।
अ॒व॒स्क॒वं व्य॑ध्व॒रं क्रिमी॒न्वच॑सा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—[इन्द्रस्य या मही दृषत्] इन्द्रकी जो बडी शिला है जो [विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी] सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है [तया क्रिमीन् सं पिनष्मि] उससे मैं क्रिमियोंको पीस डालू, [दृषदा खल्वान् इव] जैसे पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ १ ॥

[दृष्टं अदृष्टं अतृहम्] दीखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। [अथो कुरूरुं अतृहम्] और भूमिपर रेंगनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। [सर्वान् अल्गण्डून्] सब बिस्तरे आदिमें रहनेवाले तथा [शलुनान्] वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब [क्रिमीन्] क्रिमियोंको [वचसा जम्भयामसि] वचाके द्वारा हटाता हूं ॥ २ ॥

[अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि] विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे आघातसे मैं मारता हूं। [दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्] चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन होगये। [शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि] बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको वचासे मैं नाश करता हू। [यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै] जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

[अन्वान्त्र्यं] आंतोंमें होनेवाले, [शीर्षण्यं] सिरमें होनेवाले [अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्] और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा [अवस्कवं] रेंगनेवाले और [व्यध्वरं] बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं [वचसा जम्भयामसि] वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ-सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ २ ॥

वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आंतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो कृमि कुमार्ग के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचा से हटाता हूं ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

(इति पञ्चमोऽनुवाकः ।)

अर्थ- [ये पर्वतेषु क्रिमयः] जो पहाडियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु ओषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं [तत् क्रिमीणां सर्वं जनिम हन्मि] वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

क्रिमियोंकी उत्पत्ति ।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति "पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जल इनके बीच में होती है" (मं० ५) तथा ये क्रिमि-

अस्माकं तन्वं आविविशुः । (मं० ५)

'हमारे शरीरमें घुसते हैं' और पीडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंका हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये । यह पवन मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है । जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं । शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है-

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् । (मं० ४)

"आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं ।" इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये आरोग्य चाहनेवालों को इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्ति के विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बडे महत्त्व के हैं ।-

" अवस्कव, व्यध्वर" (मं० ४)

१ अवस्कव-(अव+स्कव) नीचे गमन । नीच स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है । यहां आचरणकी भावना समझना योग्य है ।

२ व्यध्वर-(वि-अध्व-र) विरुद्ध मार्ग पर रमना । धर्म विरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं । ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरुद्ध व्यवहार हैं जो रोगोत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं ।

दूर करनेका उपाय ।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है-

१ वचा-वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना । भाषामें इसको वच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है । इसका चूर्ण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, वचाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं । औषधि अन्य उपायमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है ।

२ इन्द्रस्य मही दृषत्-इन्द्रका बडा पत्थर । इस नामका कोई पदार्थ है या यह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका । इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात् जिसपर टकर खाकर ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवन शक्ति है । आत्म शक्तिके मुकाबलेमें इन रोग क्रिमियोंकी तुच्छ शक्ति ठहर नहीं सकती । यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है । ये क्रिमि इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आंखसे दिखाई नहीं देते ।

(अदृष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते हैं। कई शरीर पर होते हैं, कपडोंपर चिपकते हैं बिस्तरोंमें होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है।

क्रिमि-नाशन।

[३२]

(ऋषिः काण्वः । देवता-आदित्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥
विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

अर्थ-[उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु] उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे। [निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु] अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे। [ये क्रिमयः गवि अन्तः] जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥१॥

[विश्वरूपं] अनेक रूपवाले [चतुरक्षं] चार आंखवाले, [सारंगं अर्जुनं क्रिमिं] रींगनेवाले श्वेतरंगके क्रिमि होते हैं। [अस्य पृष्टीः शृणामि] इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं। [अपि यत् शिरः वृश्चामि] इनका जो सिर है वह भी तोडता हूं ॥ २ ॥

हे [क्रिमयः] क्रिमियो ! [अत्रिवत् कण्ववत्, जमदग्निवत्] अत्रि, कण्व और जमदग्नि के समान [वः हन्मि] तुमको मार डालता हूं। [अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा] मैं अगस्तिकी विद्यासे [क्रिमीन् सं पिनष्मि] क्रिमीयोंको पीस डालता हूं ॥ ३ ॥

[क्रिमीणां राजा हतः] क्रिमियोंका राजा मारा गया। [उत एषां स्थपतिः हतः] और इनका स्थानपति भी मारा गया। [हत-माता हतभ्राता, हत स्वसा क्रिमिः हतः] क्रिमीकी माता, भाई, बहीन तथा वह क्रिमि भी मारा गया है ॥४॥

भावार्थ—सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है। ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं, कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं। इनमेंसे कइयोंको चार अथवा अनेक आंखें होते हैं ॥ २ ॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

इन उपायोंसे इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हृतासो अस्य वेशसो हृतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हृताः ॥ ५ ॥
प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि । भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

अर्थ- [अस्य वेशसः हतासः] इसके परिचारक मार गये। [परिवेशसः हतासः] इसके सेवक पीसे गये। [अथो ये क्षुल्लका इव] अब जो क्षुल्लक क्रिमी हैं [ते सर्वे क्रिमयः हताः] वे सब क्रिमी मारे गये ॥ ५ ॥

[ते शृङ्गे प्र शृणामि] तेरे दोनों सींग तोड डालता हूं [याभ्यां वितुदायसि] जिनसे तू काटता है। [ते कुषुम्भं भिनद्मि] तेरे विषके आशयको मैं तोडता हूं [यः ते विषधानः] जो तेरा विषका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥
इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं। इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं। जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करानेसे वहांसे रोग दूर हो जाते हैं। क्योंकि रोगबीजों को हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है।

क्रिमियोंके लक्षण।

इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिए (मं० २)—

१ अर्जुन —श्वेत रंगवाला,
२ सारंग —विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्ण वाला, धब्बे जिसके शरीरपर हैं।
३ चतुरक्षः—चार नेत्र वाला, चारों तर्फ जिसके शरीरमें नेत्र हैं।
४ विश्वरूप —विविध रंगरूप वाला।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं।

रोग बीजोंके नाशकी विद्या।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मन्त्रमें कही है। इस मन्त्रमें इस विद्याके चार नाम आगये हैं, देखिए-
(१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ज्ञानसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोग बीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं। रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं। प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें। इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है।

विषस्थान।

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं० ६) यह विष ही मनुष्य के शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिए इनसे बचने के उपाय भी शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके।

यक्ष्म नाशन ।

(३३)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ-(ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरे आंखोंसे और दोनों नथुनोंसे (कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि) कानोंसे, और ठोडीमेंसे, (ते मस्तिष्कात् जिह्वायाः) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्षण्यं यक्ष्म वि वृहामि) सिर संबंधी रोग को हटाता हूं ॥ १ ॥

(ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गलेसे और गुद्दी की नाडीसे (कीकसाभ्यः अनूक्यात्) हंसली की हड्डियोंसे और रीढसे और (ते अंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और भुजाओंसे (दोषण्यं यक्ष्म वि वृहामि) भुजाके रोगको हटाता हूं ॥ २ ॥

(ते हृदयात्, क्लोम्न, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे फेफडेसे और पित्ताशयसे, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखोंसे (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे (प्लीह्नः यक्नः) तिल्ली और जिगरसे (यक्ष्म वि वृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ३ ॥

(ते आन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी आंतोंसे और गुदासे (वनिष्ठोः उदरात् अधि) मलस्थानसे और उदरसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोखोंसे अंदर की थैलीसे और नाभिसे (यक्ष्म वि वृहामि) रोग हटाता हूं ॥ ४ ॥

(ते ऊरुभ्यां अष्ठीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां) एडियोंसे और पैरोंसे, (ते श्रोणिभ्यां) तेरे कूल्होंसे (भसद्यं भंससः भासदं) गुह्यस्थानसे कटिके संबंधके गुह्य (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको मैं हटाता हूं ॥ ५ ॥

(ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः धमनिभ्यः) पुट्ठोंसे और नाडियोंसे (ते पाणिभ्यां अङ्गुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ, अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्म वि वृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ६ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ- (यः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्यं विष्वञ्चं यक्ष्मं) तेरी त्वचा संबंधी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विबर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ-आंख नाक कान बाहु आदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय लोहा यकृत आदि आंतरिक अवयवोंसे, अस्थि मज्जा आदि धातुओंसे अथवा जहां कहां रोग हो वहांसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं १-७ ॥

कश्यप-विबर्हण ।

पूर्व सूक्तमें अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कश्यप विबर्हण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आगया है। खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करनी चाहिये। इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है ।

[यह सूक्त कुछ पाठ भेदसे ऋ० १०।१६३ में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग ।

(३४)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-पशुपतिः ।)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥
प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

अर्थ-[यः पशुपतिः] जो पशुपति [यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे] द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है [सः निष्क्रीतः] वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ [यज्ञियं भागं एतु] यज्ञीय विभागको प्राप्त होवे । [रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्] धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे [देवाः] देवो ! [भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः] भुवन के वीर्यका दान करते हुए [यजमानाय गातुं धत्त] यज्ञ करनेवाले के लिए सन्मार्ग प्रदान करो । [यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्] जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें [एतु] प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूज के स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासक को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

सब देव इस उपासक को संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और सनातन सबकी सुसंस्कृत देवोंके लिए प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥
प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ-[ये दीध्यानाः] जो प्रकाशमान [बध्यमानं अनु] बधे हुए को अनुकूलता के साथ [मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त] मनसे और आंखसे देखते हैं, [विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः] विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव [तान् अग्रे प्रमुमोक्तु] उनको सबसे पहले मुक्त करे ।

[ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः] जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु [बहुधा विरूपाः संतः एकरूपाः] बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देव) प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापालक प्राण देव [तान् अग्रे प्रमुमोक्तु] उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥

[पूर्वे प्रजानन्तः] पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी [पर्याचरन्तं प्राणं] चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको [अंगेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु] सब अंगोंसे ग्रहण करें । [शरीरैः प्रतितिष्ठ] सब शरीरांगोंसे प्रतिष्ठित रह, पश्चात् [देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ] देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनको- हां विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओं में रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥

ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥

जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको सब अंगों और अवयवोंसे इकट्ठा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे मुक्त होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाश का स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते हैं । ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है । यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी । यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है । इसी लिए पञ्चम मंत्रने कहा है--

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु । (मं० ५)

" जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकट्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें । " इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन हैं यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है, इसका अनुसंधान देखिए--

१ प्र—जानन्तः पूर्वे = (प्र—जानन्तः) विशेष जाननेवाले अर्थात शरीर शास्त्र और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता। प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकारसे जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं। वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें।

२ पर्याचरन्तं प्राणं—(परि+आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें। प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें। प्राणका संचार जहां योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं; इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु—शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है। इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकठ्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब क्रिया अपने आधीन होनी चाहिए, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिए—

शरीरैः प्रतितिष्ठ। (मं० ५)

"अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो" यह पहिली सिद्धि है। स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पडेगा, इसलिये वह विचार हम छोड देते हैं। इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ और सुप्रतिष्ठित हो सकता है। जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने स्वाधीन बनायेगा, वह शरीरसे नीरोग, सुदृढ तथा दीर्घायु हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुत से लाभ होते हैं। इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ। देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि। (मं० ५)

"प्रकाशमय स्थान प्राप्त कर। देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा" यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकारके मार्गसे और प्राणके वशीकरणसे प्राप्त हो सकती है। योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित हो चुकी है।

पशुपति रुद्र।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशीकरणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है। इसी प्राणको वेदमें "रुद्र,पशुपति" आदि नाम आये हैं। प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं। यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें ये रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है,यह बात शतपथादि ब्राह्मणोंमें अनेकवार कही जा चुकी है। इसलिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता।

शरीरमें "पशुभाव" हैं,स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा,काम क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुवासना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही है। प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई कष्ट नहीं देते। पशुपति होना यह भी एक बडी भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है। प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथर्व. ११। (६)।४।१

"प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है।" यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये– "द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टियां उपासकको मिलती हैं॥" (मं० १)

द्विपाद और चतुष्पादोंके शरीरोंका चलानेवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इसलिए द्विपाद चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण(नि-क्रीतः)पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तभी वश आधीन हो जाता है । कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामीत्व में आ जाता है। यह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिए ।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण धनसे खरीदा नहीं जा सकता । इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है । वैराग्य और अभ्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् " यह (यज्ञिय भाग) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है, " यज्ञ स्थलमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी प्राणायाम द्वारा उपासना करते हैं, जिससे—

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम् ।(मं० १)

" शोभा और पुष्टिया यजमानको मिलती हैं । " मंत्रमें ' राय ' शब्द है जो ' धन, शोभा ' आदिका वाचक है । योगमार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है । इसके साथ " शरीर—प्रतिष्ठा " अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यहां देखने योग्य है, क्योंकि ' शरीरकी प्रतिष्ठा " भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होनेसे ही हो सकती है ।

बीजशक्ति ।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः देवाः गातुं धत्त । (मं० २)

" त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं । " त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका ' रेत ' अथवा वीर्य है । यह वीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे इस पुरुषको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्वोक्त प्रकार वश करता है । ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे जो वीर्य लाभ होनेका वर्णन योगसूत्रोंमें है वह वीर्य यही है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बडी भारी शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है । यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बढी या वृद्धिंगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है । योगीके अंदर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, यह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है ।

योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है—

यत् वासमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्मात्
तत् अपि एतु ॥ (मं० २)

" जो वनस्पति संबंधी उत्तम संस्कार किया हुआ देवोंको प्रिय अन्न होता है वह अन्न हमें प्राप्त हो । " इसमें दिव्य अन्नका यह खासा वर्णन है । अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाडनेवाला न हो । "वासमान" शब्द चन्द्र या सोम औषधि का वाचक है । यह देवोंका अन्न है। सोम वनस्पतिका रस ही है । इस रसमें गौका ताजा दूध मिलाया जाता है और सत्तू भी मिला होता है । यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढानेवाला है । अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है । यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंको निर्बल करनेवाला हो । इस मंत्रका " पाथ " शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है । दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है। सोमरस पानकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है ।

मुक्तिका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिए—

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानं अनु समैक्षन्त । (मं० ३)

" जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आंखसे अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं, " वे मुक्तिके अधिकारी हैं । वेही बंधनसे छूट सकते हैं और कैवल्य धाम में पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिए, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे भावसे तथा अपने (चक्षुषा) आंखसे बंधनमें फंसे, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टीसे देखें अर्थात् यहां केवल आंखसेही देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलमें मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिए अपनी ओरसे जहां तक हो सकता है वहां तक यत्न भी करना है । उनकी सहायताके लिए आत्मसमर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिए आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उनकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं । इनकी सद्गति कैसी होती है यह भी देखिये-

प्रजया सरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः
अग्रे तान् प्रमुमोक्तु । [मं ३]

"प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे ।" इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरण में रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है । इसीलिये इस मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि "बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आंखसे देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं ।" पाठक यहां परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरेसे तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है । विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है । चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः । (मं० ४)

'विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही है ।' उदाहरण [illegible] पशुही लीजिये- गौवें रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं, यह भेददृष्टि है । इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है । अब यह दृष्टि छोड दें और " गो-पन " (गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवें एक गोजातिमें मिल जाती हैं । जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है । अब ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोडी, घोडा, बकरी, भेडी, गधा, गधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसी को भी शंका नहीं हो सकती । परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व' सामान्य में अर्थात् ये सब 'पशु' हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुमात्र में सब एक दिखाई देते हैं । पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु 'प्राणी' होनेके कारण दोनोंकी एकता 'प्राणी' भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये । चतुर्थ मंत्र कहता है कि 'विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकारसे एक रूपता है' और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिए । अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी [illegible] सब मिलकर एकही है ।

विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो सकता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न नैसर्गिक देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओतप्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी हैं। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये-

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः
तान् अग्रे प्रमुमोक्तु ॥ (मं० ४)

"प्रजाके साथ रमनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महात्माओंको पहले मुक्त करे" जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्यकी आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सुबोधनके लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं-



१ शांत योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी। (मं० ५)

२ प्राण सब विश्वके अनुसारके संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टी और शोभा बढाता है। (मं० १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी बडी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य पुरुषार्थ किया जा सकता संभव है। (मं० २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दीनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ४)

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है। पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

पशु।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। यहां पशु शब्दसे गाय घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है। जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है तब तक यह पशुही रहता है। जितने प्रमाण से इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रिया पशुरूप ही हैं। इस शरीररूपी रथको ये इतने पशु जोते हैं। इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इसलिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं। इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये। मनुष्य बननेका प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें।

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

(३५)

(ऋषिः-अंगिराः। देवता-विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥
यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

अर्थ-(ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) अच्छे धनोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (यान् धिष्ण्याः अग्नयः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करते हैं, (तेषां या अवया दुरिष्टिः) उनकी जो अवनतिकारक सदोष इष्टिकी पद्धति है, (विश्वकर्मा तां नः सु+इष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उस-को हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥ १ ॥

(प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें अनुताप करनेवाले (यज्ञपतिं ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पति को ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं। (यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध) जिन मथने योग्य अल्पभागोंको समर्पित करता रहा, (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु) विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ- (सोमपान् अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ करनेवालोंको दान देने अयोग्य समझनेवाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है । (एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रचयिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कल्याणके लिये खुला कर दो ॥ ३ ॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं) क्योंकि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बलवान् रचयिता ! (बृहस्पतये द्युमत् नमः) ज्ञान पतिके लिये स्पष्ट नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूं । (सुमनस्यमानाः देवाः) प्रसन्न मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु) विश्वके कर्त्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आजांय ॥ ५ ॥

भावार्थ- दुखी प्रजाजनोंके संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप बनाते हैं, जो सोम का मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाय ॥ २ ॥

जो यज्ञ करनेवाले महात्माओंको दान देनेके लिए अयोग्य समझता है, न उसको यज्ञका तत्त्व समझा होता है और न वह समयपर धैर्य धरनेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्मा ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥ ३ ॥

ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है । उस ज्ञानी के लिए हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिए हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥

मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्माने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आदर करते हैं ॥ ५ ॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु " जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्व समझा होता है। यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्गपर चलावे। (मंत्र० ३) "

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है।

याजकोंकी प्रशंसा।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है। " जो दीन और दुखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे। " (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है— " ऋषि बडे तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आसमें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिए नमस्कार है। " (मं० ४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋषयः) ऋषियोंके लिए ' घोर " यह विशेषण आया है। इसका अर्थ " उग्र " श्रेष्ठ उन्नत ऐसा होता है। ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि " उनके मनमें और आसमें सदा सत्य रहता है। " वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्ज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि जिसके मनमें और आसमें ओतप्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा, उच्च होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विवाहका मंगल कार्य।

(३६)

(ऋषिः-पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमौ)

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥
सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम्। धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥
इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥
यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

अर्थ— हे अग्ने ! (भगेन सह) धनके साथ (सं-भलः) उत्तम वक्ता पति (इमां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको (आ गमेत) प्राप्त होवे । (अस्यै पत्या सौभगं अस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु) श्रेष्ठोंमें प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥ १ ॥

(सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अर्यम्णा संभृतं भगं) श्रेष्ठ मनवालोंसे इकट्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येन) धारक देवके सत्य नियमसे (पति-वेदनं कृणोमि) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हु ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (इयं नारी पतिं विदेष्ट) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । (हि सोमः राजा सुभगां कृणोति) क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है । यह (पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह (सुभगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥

हे (मघवन्) इन्द्र ! (यथा एष आखरः) जैसा यह गुहाका स्थान (मृगाणां प्रियः सुषदाः बभूव) पशुओंके लिये प्रिय और बैठने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसे ही (पत्या अविराधयन्ती) पतिसे विरोध न करती हुई और (भगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-जिसने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या श्रेष्ठोंको प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इस लिए इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥

सोम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संगृहित और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥

यह स्त्री पतिको प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे, यह स्त्री घरमें रानीके समान बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥

भर्गस्य नार्वमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥५॥
आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥६॥
इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥
आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ- हे स्त्री ! (पूर्णां अनुपदस्वतीं) पूर्ण और अटूट (भगस्य नावं आरोह) ऐश्वर्य की इस नौकापर चढ और (तया उपप्रतारय) उससे उसके पास तैरकर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥५॥

हे धनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुला और (आमनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल वार्तालाप कर। (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥६॥

(इदं गुल्गुलु हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बैल है और (अथो भगः) यह धन है। (एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥

(सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे। (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले जावे। हे औषधे ! (त्वं अस्यै धेहि) तू इसके लिये धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे शोभित होती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ४ ॥

स्त्री इस गृहस्थाश्रम रूपी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढे और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥

जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुलाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सन्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है। यह सब पतिको देते हैं इसलिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले। औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता ।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल भावना से करना उचित है। विवाहके मंगल कार्यमें वर और वधु का सबसे प्रधान स्थान होता है। इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे। वरके विषय में इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कही हैं–

१ संमलः = (सं+मलः) उत्तम प्रकार का यत्न करनेवाला। (मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रयत्न करता है। विशेष विद्वान्।

यह शब्द वरकी विद्वत्ता बता रहा है। वर विद्वान् हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, चतुर और उत्तम विद्वान हो, केवल विद्वान् होनेसे पर्याप्त नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है–

२ भगेन सह कुमारी आगमेत्-धनके साथ वर कन्याको प्राप्त करे (मं० १)। अर्थात् पहिले धन कमावे और पश्चात्

कन्याको प्राप्त करे, विवाह करे। धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् कुटुंबका परिवार बढेगा, इसलिये उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये।

३ पतिः नयतु— पति अपनी धर्मपत्नीको सन्मार्गसे चलावे। धर्मनीतिके मार्गसे चलावे, परंतु साथ साथ वह (प्रति-काम्यः) पत्नीको मन कामनाके अनुकूल भी चले। इसका तात्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अल्प कारणसे कभी झगडा न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परंतु उसको सच्चे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे। (मं० ८)

इस सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं। इससे पूर्व विवाह विषयक कई सूक्त आचुके हैं, उनमें पतिके गुण धर्म और कर्म बताये हैं; उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंका विचार करना चाहिये।

वधूकी योग्यता।

वधूके विषयमें बहुतसे उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जगत्में रहनेवालोंको अवश्य मनन करना योग्य है। देखिये—

१ कुमारी— कुमार और कुमारी ये शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर होनेका भाव सूचित करनेवाले ये शब्द हैं। तरुण स्त्री पुरुषोंमें जो विकारी भाव मनके अंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको "कुमार" कहते हैं। यह शब्द अखंड स्थिर ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले का द्योतक है। जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यदोष उत्पन्न होता ही नहीं। इस प्रथम मंत्रमें "कुमारी" शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है। कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुरुष विषयक काम विकार संबंधी चंचलभाव जिसके मनमें किंचित् भी उत्पन्न न हुए हों। यहां विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है। जिसमें तारुण्यके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हों उसका बोध होता है। इससे छोटी आयुमें विवाह करने की पद्धति बताई जाती है ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि "पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है।" [देखो कां० २ सू० ३०] इसलिये इस सूक्तमें छोटी आयुमें विवाह करने की संभावना नहीं है। इस कारण यहांका "कुमारी" शब्द ऐसी कन्याका बोध करता है कि जो प्रौढ तो हो, पतिकी इच्छा तो करती हो, परंतु मनके चंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो। पाठक इससे समझेंगे कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन कैसे पवित्र रहने चाहिये। (मं० १)

२ सुमतिः— कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो। जिसके मनपर सुसंस्कार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो। (मं० १)

३ सुमनेषु वरेषु जुष्टा वल्गु— उत्तम मनवाले श्रेष्ठ पुरुषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो। समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो श्रेष्ठ लोग होते हैं उनमें जाकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने स्त्रीत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचारवाली कन्या हो। 'श्रेष्ठोंमें जाने योग्य' (वरेषु जुष्टा) इतना कहने मात्रसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पावित्र्य बोधित होता है। कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है। शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो। कन्याएं ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनको मिलनी चाहिये। (मं० १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है। यह हरएक वैदिक धर्मीको सदा मनमें धारण करने योग्य है। कुमार और कुमारिकाओंकी पवित्रता रखकर उनको विवाह संबंधसे जोडना वेदको अभीष्ट है। इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारिकाओंका इस प्रकारका मेल वेदको अभीष्ट नहीं है कि जो अनीतिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रख सकता हो। पाठक इससे सब कुछ समझ लें।

विवाहके पश्चात्।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरुषोंका परस्पर बर्ताव कैसा हो इस विषयमें इस सूक्तने अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं—

भगस्य जुष्टा इयं नारी, पत्या अविराधयन्ती,
सम्प्रिया अस्तु ॥ (मं० ४)

" ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो " विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में आती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष भाग्य और ऐश्वर्य में पहुंचने के कारण यह स्त्री उन्मत्त न हो, परंतु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिसे कभी विरोध न करे। घमंडमें आकर पतिका अपमान कभी न करे, परंतु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढजाय। तथा—

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः। (मं० ६)

" जो करना है वह पतिको प्रदक्षिणा करके कर जो वर तेरी कामना रूप है। " प्रदक्षिण करनेका आशय है सन्मान करना आदर प्रदर्शित करना, सत्कार करना। पतिका सत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये। पत्नी का " प्रति-काम " पति ही होता है। अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होती है उसका जो बाह्य स्वरूप होता है उसको " प्रति काम " कहते हैं। अपना रूप होता है और शीशेमें जो दिखाई देता है उसको " प्रतिरूप " कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम " प्रति लेख " है। इसी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका 'प्रति काम' पति है। पत्नी अपने पतिको अपना " प्रतिकाम " समझ और उसका सत्कार करके हरएक कर्तव्य करे। तथा—

पत्या अस्यै सौभाग्यं अस्तु। (मं० ३)

" पतिसे इसको शोभा प्राप्त हो। " स्त्री की शोभा पति ही है। पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है। यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही है और उस कारण मनसे पतिका सदा सत्कार करे। तथा—

पतिं गत्वा सुभगा विराजतु॥
पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति। (मं० ३)

" यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने। " यहां पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है। कई शिक्षित स्त्रियां संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख होती हैं। यह योग्य नहीं है। स्त्रीकी शारीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और यही बात इस मंत्र द्वारा बताई है। सुसंतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है। यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम संतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रखनेमें स्त्रियां प्रथमसे ही दत्तचित्त हों। जो स्त्रियां पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करतीं, वे आगे संतानोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। इसलिये स्त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है।

ऐश्वर्य की नौका।

पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थ धर्मको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है। यह उपमा बडी बोधप्रद है। देखिये-

पूर्णां अनुप-दस्वतीं भगस्य नावं आरोह।
यः प्रतिकाम्यः वरः, तया उप प्रतारय॥ (मं ५)

" सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ और जो तेरा पति है उसको इस नौका के आश्रयसे परतीर पर ले जा। " यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी वस्तुतः इकट्ठी ही सवार होती हैं; परंतु स्त्री घरकी स्वामिनी होनेके कारण इस स्त्री को ही नौका चलानेवाली इस मंत्रने कहा है। यह स्त्रीका बडा भारी सन्मान वेदने दिया है और साथ साथ स्त्रीके हाथमें बडा भारी अधिकार भी दिया है। वस्तुतः घर गृहिणी ही है, ईंटोंका घर घर नहीं है। इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नहीं रहता। इसलिये गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है। इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढे और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका आगे पहुंचनेके स्थानपर ठीक पहुंचे और मार्गमें कोई कष्ट न हो। इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखने योग्य है—

धनपते ! वरं आक्रन्दय। आमनसं कृणु। (मं० ६)

" हे गृहस्थाश्रमके सपूर्ण धनके स्वामिनि ! अपने पतिको बुलाकर उसको अपने मनके अनुकूल कर । " यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका । यह स्त्री गृहस्थाश्रम के संपूर्ण ऐश्वर्य की स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सन्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है । स्त्रियोंको यह अपना अधिकार जानना चाहिए और इस अधिकारके चलानेकी योग्यता अपने अंदर लानेका यत्न भी उनको करना चाहिए।

पुरुषका स्थान।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहां है, इसका भी विचार करना यहां प्राप्त है, देखिए यह स्थान—

यः प्रतिकाम्यः पतिः नयतु। (मं० ८)

" कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे " अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलावे। स्त्रीको सन्मार्गपर चलावें, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ त्रुटियां रहीं, तो उनको ठीक करे, गृहव्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दें। यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ—

सविता त्वा नयतु (मं० ८)

" यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले जावे । " यह पति घर में सूर्यके समान है। जिस प्रकार सूर्य अपनी ग्रह मालाका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सूर्यपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका चालक है। यह पत्नीको साथ लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलावे। यहां पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिसे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्रीसे हो सकता है, दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाता है । इसीलिए इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरुषको भी वैसाही कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें। दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है। यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने सम अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आनंदसे इस संसार यात्रा को पूर्ण करें। तथा—

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। (मं० ३)

" सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है। " यह पति घरमें राजाके समान है। पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा ही है। जब पत्नी रानी है, तब पति राजा होनेमें कोई शंका नहीं है। यह राजा रानी एक मतसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें। परस्पर में विरोध न होने दें। एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जांय।

इस ढंगसे वेदने पतिका स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है। दोनोंको उचित स्थान दिया गया है। इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें।

पतिके लिए धन।

पत्नीकी ओरसे अथवा वधूके घरसे कुछ धन वरको दिया जाता है। दहेजके रूपमें यह धन वधूके घरसे वरके पास आता है, इस विषयमें सप्तम मंत्र बडा स्पष्ट है—

इदं गुल्गुलु हिरण्यं, अयं औक्षः, अयो भगः,
एते त्वा पतिभ्यः अदु ॥ (मं० ७)

" यह सुंदर सुवर्ण है, ये गौवें और बैल हैं, यह धन है,यह सब पतिको दिया है। " यहां सन्मान के लिए पति शब्दका बहुवचन हुआ है। विवाहके मंगल कार्यमें पतिका ही विशेष सन्मान होना उचित है। यहां स्मरण रहे कि यद्यपि यह दहेज स्त्रीके घरसे पतिके घर आती है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिए। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ (मं० २)

" सौम्यवृत्तिसे, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इकट्ठा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूं । "

" सोम, ब्रह्म और अर्यमा " ये तीन शब्द क्रमशः ' सौम्य वृत्ति, विद्या—ज्ञान और श्रेष्ठ मन ' के बोधक हैं । 'अर्य-मन ' का अर्यमन् बना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका द्योतक है । जिसका उच्च मन है वह अर्यमा कहलाता है । ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सौम्यता का केन्द्र होनेमें शंका नहीं है । ये तीन शब्द शांत और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक हैं । इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संग्रहित किया हुआ और बढाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए । अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए । हीन वृत्तिसे इकट्ठा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए । यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है । हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा । इसलिए सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए । जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय ।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है । इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है ।

यहां षष्ठ अनुवाक और
द्वितीय काण्ड समाप्त ।





सूक्त		विषय
११ वाँ सूक्त	...	आत्माके गुण,
१२ ,,	...	मन का बल बढाना,
१७, १८ ,,	...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ ,,	...	मुक्तिका सीधा मार्ग,
१५ ,,		निर्भय जीवन,
३५ ,,		यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आगये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें।

सू० १२ " मानसिक बल बढाना, " और सू० १५ " निर्भय जीवन " ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे वे यहां दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त " आरोग्य " विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त	४	...	जङ्गिड मणि से आरोग्य,
,,	८	...	क्षेत्रियरोग दूर करना,
,,	९	.	सन्धिवात ,, ,,
,,	२५	...	पृश्निपर्णीसे आरोग्य,
,,	३३	..	यक्ष्म नाशन,
,,	३१, ३२		रोगोत्पादक क्रिमियोंका दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इकट्ठा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। चतुर्थ सूक्तमें " जङ्गिड मणि " धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अथर्व वेदकी विशेष विद्या है। जो वैद्य इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग " मणि " शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं! यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपर्यास करना किसीको भी उचित नहीं है। " मणि धारण विधि " यह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेष कर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इससे भी वैद्य शास्त्र का संबंध " दीर्घ आयुष्य " के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त	२८	...	दीर्घायुष्य,
,,	२९		दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इकट्ठे पढने योग्य हैं।

४ पुष्टि— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है। इस पुष्टिके साथ २६ वाँ "गोरस" का वर्णन करनेवाला सूक्त बडा संबंध रखता है। गोरससे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है।

५ विवाह— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है। इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
,,	३६	..	विवाहका मंगल कार्य,
,,	१३	...	प्रथम वस्त्र परिधान।

इनमें सू० १३ "प्रथम वस्त्र परिधान" का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है। इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकट्ठा करना योग्य है।

६ वर्णधर्म— वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें है

सूक्त	१	...	ब्राह्मण धर्मका वर्णन
,,	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्न लिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इकठ्ठा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	...	विजय की प्राप्ति,
,,	२४	.	डाकुओंकी असफलता,
,,	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
,,	१०	...	दुर्गतिसे बचना।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित हैं—

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
,,	१९-२३		शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है। जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे।

विशेष द्रष्टव्य।

निर्भय जीवन।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में "निर्भय जीवन" नामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें।

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है! अर्थात भय और आनंद कदापि इकट्ठे नहीं रह सकते। मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला प्राणी है, इसलिए उसके अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता। इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि 'निर्भय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता' इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा इतना ही नहीं, प्रत्युत बढता जायगा। शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है। निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती। चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है। पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं।

शुद्धि करण ।

इसी प्रकार ' शुद्धिकरण विधि ' का अत्यंत महत्त्व है। सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं। इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते हैं। वैदिक उपदेश में ' अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप ' ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है। वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं। अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अत्यंत आवश्यक है। इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिका थोडासा आविष्कार किया है। जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं।

मुक्तिका सीधा मार्ग ।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है। मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में कहीं भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है।

' दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना ' यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्य को मुक्ति धाम तक ले जाता है। परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है। परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकारसे होले सकते हैं। परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है? वे तो दुःखमें सडते ही रहते हैं। दीन जनोंको जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोंको अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है। जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वहीं रहता है। किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडफडता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है। निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है। पाठक यहां वेदकी अपूर्वता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

द्वितीयकाण्डकी विषय सूची

अथर्ववेदका
द्वितीय काण्ड समाप्त



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीयं काण्डम्

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

तृतीय वार

स्वा ध्या य म ण्ड ल, पा र डी

*

संवत् २०१६, शक १८८१, सन १९५९

अपने राष्ट्रका विजय !

*

* *

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

" मै इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥ २ ॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं वे नीचे गिर जांय ॥ ३ ॥

मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हो, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥"



प्रकाशक और मुद्रक : वसंत श्रीपाद सातवळेकर, बी ए.,
स्वाध्याय मण्डल, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ', पारडी [जि. सूरत]



अथर्ववेदका स्वाध्याय।

तृतीय काण्ड।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ ' अग्नि ' शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका कार्य है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगल-कारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

जिस प्रकार प्रथम काण्डमें चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ७८ है,
७ मंत्रवाले ६ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४२ है,
८ मंत्रवाले ६ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४८ है,
९ मंत्रवाले २ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या १८ है,
१० मंत्रवाले २ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या २० है,
११ मंत्रवाला १ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या ११ है,
१३ मंत्रवाला १ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या १३ है।

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उनकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति ' मंत्र चार ' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणीका कथन यह है—

येनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः
पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर
काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति
विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वानु. १।१।१)
अग्निर्नः इति ... षड्चं प्रकृतिरन्या विकृति-
रिति विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वानु. ३।१।१)

' पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक संख्या सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विकृति है। '

अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि '**एवाह त्वा ०-० स्ताम्।**' यह मन्त्रभाग इस सूक्तमें वारवार आगया है। यदि यह वारवार आया हुआ मन्त्रभाग अलग किया जाय और एक मन्त्रके साथ ही रखा जाय और शेष मन्त्रभागोंके दो दो चरणोंके मन्त्र माने जाय तो केवल पांच मन्त्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तोंको लग सकतीं हैं और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः। प्रथमः प्रपाठकः।				
१	६	अथर्वा	सेनामोहन, बहुदैवत्य	त्रिष्टुप्, २ विराड्गर्भा भूरिक्, ३, ६ अनुष्टुभ ५ विराट्पुरउष्णिग्।
२	६	अथर्वा	बहुदैवत्य	त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुभ्।
३	६	अथर्वा	अग्नि, नानादेवता	त्रिष्टुप्, ३ ष. भूरिक् पंक्तिः, ५,६ अनुष्टुभ्।
४	७	अथर्वा	इन्द्र	त्रिष्टुप्, १ जगती, ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वा	सोम	अनुष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराडुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	जगद् बीज पुरुष	वानस्पत्याश्वत्थदेवत्य	अनुष्टुभ्।
७	७	भृगु अंगिरा	यक्ष्मनाशन बहुदेवता	अनुष्टुभ्, ६ भुरिक्।
८	६	अथर्वा	मित्र विश्वेदेवाः	त्रिष्टुभ्, २, ६ जगती, ४ ष विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ्।
९	६	वामदेव	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवा	अनुष्टुप्; ४ ष. निचृद् बृहती; ६ भुरिक्।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्, ४,६,१२ त्रिष्टुप्, ७ष्य ष विराड्गर्भातिजगती।
तृतीयोऽनुवाकः।				
११	८	ब्रह्मा-भृगु-अंगिरा	इन्द्र, अग्नि, आयुष्य, यक्ष्मनाशनं	त्रिष्टुप्, ४ शक्वरीगर्भा जगती, ८ ष्य. प बृहतीगर्भा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्, ७ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्ति।
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप्, २ बृहती, ६ शक्वरीगर्भा जगती, ७ आर्षीअनुष्टुप्; ८ भुरिक्, ९ अनुष्टुप्

अर्थात् यह विकृति है । यह विकृति इस कारण हुई है कि ' एवाहं त्वा ०-० स्ताम् । ' यह मन्त्रभाग इस सूक्तमें वारवार आगया है । यदि यह वारवार आया हुआ मन्त्रभाग अलग किया जाय और एक मन्त्रके साथ ही रखा जाय और शेष मन्त्रभागोंके दो दो चरणोंके मन्त्र माने जाय तो केवल पांच मन्त्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है । इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तोंको लग सकतीं हैं और विकृतिको प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक हो हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है । इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।				
१	६	अथर्वा	सेनामोहन, बहुदैवत्य	त्रिष्टुप्, २ विराड्गर्भा भूरिक्, ३, ६ अनुष्टुभ ५ विराट्पुरउष्णिग् ।
२	६	अथर्वा	बहुदैवत्य	त्रिष्टुप्, २–४ अनुष्टुभ् ।
३	६	अथर्वा	अग्नि, नानादेवता	त्रिष्टुप्, ३ च. भूरिक् पंक्ति, ५,६ अनुष्टुभ् ।
४	७	अथर्वा	इन्द्र	त्रिष्टुप्, १ जगता, ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वा	सोम	अनुष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराड्उरोबृहती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	जगद्बीज पुरुष	वानस्पत्याश्वत्थदेवत्य	अनुष्टुभ् ।
७	७	भृगु अंगिरा	यक्ष्मनाशन बहुदेवता	अनुष्टुभ्, ६ भुरिक् ।
[illegible]	६	अथर्वा	मित्र, विश्वेदेवाः	त्रिष्टुभ्, २, ६ जगती, ४ च विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ् ।
९	६	वामदेव	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवा	अनुष्टुप्; ४ च. निचृद् बृहती; ६ भुरिक् ।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्, ४,६,१२ त्रिष्टुप्, ७ त्र्य ० विराड्गर्भातिजगती ।
तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	८	ब्रह्मा-भृगु-अंगिरा	इन्द्र, अग्नि, आयुष्य, यक्ष्मनाशन	त्रिष्टुप्, ४ शाक्वरीगर्भा जगती, ८ त्र्य ० प बृहतीगर्भा जगती, ५, ६ अनुष्टुप्, ७ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्ति ।
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप्, २ बृहती, ६ शाक्वरीगर्भा जगती, ७ आर्षीअनुष्टुप्, ८ भुरिक्, ९ अनुष्टुप्

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१३	७	भृगु	वरुण, सिन्धु	अनुष्टुप्, १ निचृत्; ५ विराड् जगती, ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ब्रह्मा	नानादेवता गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्, ६ आर्षीत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पण्यकाम)	विश्वेदेवा इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ४ त्र्य. ष बृहतीगर्भा विराडत्यष्टि, ५ विराड्जगती; ७ अनुष्टुप्; ८ निचृत् ।

चतुर्थोऽनुवाकः । द्वितीयः प्रपाठकः ।

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; १ आर्षीजगती; ४ भुरिक्पंक्ति ।
१७	९	विश्वामित्र	सीता	अनुष्टुप्, १ आर्षी गायत्री, २, ५, ९ त्रिष्टुभ; ३ पथ्यापंक्तिः; ७ विराट्पुरउष्णिक् ८ निचृत् ।
१८	६	अथर्वा	वनस्पति	अनुष्टुप्; ४ अनुष्टुब्गर्भा चतु० उष्णिक्; ६ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्ति ।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवा, चन्द्रमा, इन्द्र	अनुष्टुप्, १ पथ्याबृहती; ३ भुरिग्बृहती; ६ त्र्य ष त्रि क. गर्भातिजगती; ७ विराडास्तार० पंक्ति, ८ पथ्यापंक्ति ।
२०	१०	वसिष्ठ	अग्नि मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, ६ पथ्यापंक्ति; ८ विराड्जगती ।

पञ्चमोऽनुवाकः ।

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
२१	१०	वसिष्ठ	अग्निः	त्रिष्टुप्; १ पुरोऽनुष्टुप्; २, ३, ८ भुरिक्; ५ जगती; ६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ७ विराड्गर्भा, ९ निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप् ।
२२	६	वसिष्ठः	बृहस्पति, विश्वेदेवा	अनुष्टुप्, १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुब्विराडतिजगती, ४ [illegible]
२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमा, योनि	अनुष्टुप्, ५ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती, ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती ।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप्; २ निचृत्पथ्यापंक्ति ।
२५	६	भृगुः (आथर्वणः)	मित्रावरुणौ कामेषुर्देवता	अनुष्टुप्

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
षष्ठोऽनुवाकः ।				
२६	६	अथर्वा	रुद्र अग्न्यादिबहुदेवत्य	त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप् २, ५, ६ जगती, ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	अथर्वा	रुद्र	अष्टि , २ अत्यष्टि ५ भुरिक् ।
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्, १ अतिशक्वरीगर्भा च श जगती, ४ यवमध्या विराट् ककुप, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड गर्भा प्रस्तारपंक्ति ।
२९	८	उद्दालक	शितिपादवि ७ काम , ८ भूमि	अनुष्टुप्, १, ३ पथ्यापंक्ति ७ ज्य ष उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककु० ग० विराडजगती, ८ अपरिष्टाद्बृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमा सांमनस्य	अनुष्टुप्, ५ विराड्जगती, ६ प्रस्तारपंक्ति ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप्, ४ भुरिक्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्ति ।

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं । अब इनका विभाग ऋषिक्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वा १-५, ८, १०, १५, १६, १८ २६, २७, ३० ये तेरह सूक्त ।
२ ब्रह्मा- ११ १२,१४,२३ २८,३१ ये छ सूक्त।
३ वसिष्ठ - १९ २० २१ २२ ये चार सूक्त ।
४ भृगु - १३ २४ २५ ये तीन सूक्त ।
भृगु-अंगिरा.- ७, ११ ये दो सूक्त ।
५ जगद्बीज पुरुष - ६ वाँ एक सूक्त ।
६ वामदेव - ९ वाँ एक सूक्त ।
७ विश्वामित्र:- १७ वाँ एक सूक्त ।
८ उद्दालक:- २९ वाँ एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये -

१ बहुदैवत्य, नाना देवता- १, २ ३, ७ १४, १६ २६ २७ ये आठ सूक्त ।
२ विश्वेदेवा:- ८,९,१५ १९ २२ ये पांच सूक्त ।
३ अग्नि - ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।
४ इन्द्र - ४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।
५ चन्द्रमा - १९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।
६ बृहस्पति - १६, २२ ये दो सूक्त ।
७ रुद्र - २६, २७ ये दो सूक्त ।
८ वनस्पति:- १८, २४ ये दो सूक्त ।
९ यक्ष्म नाशन- ७, ११ ये दो सूक्त ।
१० सेना मोहन- १, २ ये दो सूक्त ।
११ इन्द्राग्नी- १५ यह एक सूक्त ।
१२ सोम - ५ यह एक सूक्त ।
१३ वनस्पत्यश्वत्थ - ६ यह एक सूक्त ।
१४ मित्र - ८ यह एक सूक्त ।
१५ द्यावापृथिवी- ९ यह एक सूक्त ।
१६ वरुण - १३ यह एक सूक्त ।
१७ प्रजापति - २४ यह एक सूक्त ।
१८ मित्रावरुणौ- २५ यह एक सूक्त ।
१९ भूमि:- २९ यह एक सूक्त ।

२० अष्टका- १० यह एक सूक्त ।
२१ सिंधुः- १३ यह एक सूक्त ।
२२ आयुष्यं- ११ यह एक सूक्त ।
२३ वास्तोष्पतिः- १२ यह एक सूक्त ।
२४ शाला- १२ यह एक सूक्त ।
२५ गोष्ठः- १४ यह एक सूक्त ।
२६ सीता- १७ यह एक सूक्त ।
२७ योनिः- २३ यह एक सूक्त ।
२८ कामेषुः- २५ यह एक सूक्त ।
२९ यामिनी- २८ यह एक सूक्त ।
३० कामः- २९ यह एक सूक्त ।
३१ सांमनस्यं- ३० यह एक सूक्त ।
३२ पाप्म-हा- ३१ यह एक सूक्त ।
३३ शितिपादविः- २९ यह एक सूक्त ।
३४ मंत्रोक्ताः- २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएं हैं। इनसे और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जायगे। अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये—

सूक्तोंके गण ।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—

१ अपराजितगण- १९ वाँ सूक्त ।
२ तक्मनाशनगण- ७, ११ ये दो सूक्त ।
३ वर्चस्यगण- १६, २२ ये दो सूक्त ।
४ आयुष्यगण- ८, ११ ये दो सूक्त ।
५ रौद्रगण- २१, २७ ये दो सूक्त ।
६ अंहोलिंगगण- ११ वाँ एक सूक्त ।
७ पाप्म-हा-गण- ३१ वाँ एक सूक्त ।
८ बृहच्छान्तिगण- २१ वाँ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं। इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता। इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शांतियां सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं—

१ आंगिरसी महाशान्ति- ५, ६ ये दो सूक्त ।
२ कौमारी महाशान्ति- ७ वाँ एक सूक्त ।
३ ब्राह्मी महाशान्ति- २२ वाँ एक सूक्त ।

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है। इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें। खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरणकी खोज करें अर्थात् इन शांतियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है। संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा। इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहनका विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सांमनस्य अर्थात् एकताका विषय तीसवें सूक्तमें आया है—

शत्रुसेनासंमोहनं- १, २ ये दो सूक्त ।
सांमनस्यं- ३० वाँ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वां 'इन्द्र महोत्सव' के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशिककी सूत्रमें कहा है। इसलिये इस इन्द्र महोत्सवके विषयमें भी विचार होना चाहिये।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरताके साथ करेंगे। इतनी भूमिकाके साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है।





अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

---

(१)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदैवत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढाई करे । (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निर्हस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तरहित करे ॥ १ ॥

हे (मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशे यूयं उग्राः स्थ) ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, [illegible] लिये (अभि-प्र-इत, मृणत, सहध्वम्) आगे बढो, काटो, और जीत लो । (इमे नाथिताः वसवः) ये बलवान् बसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं । (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढाई करे ॥ २ ॥

भावार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करें । सेनासंमोहनकी विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥

हे मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरो ! ऐसे युद्ध समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं, इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रु-पर चढाई करे ॥ २ ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥
इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसूतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) हनन कर दे और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥

हे (इन्द्र) नरेश ! (अमित्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकोंको (विषूचः विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (ओजसा घ्नन्तु) वेगसे हनन करें। (अग्निः चक्षूंषि आदत्तां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आखोंको ले लेवे। इस प्रकार शत्रुका (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमारा शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। सन्मुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जाय ॥ ४ ॥

हे नरेश ! अग्न्यस्त्रके दाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रुसेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके सैन्यको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रुसेनाकी ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछ भी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे। द्वितीय सूक्त यह है—

(२)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदैवत्यम् ।)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥
इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥
व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (नः दूत विद्वान् अग्निः) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं प्रतिदहन्) घातपात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तान् च कृणवत्) हस्तहीन जैसे करे ॥ १ ॥

(यानि वः हृदि) जो तुम्हारे हृदयमें संकल्पित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है। वह (वः ओकसः विधमतु) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (वः सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेशसे हटा देवे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) नरेश ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकूत्या अर्वाङ् चर) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विषूचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे (एषां) इन शत्रुओंके (आकूतयः) संकल्पो ! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तो ! (मुह्यत) मोहित होओ। (अथो अद्य) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां तत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करनेवाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित कर, उनको घरोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥

हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, अग्नि और वायुके वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों, उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आज हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अप्वे) व्याधे ! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अङ्गानि गृहाण) अवयवोंको पकडे रखो और (परा इहि) परे तक चली जा । (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ । (हृत्सु शोकैः निर्दह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जला दे । तथा (ग्राह्या तमसा) जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको त्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंकी यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-आ-एति) स्पर्धा करती हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्य अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भावार्थ— व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकोंके अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जांय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे त्रस्त हो जाय । सन्निपात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे वीर पुरुषो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आरही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थहीन होकर मूर्च्छितसे हो जांय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं। जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आ रही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये। इसका नाम है 'सेना–संमोहन'।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मन्त्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंका कर्तव्यमूढ बन कर भाग जाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतने ही विषयका यहां अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें 'अग्नि, इन्द्र, मरुत्' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रकरणमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अध्यात्म प्रकरणमें वाणी, मन और प्राण लिये जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आ चुका है। वे दोनों प्रकरण इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है शत्रुसेना मोहनका संबंध है, अपनी सेना और शत्रुसेनाका झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अध्यात्मका विषय है और ना ही आधिदैवतका विषय है। प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समाज विषयक प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणि विषयक होते हैं अर्थात् यहां मनुष्यप्राणि विषयक अर्थ समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र।

(इन+द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा– मृगेन्द्र = मृगोंका मुखिया, सिंह; गजेन्द्र = हाथियोंका मुखिया; नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ०। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं परंतु बहुत लोग केवल 'इन्द्र'

शब्दका अर्थ 'राजा' करनेके समय डरते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः परशुः शत्रून् प्रमृणन् एतु।
प्रतीचः अनूचः जहि।
पर्वां चित्तं विष्वक् कृणुहि॥ (सू. १, मं. ४)

२ इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय॥
(सू. १, मं. ५)

३ इन्द्रः सेनां मोहयतु॥ (सू. १, मं. ६)

४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकूत्या अर्वाङ् चर॥
(सू. २, मं. ३)

'(१) हे राजन्! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर। इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर॥ (२) हे राजन्! शत्रुकी सेनाको मोहित कर। अग्नि और वायुके प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे॥ (३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे॥ (४) हे राजन्! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ॥'

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहां 'राजा, नरेन्द्र, सम्राट्' आदि प्रकारका ही इस शब्दका अर्थ है। यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणी वीर राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आ गये हैं वे अब देखेंगे—

२ मघवन्।

'(मघ) धन (वन्) वाला। जिसके पास धन है। जो राजा अपने पास बहुत धनसंग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोशमें होता है यह बात जान लें।'

३ वृत्रहन्।

'(वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला। अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है।

इस प्रकार इन्द्रवाचक शब्द और उसके वर्णनपरक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गंभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आ सकता है। इन्द्रके साथ 'मरुत्' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

४ मरुतः।

(मर्+उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका अर्थ वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बता रहा है। यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है। इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है। इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहां देखिये—

१ हे मरुतः ! ईदृशे यूयं उग्राः स्थ। अभिप्रेत, मृणत, सहध्वम्। (सू. १, मं. २)

२ मरुतः ओजसा घ्नन्तु। (सू. १, मं. ६)

३ हे मरुतः ! या असौ परेषां सेना स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति, तां अपव्रतेन तमसा विध्यत, यथा एषां अन्यः अन्यं न जानात्॥
(सू. २, मं. ६)

'(१) हे मरनेके लिये तैयार वीरो! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो। इस लिये आगे बढो, काटो और वैरीको पराभूत करो॥ (२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें॥ (३) हे वीरो! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावा कर रही है, उसको कर्महीन मोहयुक्त अन्धेरेसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके॥'

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका आदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके ही सैनिकोंको युद्ध और युद्धोंका बडा उत्साह आ सकता है। इसके बाद 'अग्नि' शब्द देखिये—

५ वसवः ।

वसनेवालोंका नाम ' वसु ' है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे वसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वय अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे ' वसु ' होते हैं। इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है—

संवसव इति वो नामधेयं उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ॥ (अथर्व ७।१०९।६)

' आपका नाम सवसु (सवसव) है आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अक्षा) आंख ही हैं। ' इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रभृत्य हैं ऐसा कहा है। इसलिये हम यहां इस सूक्तके प्रसगमें ' वसु ' पदका अर्थ ' उग्र राष्ट्रभृत्य ' अर्थात् ' शूरवीर राष्ट्रीय स्वय सेवक ' करते हैं। यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

इमे नाधिता वसवः अमीमृणन्।
पर्वा दूत. अग्नि. विद्वान् प्रत्येतु ॥ (सू. १,म २)

' ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरी सेनाको काटते हैं। इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे। ' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहांका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ' वसु ' राष्ट्रभृत्य हैं, तो ' अग्नि ' भी वसुओंमेंसे एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत ' है जो समयज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें। इन्द्र स्वय सम्राट् अथवा राजा है, वह स्वयसेवक या राष्ट्रभृत्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परतु राष्ट्रभृत्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है। ये विशेषणों द्वारा बताये भेद पाठक मननपूर्वक देखें और सोचें। ये भेद ही वैदिक राज्यपद्धतिका स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं—

६ अग्निः।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसगमें बताये हैं वे इसके साथ भी सगत होते हैं। यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेजप्रदान करता है। यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्य अकर्तव्यको ठीक प्रकार समझता है। यह (जात-वेदा = जातं वेत्ति) बने हुए वस्तु स्थितिको यथावत् जाननेवाला है। पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूत) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतकी सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिल्जुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयका सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है। इस विषयका मत्र देखिये—

हे वृत्रहन् इन्द्र ! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम्। (सू. १, म ३)

' हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो। ' यहां मिलकर कार्य करनेका उपदेश है। ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करे। ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगडते रहें। यह तो राष्ट्रघातकी अवस्था होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये।

शत्रुको घबरानेकी रीति।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं। जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियां इससे पूर्वके स्पष्टीकरणमें आचुकी हैं। अब कुछ विशेष साधनोंका उल्लेख करना है जो यहां करेंगे—

१ अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय ॥ (सू. १, म ५। सू. २, म ३)

' अग्निके वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर। यहां ध्राजी शब्द है, अग्निका (ध्राजी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धक्केसे शत्रुका नाश करना लिखा है। ध्राजी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतना ही नहीं है, जिस वेगके धक्केसे मनुष्य नष्टप्रज्ञ होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धक्केका आशय इस 'ध्राजी' शब्दमें है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहांके ' अग्ने ध्राजी, वातस्य ध्राजी ' ये दो शब्द क्रमश अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रास्त्र विशेषके वाचक होंगे। इसी स्पष्टीकरणमें हमने पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परतु वह अर्थ यहां नहीं है। एक ही सूक्तमें एक ही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहां स्मरण

रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी।

* **तमसास्त्र—** तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है—

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। (सू २, म ६)

' उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके। ' इस मन्त्रमें ' अपव्रत तम ' शब्दका प्रयोग है। तम शब्दका अर्थ ' अन्धकार ' है। अपव्रतका अर्थ ' कर्महीन ' है। दोनोंका तात्पर्य ' कर्महीन करनेवाला अंधेरा ' है। इससे शत्रुसेनाको वेध करना है। वेध करनेके लिये शस्त्रास्त्र ही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता। इसलिये इस मन्त्रमें तमसास्त्रका उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है। अन्धकारास्त्रके प्रयोगसे शत्रुसैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे। इसी अर्थका एक मन्त्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः चक्षूंषि आदत्ताम्। (सू १, म ६)

' अग्नि शत्रुकी आंखें ले लेवे ' इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोगका ही है क्योंकि यहां हरएककी आंखें निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पडे यही आशय है। तथा और देखिये—

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य। (सू २, म ५)

' शत्रुओंको अन्धकारास्त्रसे विद्ध कर। ' यहांका ' विध्य ' शब्द भी अस्त्ररूप तमको सूचित करता है। यह मन्त्र अन्यत्र आगया है वह भी यहां देखिये—

अन्धेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम्।
(ऋ० १०।१०३।१२, यजु० १७।४४, साम उ० ९।३।५; निरु० ९।३३)

तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन्। (यजु० १७।४७)

' शत्रुओंको अन्धकारमें ढांप दो ' इत्यादि मन्त्रभागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है।

१ **अप्वा, ग्राही—** सूक्त २, म ५ में ' अप्वा और ग्राही ' इन दो शब्दोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने अथवा उनको ग्रस्त करनेका उल्लेख है। ' ग्राही ' शब्दका अर्थ संधिवात इसी अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक वार आया है। यह अर्थ यदि यहां लिया तो संधिवात जैसे जकडनेवाले रोगद्वारा शत्रुको ग्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है। अप्वा शब्दका अर्थ रोग, व्याधि अथवा भय है। परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है। यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि ' ग्राही ' शब्दका अर्थ ' पाश ' होना संभव है, जिससे शत्रुको पकडा जाय और जकडकर बांधा जाय। ' अप-व ' धातुसे यदि ' अप्वा ' शब्द बनाया जाय तो ' वे ' धातुका अर्थ ' तन्तु-संतान ' होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ ' जल अथवा जाला ' होना संभव है। मन्त्रमें—

अप्वे ! परेहि, अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती अङ्गानि गृहाण॥ (सू २, म ५)

' हे अप्वे ! आगे बढ, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड रख। ' यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाल शत्रुपर फेंका जाता है, जिसमें पकडे जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उनके शरीर पकडे या जकडकर बांधे जाते हैं। इस मन्त्रमें ' परेहि, अंगानि गृहाण ' आदि वर्णन यह ' अप्वा ' कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है। अर्थात् ' ग्राही और अप्वा ' ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकडनेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है। खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें।

मंत्रोंकी समानता।

इन दोनों सूक्तोंमें मंत्रोंकी समानता है। दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोडे पाठभेदसे करीब एक जैसा ही है। प्रथम सूक्तका ५ वां मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है। प्रथमार्धमें थोडा पाठभेद है। यह सब पाठक स्वयं अवश्य देखें।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठायेंगे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना।

(३)

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करनेवाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर कहा गया है। हे (अग्ने) अग्ने! (उरूची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावापृथिवीमें अपना तेज फैलाओ। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत् तुझे योग्य बनावें। (रात-हव्य अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहां ला ॥ १ ॥

(दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्र) दूर रहनेवाले ज्ञानी इन्द्रको भी (अरुषासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताके लिये यहां ले आवें। (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्कं अस्मै दधृषन्त) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

(वरुणः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे। (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षीके समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आ जा ॥ ३ ॥

(अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलाने योग्य राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनपक्षी शीघ्रगामी दूसरे देशसे ले आवे। (अश्विनौ सुगं ते पन्थां कृणुतां) दोनों अश्विनी सुगम और योग्य तेरा मार्ग बनावें। (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस जगतमें मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकारकर सब आप्तपुरुषोंने कही है। मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे। ऐसे अपने राजाको सब जाननेवाले और शक्तिमान वीर और लोगोंको नमनपूर्वक अपने राज्यपदपर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें, उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका सत्कार करें ॥ २ ॥

जलस्थानोंकी रक्षाके लिये जलाधिकारी, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिकारी लिये सुनिश्चित राजाको बुलावे, तब राजा अपने प्रजाओंमें शीघ्रगतिसे आकर विराजे ॥ ३ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें। (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढावें। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोंमें तेरे लिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (यः सजातः) जो सजातीय है (च यः निष्ट्यः) और जो विजातीय है (ते हवं विवदत्) तेरे आदरणीयताके विषयमें विवाद करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (अथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहां लाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥

मित्रजन उस राजाका बल बढावें और उसकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥

यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बडे आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां तृतीय सूक्तका अर्थ और भावार्थ हुआ। इसीके साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है इसलिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजा का चुनाव।

(४)

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— इन्द्रः, नानादेवताः)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्योऽभवेह ॥ १ ॥

अर्थ— हे राजन् ! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुमको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उत् इहि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो। (विशांपतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे बुलावें और (इह उपसद्यः नमस्यः भव) यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुमको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू उनके लिये प्राप्त होनेयोग्य बनकर सबसे पूजित हो ॥ १ ॥

१ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न्रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥ २ ॥

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑राते ।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

अ॒श्विना॑ त्वाग्रे॑ मि॒त्रावरु॑णो॒भा विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा॒ मनो॑ वसु॒देया॑य कृणुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥ ४ ॥

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ।
तदु॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त्स उपे॒दमेहि॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र वीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २ ॥

(हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मानपूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः दूतः संचराते) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे । (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । (उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥

(अग्रे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनौ, मित्रावरुण, सब देव और मरुत् (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावें । (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर (ततः उग्रः नः वसूनि वि भज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

(परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहां आ । (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावापृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें । (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता है (सः अयं त्वा अह्वत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इद उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भावार्थ— सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही पसंद करें । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपदपर आरूढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनका योग्य विभाग बांट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों । तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभागसे धन बांट दे ॥ ४ ॥

यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्र ही वापस आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू सदा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥
पथ्या३ रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (**इन्द्र-इन्द्र**) राजाओंके महाराजा! (**मनुष्याः परेहि**) मनुष्योंके समान परे आ और (**हि वरुणैः संविदानः**) वरिष्ठोंसे मिलकर तू (**सं अज्ञास्थाः**) ठीक प्रकार जान सकता है। (**सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अह्वत्**) वह यह अपने घर तुझे बुलावे (**सः देवान् यक्षत्**) वह देवोंका यज्ञ करे, और (**स उ विशः कल्पयतात्**) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥

(**पथ्याः रेवतीः**) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (**बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य**) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (**ते वरीयः अक्रन्**) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं। (**ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु**) वे सब एकमन होकर तुझे बुलावें पश्चात् तू (**इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश**) यहां उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवी दशातक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो। ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे यज्ञयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो। बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमनसे तेरी प्रशंसा करे। इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्षतक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

कर कहा गया है ।' इस जगत्में यदि मनुष्यको संमानसे जीवित रहना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसी ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है । जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढानेमें प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है । आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बडा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं । आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसीलिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है । जो बात अत्यंत महत्वकी होती है वही वारवार पुकार पुकार कर कही जाती है । इस कारण जो बात वेदने अनेक वार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है । पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें ।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही पराजित होता है और आपत्तिमें गिरता है । आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने ! उरूची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू. ३, मं १)

'अग्निके समान तेजस्वी ! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ ।' आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा ऊर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है । 'अग्नि-रूर्ध्वज्वलन' अग्निकी जलनकी गति उच्चगति है । उच्चगतिवाले सदा उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलायेंगे और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे । आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है । आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्निके प्रचंड प्रकाशसे बताई है । जिसका नित्य देखकर वैदिकधर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥ (सू. ३, मं ४)

'दूसरेके देशमें प्रतिबंधसे भटकता है ।' जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिप छिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार कष्टोंमें सडता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशताका भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले ।

सौत्रामणी याग ।

'सौत्रामणी' नामक एक बडा भारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत् ।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥
(तै. सं. ५।६।३।४)

'इन्द्रका वीर्य दस दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया ।' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है । 'सु+त्रामन्' शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (त्रामन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति । यह जिससे प्राप्त होती है उसको 'सौ-त्रा-मणी याग' कहते हैं । पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बताया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है । अर्थात् सौत्रामणी यागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है । इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्र इन्द्रं सखयाय मरुतासः
आच्यावयन्तु । (सू. ३, मं. २)

'राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावें ।' राज्यभ्रष्ट राजा जंगलोंमें या (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं । मं० ४) दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है उसको पुन राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका राज्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो, और ज्ञानी इन्द्र ही राजगद्दीपर बैठ जावे, इसलिये यह सब प्रयत्न है । यह सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धने कहा है—

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्कं सौत्रामण्या
दधृषन्त । (सू. ३, मं. २)

' देव इस राजाके लिये गायत्री, बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्रामणी यागके द्वारा करते हैं। ' राजगद्दीपर राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बड़ा सत्कार करते हैं। इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्वयतु।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु॥
(सू. ३, मं. २)

अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम्॥
(सू. ३, मं. ३)

प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्राः प्रति अवृषत॥
(सू. ३, मं ५)

' वरुण राजा जलस्थानोंके संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुव्यवस्थाके लिये बुलावे। अश्विदेव यहां आनेका तेरा मार्ग सुगम करें। प्रत्येक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढावें। '

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्वके हैं और प्रजाजनोंके सुप्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है। समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतोंपर भी किले आदिका प्रबंध आवश्यक होता है। प्रजाकी सुव्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है। इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको पुनः *राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहां है। राजाके* कर्तव्योंकी भी सूचना यहां मिलती है। सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बना हुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अन्तःकरणमें रहना चाहिये। देखिये इस विषयमें अगला मंत्र ही कहता है—

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीधरन्।
(सू. ३, मं. ५)

' इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण स्थापित करें। ' अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होवे। यहां—

ते क्षेमं विशि। (सू. ३, मं. ५)

' तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें बसता है। ' अर्थात् प्रजाजनोंके कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं। जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता वह सच्चा राजा ही नहीं है। यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः। (यजु २०।९)

' प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है। ' प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा? परन्तु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परन्तु प्रजा राजाके आश्रयके विना भी रह सकती है। अतएव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है। ' ते क्षेमं विशि ' इस अथर्व मंत्रका इस दृष्टिसे पाठक मनन करें। ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये—

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशध्वम्॥
(सू. ३, मं ४)

' सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावें। ' राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयोंके साथ ही आवे। वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय। सजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग किस समय धोखा देंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशीयों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं। इस आत्मघातके बर्तावका परिणाम उनको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है। इसलिये इस मंत्रभागने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना दी है जो राजनीतिमें विशेष महत्वकी है। जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहां राजा विश्वासके वेगपूर्वक आवे और अपना कार्य प्रारंभ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत॥ (सू. ३, मं. १)

' श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड ' अर्थात् जहां प्रजाजनोंके सब पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहां राजाको त्वराके साथ पहुंचकर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये।

विरोधी मनुष्य।

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है, इस शंकाका उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये—

> यः सजातः, यः च निष्ट्यः, ते इन्द्र विवदत्,
> तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय॥
> (सू ३, मं ६)

'कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ।'

सर्व प्रजाकी संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उनको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है, इसके अनुसंधानसे पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं।

रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

> प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वा राज्याय
> वृणताम्। (सू. ४, मं. २)

'दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें।' प्रजा राज्यशासन चलानेके लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजाकी राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्ववेदमें इस बातको बतानेवाले कई सूक्त हैं, उनका विचार उनके स्थानपर यथाक्रमसे होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले वचनोंको इकट्ठा करके सबका मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजनीतिशास्त्रका ज्ञान होगा। अस्तु। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्रभाग यहां देखिये—

> हे राजन्! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु!
> (सू. ४, मं. १)
> हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु। (सू. ४, मं. १)
> बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) सगत्य ते
> वरीयः अक्रन्। (सू. ४, मं. ७)
> ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु!
> (सू. ४, मं. ७)

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राड् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव॥ (सू. ४, मं. १)

'हे राजन्! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन।' इस प्रथम मन्त्रमें 'प्रजा-पति' बन, यह आदेश है। पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द 'पा' धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है। जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इसलिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है। इस प्रकार यहां प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है। ऐसे राजाको ही प्रजा प्रणाम (नमस्य.) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है। राजा ऐसा हो कि *जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके।* जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो। जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और अन्य प्रजाका दर्शन भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आ गया है इस

निर्धन लोग पीछे जाते हैं। इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वसुविभाग करे। धनकी विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थानपर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज॥
(सू. ४, मं. २)

२ अध मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज॥
(सू. ४, मं. ४)

'(१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर। (२) पश्चात् अपना मन धनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे।' इन दो मन्त्रभागोंमें पहले कहा है कि 'हे राजन्! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर।'

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये। यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है। धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके विना नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है। उग्र बनकर और पक्षपात छोडकर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

शुभसंकल्प।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु। (सू. ४, म. ३)

हे राजन्! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे ' स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें।' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचारवाली कन्याएं और शुभसंकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्म-चर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी, शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम ब्रह्मचारी हो सकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। पाठक इस बातका खूब विचार करें। यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परन्तु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आयेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है। इसलिये वैदिकधर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अन्दर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें।

राजाका रहना सहना।

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख-दुःख अवलोकन करे। इस विषयमें आदेश देखिये—

> इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः (परा) परेहि,
> वरुणैः संविदानः हि अज्ञास्थाः ॥
> स अयं त्वा स्वे सधस्थे अह्वत्,
> स उ देवान् यक्षत्; विशः कल्पयात् ॥

दरबारी ठाटको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके वेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने आंखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है। अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहांके जो (वरुणैः = वरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये। ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्यप्रबंधमें दोष कहां है और गुण कहां है।

दूसरी बात इसी मन्त्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां आवे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ, याग आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राज-पुरुषोंको भी सदा मनन करने योग्य हैं।

दूतका संचार।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब अवस्था स्वयं अपने आंखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है। परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते हैं, इस-लिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मन्त्रमें कहा है—

अजिरः दूतः संचराति। (सू. ४, मं. ३)

' युवा दूत संचार करे।' राष्ट्रमें दूतोंका संचार कराके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे। और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे। अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख-दुःखका पता लगता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी इस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है।

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम् । (सू. ४, मं. ५)
(२) उग्रः सुमना इह दशमीं वश । (सू. ४, मं. ७)

(१) 'हे राजन् ! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों, और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां सौ वर्ष तक राज्यको अपने वशमें कर।' इसी प्रकार 'सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले' (मं ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होता हो। जो राजा प्रजाके सुखकी पर्वाह न करता हो उसके हिताहितकी फिक्र प्रजा भी नहीं करती। इसलिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि 'मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगनेके लिये।' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण ।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आ गई है वह अवश्य देखने योग्य है। इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते। ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं। परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुणबोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं। यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है। यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनोंका वाचक है। 'वरुण, वरण, वर्ण' इस प्रकार यह 'चार वर्णोंके लोगों' का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है। यहां हमारे मतसे 'वर्ण' अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें।

राजा और राजाके बनानेवाले।

(५)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सोमः)

आयमंगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (आ अगन्) आया है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु) विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्रबल और (मयि रयिं धारयतात्) मुझमें धन धारण कर। (अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे) मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ— यह पर्णमणि बल बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका सामर्थ्य और औषधियोंके रसोंसे बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और मैं राष्ट्रका हितसाधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निजसंबंधी बनकर रहूं ॥ २ ॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥

अर्थ— (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥

(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है । (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवनके लिये (प्रियासं) प्रिय करूं ॥ ४ ॥

(पर्णमणिः मह्यं अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणके फैलानेके लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरूढ हुआ है । (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥

(ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिमान् लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

(ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस मणिको देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवें ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने सुसंस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें पहले दिया हुआ, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है । इस मणिको मैं सौ वर्षोंकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥ ४ ॥

यह मणि मेरे शरीरपर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊंगा ॥ ५ ॥

जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (मणे) पर्णमणे! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुमको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मणी उत्तम शरीररक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्षपर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूं ॥ ८ ॥

पर्ण मणि।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है। अथर्ववेद काण्ड २, सू. ४ में जंगिड मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहां भी देखें। यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके रससे बनाया होता है, देखिये—

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः। (सू. ५, मं. १)
२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः। (सू. ५, मं. ४)
३ देवाः (पर्णं-) मणिं वनस्पतौ निदधुः। (सू. ५, मं. ३)

(१) 'पर्णमणि औषधियोंका दूध ही है। (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है। (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है।' ये इसके वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूधसे बनाया जाता है। 'पर्ण-मणि' यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ स्पष्ट कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है। इसके धारणसे वनस्पति-रसके वीर्यके कारण शरीरपर बड़ा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः बली। (सू. ५, मं. १)
२ पर्णः तनूपानः। (सू. ५, मं. ८)
३ बलेन सपत्नान् मृणन्। (सू. ५, मं. १)
४ देवानां ओजः ··· मा पर्वसा जिन्वतु। (सू. ५, मं १)
५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात्। (सू. ५, मं. २)
६ आयुषे वर्चसे च तं अस्मभ्यं ददत्। (सू. ५, मं. ३)
७ पर्णः उग्रं सहः ··· दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। (सू. ५, मं. ४)
८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत्। (सू. ५, मं. ५)

(१) 'यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंको नाश करता है, (४) [illegible] (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बड़ा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढ़ावे।'

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस 'पर्णमणि' के अंदर बड़ा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, उसके धारण करनेके अंदर शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बड़ा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है। यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है। वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें।

राष्ट्रका निज बनना।

'राष्ट्रका निज' बनकर रहनेका मनोरथ इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है। जो लोग राष्ट्रमें रहते हैं वे निज बनकर

रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है—

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।
(सू ५, मं. २)

' मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बनकर रहूंगा। ' यहां राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहांका ही उदाहरण लीजिये। इस भारतवर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ' भारतवर्षका निज ' बनकर नहीं रहता। जो ये आते हैं वे ' उपरी ' बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहां रहते हैं, उपरी बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके उपरी भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है। इसलिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो ' निजभाव 'से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परन्तु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठीन है। इस दृष्टिसे पाठक देखें कि ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है। ' निजभाव ' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ' निज भाव ' न रखनेवाले स्वदेशी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका घात करनेवाले बनेंगे। यहां पाठक ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें।

राजाको निर्माण करनेवाले।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें ' राज-कृतः ' शब्द है इसका अर्थ ' राजाको निर्माण करनेवाले (King makers) ' है। राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और राजगद्दीपर आता है, इसीको प्रजा द्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजाका नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो ' निर्माण ' ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके ' पितर ' हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है (देखो अथर्व कां. ७, सू. १२, मं. १-२)। प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षाके समान ही प्रजारक्षा यह राजधर्म है।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, ग्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें। इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राजपुरुषों द्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे। इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके लिये वैदिक राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है। इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें।

यह संपूर्ण अनुवाक राजप्रकरणका ही उपदेश देता है।

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

वीर पुरुष ।

(६)

(ऋषिः – जगद्बीजं पुरुषः । देवता – वानस्पतिः, अश्वत्थः)

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥
तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

अर्थ — जैसा (खदिरात् अधि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है । (स मामकान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनका मैं द्वेष करता हू और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे (अश्व-स्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैबाधदोधतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले द्रोही शत्रुओंको (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बडे समुद्रमें तू भेदन करता है (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि) उन सबको छिन्न भिन्न कर (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (ऋषभः इव) बैलके समान होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वय सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ— खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है । ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥ १ ॥

हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥

हे वीर ! जिस प्रकार नौकाएं बडे समुद्रके पार होती हैं उसी प्रकार तू सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए वीरता प्रकट करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— हे अश्वत्थ ! (निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनातु) आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुषे) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्द्धि) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और (सहस्व च) उसका जीत लो ॥ ६ ॥

(बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नौकाके समान (ते अधराञ्चः प्र प्लवतां) वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावें (वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥

(एनान् मनसा प्र नुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं । (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं । (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एनान् प्र नुदामहे) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड देवे ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जायगे । ऐसे एक बार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥ ८ ॥

खडा हो जाता है। जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुके सिरको अपने पावके नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पीपलका यह वृक्ष है। इसलिये अश्वत्थ वृक्षकी अन्योक्तिसे इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है। पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढें।

आनुवंशिक संस्कार।

इस सूक्तके प्रथम ही मंत्रमें कहा है कि '**पुंसः पुमान् परिजातः**' वीरसे वीर संतान उत्पन्न होती है, वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते, परंतु यहां वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहां रहता है यही दिखाया है। बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करनेके कारण वीरके संतान वीरतासे युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुका लक्षण।

इस सूक्तमें '**बै-बाध**' (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होनेका लक्षण कहा है (मं ३; ७)। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें वे शत्रु विशेष प्रकारसे बाधा भी करते हैं। यह अनुभव पाठकोंको है ही। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा यनान् प्र नुदे।
(सू. ६, मं ८)

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिनसे शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जांय। तात्पर्य हरएक प्रकारसे युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवताम्। वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति॥
(सू. ६, मं. ७)

'बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जलप्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्ट लोग अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है।'

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो यह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रता में रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं। साम्राज्यमदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेको भी वहां ही रहना पडता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह जानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरोंपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है।

विजयकी तैयारी।

इस सूक्तमें 'सहमान, सासहान' (मं. ४) ये दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, अषाढ' ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर भी अपना स्थान नहीं छोडना।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना।

(७)

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — हरिणः, तारके, आपः, यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥
अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् क्रियमाणाया आसुतेः) यदि बिगडनेवाले रससे (क्षेत्रिय त्वा व्यानशे) क्षेत्रिय रोग तेरे अन्दर व्यापा है। तो (तस्य भेषज अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हू और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रिय नाशयामि) तुमसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हू ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणा अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उषसां अपवासे) उषाके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्मत् अप) सब अनिष्ट हम सबस दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यदि बिगडे जलक निमित्तसे तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हू और उससे रोग भी दूर करता हू ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उषा चली आत ही सब रोगबीज [redacted] सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापितासे सतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। य क्षत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कहा है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बडे भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है। 'हरिणके सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (म १)' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रथका—

मृगशृङ्ग भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्यते ।

—वैद्यक शब्द सिंधु।

'मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है।' यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ सगत होता है।

हृदय रोग।

इस सूक्तके द्वितीय मत्रमें 'हृदि गुष्पितं क्षेत्रिय' (म. २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्राय हृदयरोग ही होगा। तृतीय मत्रमें 'अगेभ्यः क्षेत्रियं' (म. ३) सब अगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है। प्रथम मत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है। ये सब रोग हरिणके सींगसे दूर होते हैं। हरिणका सींग चदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्प-प्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। इस प्रातम छोटे बालकोंको उक्त प्रकार किंचित जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताए कहती है कि इससे सतानोंको आरोग्य होता है। सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है।

औषधि चिकित्सा।

चतुर्थ मत्रमें 'सुभगा और तारका' ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मत्र काण्ड २, सू ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका।

भग-वती विचृतौ नाम तारके ॥

(का २, सू ८, म १)

इसके साथ इस सूक्तका मत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. ३, सू ७, म. ४)

इसमें विधानकी समता है। इसलिये द्वितीय काण्डके अष्टम सूक्तके प्रसगमें 'भगवती और तारका' वनस्पतियोंके विषयमें जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें। सुभगा और भगवती ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां

क्षेत्रियरोगको दूर करती है। इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें का. २, सू. ८, मं. १ का विवरण देखिये ।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां ।

वनस्पतियोंके साथ द्युलोकका संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार ' सुभगा (भगवती) और तारका ' ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोकमें हैं। यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है ।

जलचिकित्सा ।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि ' जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं। ' जलके आरोग्यवर्धक गुणके विषयमें कां. १, सू. ४-६ ये तीन सूक्त देखिये ।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे खान या पानसे हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरु होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्यपरक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि ' अतिशीघ्र रोग दूर होंगे । '

राष्ट्रीय एकता ।

(८)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः, नानादेवता)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ— (उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण, वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बडे राष्ट्रको (दधातु) धारण करें ॥ १ ॥

(धाता रातिः सविता) धारण कर्ता, दाता सविता (मे इदं वचः) मेरा यह वचन (जुषन्तां) प्रीतिसे सुनें और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें। (शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माताको मैं बुलाता हूं (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुख स्थानपर रहनेवाला होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूं ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥
सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ— **(अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्)** मैं सोम, सविता और सब आदित्योंको **(उत्तरत्वे)** अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये **(नमोभिः हुवे)** अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं। **(अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इद्धः)** विरुद्ध भाषण न करनेवाले सजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ **(अयं अग्निः)** यह अग्नि **(दीर्घं एव दीदयत्)** बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इह इत् असाथ) यहां ही रहो, **(परः न गमाथ)** दूर मत जाओ। **(इर्यः गोपाः)** अन्नयुक्त, गौका पालन करनेवाला **(पुष्टपतिः वः आजत्)** पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे। **(विश्वे देवाः)** सब देव **(अस्मै कामाय)** इस कामनाकी पूर्तिको **(कामिनीः वः)** इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको **(उप उप संयन्तु)** एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

(वः मनांसि सं) तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो, **(व्रता सं)** तुम्हारे कर्मोंको एक भावसे युक्त करो, **(आकूतिः सं नमामसि)** संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं। **(अमी ये विव्रताः स्थन)** यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो **(तान् वः सं नमयामसि)** उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। **(मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत)** मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। **(मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि)** मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। **(मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत)** मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पाके योग्य होऊं। परस्पर विरोध न करनेवाले सजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देरतक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरेसे दूर न हो जाओ। अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला, तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुमको इकट्ठा करके यहां लावे। एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे संकल्प एक हों जिससे तुम संघशक्तिसे युक्त हो जाओगे। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ॥ ५ ॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं। मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहां आओ। मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं। मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

*

अधिक उच्चता।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

हुवे सोमं सवितारं नमोभि-
र्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे॥ (सू. ८, मं. ३)

'सोम, सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूं।' अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिको प्राप्त कर सकूं।

'उत्, उत्तर' ये शब्द एकसे एक बढकर अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे 'उत्' अवस्था बढकर और उससे 'उत्तर' अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा 'उत्तरत्व' की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है। अर्थात् मनुष्य अपनेसे उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परन्तु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। 'उत्-तर-त्व' शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। 'श्रेय और प्रेय' अथवा 'देव और असुर' ऐसे मार्ग मनुष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् देव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर आनेकी प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें 'देवताओंकी नमनपूर्वक प्रार्थना' करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नमनपूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर अपना पांव नहीं रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना इस प्रकार मनुष्यताके विकासका हेतु है। एक बार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसुरी स्पर्धाओंमें फंस जाते हैं। इस प्रकारकी गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि—

पाठक इस सूचनाको ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है।

उन्नतिका मार्ग।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है। वह अलग अलग रहकर उन्नत हो नहीं सकता। वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्योंके लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूतीः सम्।
(सू. ८, मं. ५)

'तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढानेवाले हों।' इस मंत्रमें जो 'सं' उपसर्ग है वह 'उत्तमता और एकता' का द्योतक है। मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों। कई लोग बाहरसे कोई बुरा कार्य करेंगे नहीं, परन्तु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें बिगाड मचानेका हेतु बने। ऐसा नहीं होना चाहिये। संकल्प, विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहिये और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये। यदि अपने समाजमें कोई इससे विरुद्ध बर्ताव करनेवाला हो, तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पंचम मन्त्रका कथन देखने योग्य है—

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥
(सू. ८, मं. ५)

सुधारका प्रारंभ।

हमेशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अन्तःकरणके सुधारसे होता है। जो लोग अपने अन्तःकरणके सुधार करनेके बिना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मन्त्रमें अपने सुधारसे जगत्का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि ।
मम चित्तेषु वः हृदयानि कृणोमि ॥

(सू. ८, मं ६)

'मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं। इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं।'

इस मन्त्रमें 'अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश' हरएकको ध्यानमें रखने योग्य है। पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्मा ही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं। जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनताके मनोंका आकर्षण करते रहते हैं। यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है। ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है। हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है। जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी। इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत ।
मम यातं अनु वर्त्मान एत ॥ (सू. ८, मं. ६)

'मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो।'

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है। अर्थात् उनके कहनेके विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं। यह स्वयं होता रहता है। परन्तु जनताको 'अपने मार्गसे चलो' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है। इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं। जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है। इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्मसुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला हो सकता है। जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है। आत्मसुधार करनेके मार्गके बिना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्तिकी वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताको 'अपने पीछे चलो' ऐसा कहनेका अधिकार आता है। वह कहता है कि—

'मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर चलो (मं ६)।' अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूं उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा। इस प्रकार इस अवस्थामें वह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है। उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र।

उक्त प्रकारके मार्गदर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको 'संवेश्य राष्ट्र' कहते हैं, क्योंकि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जाय और रहें और आनंद प्राप्त करें। इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं० बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ।

(सू. ८, मं. १)

'हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य बडा राष्ट्र देवें।' अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्श राष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने। इस प्रकारके राष्ट्रमें 'मैं प्रमुख बनूंगा' यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अन्तःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा, इसका सूचक वाक्य द्वितीय मन्त्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि ।

(सू. ८, मं २)

'सजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊंगा।' यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अन्तःकरणमें रहेगी,

इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परन्तु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जायगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सात्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मन्त्रने ' उत्तरत्वकी स्पर्धा ' कहा है। इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये —

राष्ट्रीय अग्नि।

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः॥
(सू. ८, मं. ३)

' (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) सजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे। ' अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्योंकि इसी अग्निकी गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-ब्रुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं।

इस सूक्तमें ' सजात ' शब्द आया है और यह शब्द वेदमंत्रोंमें अनेक वार आया है। ' सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय ' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है। जातिभेदके कारण एक दूसरेसे लडनेवाले लोग ' सजात ' नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर ' सजात ' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये। ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, यही अग्नि शब्द द्वारा तृतीय मंत्रमें कही है। यही राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है।

राष्ट्रका पोषक।

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है —

इर्यो गोपा पुष्टपतिर्व आजत्। (सू. ८, मं. ४)

' (इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं। ' यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है। अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिये आवश्यक हैं। राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है। यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती। पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें।

शूरपुत्रोंवाली माता।

राष्ट्रकी बुनियाद ' संतान ' है। पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं। इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है। माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रा अदितिं देवीं हुवे। (सू. ८, मं. २)

' शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूं। ' अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं। यहांका ' अ-दिति ' शब्द ' अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली ' इत्यादि भाव रखता है। ' शूरपुत्रा ' शब्दका भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। ' वीरसूर्भव ' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा।

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहां होंगी वहां ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पहुंच सकते हैं। देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये।

दैवी सहायता।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्रशक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये—

असै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ (सू ८, मं ४)

'सब देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।' अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है। जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिये प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें 'मित्र, वरुणादि देवोंकी *सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो' यह आशय* है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है। (विशेषकर काण्ड १, सू. ३०, ३१ के विवरण देखिये) इसलिये उसका यहां पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें।

क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय।

(१)

(ऋषिः - वामदेवः। देवता - द्यावापृथिवी, देवाः)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ— (**कर्श+फस्य=कृशस्य**) कृश अथवा निर्बलका अथवा उसी प्रकार (**विश+फस्य**) प्रबलकी भी (**माता पृथिवी**) माता पृथ्वी है और उनका (**पिता द्यौः**) पिता द्युलोक है। हे (**देवाः**) देवो! (**यथा अभिचक्र**) जैसा पराक्रम किया था (**तथा पुनः अपकृणुत**) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥ १ ॥

जैसे (**अ-श्रेष्माणः अधारयन्**) न थकनेवाले ही किसीका धारण करते रहते हैं (**तथा तत् मनुना कृतम्**) उसी प्रकार वह कार्य मननशीलने भी किया होता है। (**मुष्काबर्हः गवां इव**) जैसा अण्डकोश तोडनेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (**वि-स्कन्धं वध्रि कृणोमि**) रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— *बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता-पिता भूमि और द्युलोक हैं। अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें* भाई हैं। देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुको हटा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। मननशील मनुष्य भी वैसा ही पुरुषार्थ करते हैं। मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं, जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाले बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निर्वीर्य कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥
एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत् खृगलं आबध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं। (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यवः) यशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बाधूंगा। और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा। (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलनेवाले रथोंके समान तुम (शपथेभिः उत् सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

(एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर रहे हैं। (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्टनाशक तुझ मणिको (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है। सबमें बढकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ— भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निर्वीर्य बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके दैवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, तथा प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये। जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर सैकडों विघ्न और दुःख हैं। उनके प्रतिबंधक उपायोंमें दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसको धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यह सूक्त समझनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है। इस सूक्तके ' कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव ' ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधानकारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा। जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें।

सबके माता पिता।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभावकी बात है।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता।
(सू. ९, मं. १)

जगत्‌में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्श+फ=कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्‌की स्पर्धामें (कर्+शफ) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते, और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूरतक कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुरवाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लातें मारनेमें समर्थ होते हैं। 'विशफ' के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि 'पाशवी शक्तिसे युक्त।'

विश्वबन्धुत्व ।

जगत्‌में ये दो प्रकारके लोग हैं, एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्शफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि 'सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी सतानें हैं,' इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपसमें भाई भाई हैं' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्योंकि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हट गया तो झगडा ही नहीं रहेगा। सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो गई तो उन सबकी एकता होनेमें विलम्ब नहीं लगेगा। मातृभूमिकी भक्ति ही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देता है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देता है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम ।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधमें उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको सिद्ध रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरुषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरुषार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥

(सू. ९, मं. १)

'जैसा (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुत) उनको दूर करना चाहिये।' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनको अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये। इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्माको सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है। पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेशका अच्छी प्रकार मनन करें।

परिश्रमसे सिद्धि ।

परिश्रम करनेके बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है। जो भी विजयी लोग हुए हैं वे थकावटसे ग्रस्त नहीं होते थे। वे परिश्रम करनेके लिये डरते नहीं थे, इसीलिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों, समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके। इसीलिये मंत्रमें कहा है—

अश्रेष्माणो अधारयन्
तथा तन्मनुना कृतम् ॥ (सू. ९, मं. ३)

'जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं। मननशीलने भी वैसा ही कर लिया था।' परिश्रम करनेके बिना धारक शक्ति नहीं आ सकती। और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणामतक पहुंचे हैं। प्रयत्न शीलता ही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है। इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व जानकर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये।

परिश्रमी पुरुष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न [illegible] कर सकता है, उसके लिये सब ही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है, वह निश्चयपूर्वक कहता है कि—

कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ।

(सू. ९, मं. २)

' मैं निश्चयसे विघ्नको निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्ड-कोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे विवीर्य करते हैं। ' पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरुषार्थ प्रयत्नके सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्यके लिये असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर-माया।

' असुरमाया ' का विषय चतुर्थ मन्त्रमें आया है। ' माया ' शब्दका अर्थ ' कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म ' है। ' असुर ' शब्दका अर्थ ' (अ-सुर) देव अथवा (असु-र) जीवनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले ' है। इसलिये ' असुर-माया ' का अर्थ ' असुरोंके पासका कला-कौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या ' है। यह असुर माया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पास भी रहती है और दैत्योंके पास भी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायया देवा इव श्रवस्यवः चरथ।

(सू. ९, म ४)

' इस जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो। ' देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मन्त्रका कथन मनुष्योंको पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों हैं, व्यक्ति, समाज, जाती और राष्ट्रकी उन्नतिमें सैंकडों किस्मके विघ्न होते हैं। जो भी पुरुषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विघ्न तो अवश्य ही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। उन विघ्नोंके विषयमें कहा है—

शतदातं विष्कन्धानि धिष्ण्या पृथिवीमनु।

(सू. ९, मं. ६)

' सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं। ' सब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये होंगे ही, इस कारण डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनको प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ।

(सू. ९, मं. ५)

' शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसी प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढ जाओगे। ' अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे ग्रस्त होते हैं। इसलिये अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुधर सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये-

शुनां दूषणः कपिः इव। (सू. ९, म. ४)

' कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है। ' बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः कुत्ते उन बंदरोंको कोई विघ्न कर नहीं सकते। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न, कष्ट नहीं दे सकते। जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे। विघ्नका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है। इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं—

अथस्युं शुष्मं काबवं वधिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥

(सू. ९, म ३)

काबवस्य च बन्धुराः॥ (सू. ९, म. ४)

काबवं दूषयिष्यामि॥ (सू. ९, म. ५)

' विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें। विघ्नका प्रतिबन्ध करें। मैं विघ्नको परास्त करूंगा। '

ये सब विधान विघ्नोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं। विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही हैं। शारीरिक व्याधियोंसे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है। (देखो काण्ड २, सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध हो जाता है इसलिये मणि धारणकी सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्नलिखित मंत्र है—

पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।
(सू. ९, मं. ३)
दुष्टयै हि त्वा भत्स्यामि। (सू. ९, म. ५)
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध-दूषणम् ॥
(सू. ९, मं. ६)

'भूरे रंगवाले सूतमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं। दुरवस्था हटानेके लिये तुझे बांधूगा। मणिको विघ्नोंका निर्बल करनेवाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं।'

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट होजाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधियोंको हटानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है। सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्वकी कल्पनाका फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है। तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटानेके लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है। इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनको अपनी उन्नतिका मार्ग विघ्नरहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है।

कालका यज्ञ।

(१०)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — एकाष्टका, नानादेवता)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥
संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्रथमा ह वि+उवास) पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई। (सा यमे धेनुः अभवत्) वह नियममें धेनु जैसी हुई। (सा पयस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्री रूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं। (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

हे (रात्रि) रात्री! (यां त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपास्महे) हम सब भजते हैं, (सा नः आयुष्मतीं प्रजां) वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है। जो सुनियमोंका पालन करता है उसके लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है। इसलिये यह वेला हमारी भविष्यकी आयुमें हमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देखकर देव आनंदित होते हैं। यह संवत्सरकी पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥ २ ॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इसलिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥
इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

अर्थ- (**इयं एव सा**) यही वह है कि (**या प्रथमा व्यौच्छत्**) जो पहली प्रगट हुई और जो (**आसु इतरासु प्रविष्टा चरति**) इन इतरोंमें प्रविष्ट होकर चलती है। (**अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः**) इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं। (**नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय**) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(**परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः**) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले (**वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत**) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं। हे (**एकाष्टके**) एक अष्टका ! (**वयं सुप्रजसः सुवीराः**) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (**रयीणां पतयः स्याम**) धनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

हे (**जातवेदः**) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (**इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति**) गौके घीसे युक्त सरकनेवाले स्थानके प्रति (**हव्या गृभाय**) हव्यको ग्रहण कर। (**ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः**) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (**तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु**) उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (**रात्रि**) रात्री ! (**पुष्टे च पोषे च मा आ भर**) पुष्टि और पोषणके संबंधमें मुझको भर दे। हम (**देवानां सुमतौ स्याम**) देवोंकी सुमतिमें रहें। हे (**दर्वे**) चमस ! तू (**पूर्णा परा पत**) पूर्ण भरी हुई दूर जा और (**सुपूर्णा पुनः आपत**) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ। (**सर्वान् संभुञ्जती**) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई (**नः इषं ऊर्जं आ भर**) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है। इस वेलामें अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलवधू प्रथम सन्तान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥ ४ ॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनानेवाले- सोमरस निकालनेवाले- पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं। हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमेंसे गौका घी चू रहा है ऐसा घीसे पूर्ण भिगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्रामके सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

हे रात्री ! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे। देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे। हे चमस ! तू घीसे पूर्ण होकर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ, और बढोकी देवियोंके पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज　　॥ ८ ॥
ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे　　॥ ९ ॥
ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे　　॥ १० ॥
इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः　　॥ ११ ॥
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः　　॥ १२ ॥

अर्थ— हे (**एकाष्टके**) एकाष्टके । (**अय संवत्सरः**) यह संवत्सर (**ते पतिः**) तेरा पति होकर (**आ अगन्**) आया है । (**सा**) वह तू (**नः आयुष्मतीं प्रजां**) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (**रायः पोषेण सं सृज**) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

(**मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्**) मास, ऋतु, ऋतुसंबंधी ऋतुपतियोंको तथा (**उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे**) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (**भूतस्य पतये यजे**) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(**माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः**) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (**धात्रे, विधात्रे, समृधे**) धाता, विधाता तथा समृद्धिके लिये (**भूतस्य पतये यजे**) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(**इडया घृतवता जुह्वतः**) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (**वयं देवान् यजे**) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (**अलुभ्यतः गोमतः गृहान्**) जिसमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (**वयं उप सं विशेम**) हम प्रवेश करेंगे ॥ ११ ॥

*(**एकाष्टका तपसा तप्यमाना**) यह एक अष्टका तपसे तपती हुई (**महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान**) बडे महिमावाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही । (**तेन देवाः शत्रून् वि-असहन्त**) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया । (**दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्**) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रकट हुआ है ॥ १२ ॥*

भावार्थ— हे एकाष्टके ! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बालबच्चोंके लिये दीर्घ आयुष्य, धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञके लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके कालविभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥ १० ॥

गौके घीसे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं । हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवें सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (**इन्द्रपुत्रे**) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (**सोमपुत्रे**) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (**प्रजापतेः दुहिता असि**) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (**नः हविः प्रति गृह्णीष्व**) हमारा हवि तू स्वीकार कर (**अस्माकं कामान् पूरय**) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभावशाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १२ ॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली ! और हे सोमको जन्म देनेवाली अष्टके ! तू प्रजापतिकी दुहिता है। इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है। यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा [redacted] व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे ॥
(सू. १०, मं. १)

' पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है। ' उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापनका प्रारंभ होता है। यह वेला ' यम ' के लिये ही दूध देनेवाली गोमाता बनती है। यह यम कौन है ? यम यह है—

यम ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन)

' अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। ' ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ ' शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं। ' इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला ' यम ' कहलाता है। नियमसे चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्यके लिये यह ' समय ' कामधेनु बनता है। परन्तु अनियमसे व्यवहार करनेवालेके लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
(सू. १०, मं. १)

' यह काल हमारे लिये उत्तरोत्तरकी आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे। ' यह हरएककी इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये। परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं। इसलिये हरएककी इच्छा होते हुए भी बहुतसे मनुष्योंके लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यमनियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है। पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है। सब यह जानते हैं कि उषासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है। रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये " नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना " इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं। रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोडकर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है, उसीका

सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है।

एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं। इतने समयके आठ प्रहर होते हैं। आठ प्रहरोंका नाम ' अष्टक अथवा अष्टका ' है, एक पूरे दिनकी यह ' एकाष्टका ' है अर्थात् प्रहरोंका समय है। दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है। दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है। प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा। सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है।

अंधकारमयी रात्री।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं। रात्रीमें अन्धकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अन्धकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है—

' देव भयदायिनी अन्धकारमयी रात्रीका आनन्दसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सरकी पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं २)। इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं ३)। यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित हो गई थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है। इस रात्रीमें बड़ी महिमाएं हैं, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (मं ४)। '

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है। इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बताया है। जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वह ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशकी सूचक बताता है। सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोन है। पाठक इसी दृष्टि-कोनसे जगतकी ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें। जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है। इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये यही वेदको अभीष्ट है।

संवत्सरकी प्रतिमा।

तृतीय मंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है। संवत्सर वर्षका नाम है। वर्ष बडे आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है। प्रतिमाका अर्थ ' प्रति+मान ' है अर्थात् मापनेका साधन। दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, जिनसे ही वर्ष मापा जाता है। यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है। संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है। वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है। यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली। (सू १०, मं २)
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज। (सू १०, मं ३)
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः। (सू १०, मं ४)

' यह रात्री हमें मंगलमयी होवे। यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे। इस रात्रीमें बडे महिमा हैं। ' यह रात्रीका वर्णन निःसंदेह सत्य है। रात्री सचमुच सुमंगली है। इसी रात्रीमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएकको है। ' जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। (प्रश्न उप० १।१३) ' यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं। इससे उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती हैं। इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं हैं और इस कारण रात्री बडी उपकारक है। पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें। कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्यमें उत्पन्न होती है और उससे धैर्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण बढते हैं। इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं।

हवन।

आगे पंचम मंत्रमें पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन

है। षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि घीसे पूर्णतया भिगो कर, घी चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है। घीके अन्दर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट ही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, यह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये। षष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें ग्रामीण सब पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रमका स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है। 'आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और यह हवन करनेवालेकी तेजस्विता बढावे।'

पूर्णा दर्वे परापत, सुपूर्णा पुनरा पत।

(सू. १०, मं. ७)

'चमस पूर्ण भरकर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भरकर वापस आवे।' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय कजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। 'यज्ञ' का 'दान और आदान' इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। 'जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंसे जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना' यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है। पाठक इसका मनन करें।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समान ही है इसलिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश है—

(१) **मास**= महिना। (२) **ऋतु**= दो मासका समय। (३) **आर्तव काल**= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल। (४) **अयन**= तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम 'हायन' होता है। (५) **समाः**= तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष 'समाः' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्यावाले होते हैं। (६) **संवत्सर**= सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोंके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है। [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है।]

इस प्रकारका 'जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूं,' अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नाम ही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य 'सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना' है। यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना 'आत्म यज्ञ' करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

यज्ञका कार्य।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह '(धात्रे, विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये। मं. ९-१०)' धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुखसाधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका

नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते हैं।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञका ही वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संविशेम।

(सू १०, मं ११)

'लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे।' अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमे व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहां किसीका लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसा ही होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शत्रुनाशक इन्द्र।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमे एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है। एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है। जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं। यह वेला बडी महिमाएं अपने अन्दर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसीका पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है। (मं १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है। रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोम भी कहते हैं। ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोधप्रद है।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवे। कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे। माताएं अपने संतानोंको इस प्रकारकी शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करे।

यह इसकी महिमा जानकर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने।

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

हवन से दीर्घ आयुष्य !

(११)

(ऋषिः — ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराः । देवता — इन्द्राग्नी, आयुष्य, यक्ष्मनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (कं जीवनाय) सुखपूर्वक दीर्घ जीवनके लिये मैं (त्वा) तुमको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षयरोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुडाता हूं । (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौ वर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं ॥ २ ॥

(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्षं) सौ शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है । (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयाति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुके भी परे पहुंचावे ॥ ३ ॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद् ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्षं) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहां लाया है ॥ ४ ॥

प्र विंशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ५ ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनड्वाही व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे (प्राणापानौ!) प्राण और अपान! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहां ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे मत दूर जाओ। (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(त्वा जरायै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं। (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुंचाता हूं। (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहत) बुढापेने तुझको बांधा है। (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुए ही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको (सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सैंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ। इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं। वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं। तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है। जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवनकी बड़ी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतु-परिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है—

औषधियोंके यज्ञ ।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते॥

(गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९)

'ये औषधियोंके महायज्ञ हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां होती हैं।'

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें भी हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है यह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूर करना।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि।

(सू. ११, मं. १)

तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तम्।

(सू. ११, मं. १)

एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम।

हवनका परिणाम यहांतक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, 'यदि यह रोगी इरीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।' (मं. २)

शतायु करनेवाला हवन।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही 'शतायु हवि' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है। इस 'शतायु हवि' के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं। इससे-

नयाति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।

(सू. ११, मं. ३)

'सब दुरितको दूर किया जाता है।' दुरित नाम पापका है। यह 'दुरित' (दु-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुसकर नाना प्रकारकी पीडायें उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात्

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि— 'हे प्राण और अपान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो। तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ। तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें (मं. ५-६)।' जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही। यह हवनका परिणाम है।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि- 'हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर हो जावें' (मं. ७)। वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना।

मरणका पाश।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
(सू. ११, मं. ८)

'मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है।' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाससे छूटा नहीं होता। जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही। सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं।

'सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक बार अवश्य मरना है' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है। हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पांव रखा हुआ है। इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये। सत्य ही इस मृत्युसे बचानेवाला है।

सत्यसे सुरक्षितता।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय 'सत्य' है यह अष्टम मंत्रने बताया है—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः।
(सू. ११, मं. ८)

'बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है।' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है। वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है। सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षणकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है। सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रबल है। क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है। सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञशास्त्रमें प्रसिद्ध है। यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं। इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वसामान्य परिणाम ही यहां बताया है। हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये। वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्वपूर्ण खोजका विषय है। खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें। इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है।

गृह निर्माण।

(१०)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — शाला, वास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥
धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि) इसी स्थानपर सुदृढ शालाको बनाता हूं। वह शाला (घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) घी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी। हे (शाले) घर! (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर विचरते रहेंगे ॥ १ ॥

हे शाले! तू (अश्वावती गोमती सूनृतावती) घोडोंवाली, गौओंवाली और मधुर भाषणोंवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ) यहां ही स्थिर रह। तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती) अन्नवाली, घीवाली और दूधवाली होकर (महते सौभगाय उच्छ्रयस्व) बडे सौभाग्यके लिये ऊंची बनकर खडी रह ॥ २ ॥

हे शाले! (बृहत्-छन्दाः पूतिधान्या) बडे छतवाली और पवित्र धान्यवाली तथा (धरुणी असि) धान्यादिका भण्डार धारण करनेवाली तू है। (त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्) तेरे अंदर बछडा और बालक आ जावे। (आस्पन्दमाना धेनवः सायं आ) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आ जावें ॥ ३ ॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनोति) जानता हुआ निर्माण करे। (मरुतः उद्रा घृतेन उक्षन्तु) मरुत् गण जलसे और घीसे सींचें, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये खेतीको बढावे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥
ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥
एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥
पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥
इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ— हे **(मानस्य पत्नि)** संमानकी रक्षक, **(शरणा स्योना देवी)** अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान् ऐसी **(देवेभिः अग्रे निमिता असि)** देवों द्वारा पहले बनायी हुई है। **(तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः)** घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो **(अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः)** और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ५ ॥

हे **(वंश)** बांस ! तू **(ऋतेन स्थूणां अधिरोह)** अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और **(उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व)** उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटा दे । **(ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्)** तेरे घरोंके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें । हे शाले ! हम **(सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम)** सब वीरोंसे युक्त होकर सौ वर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, **(तरुणः आ)** तरुण पुरुष आवे, **(जगता सह वत्सः आ)** चलनेवालोंके साथ बछडा भी आवे । **(इमां परिस्रुतः कुम्भः)** इसके पास मधुररससे भरा हुआ घडा **(दध्नः कलशैः आ अगुः)** दहीके कलशोंके साथ आ जावे ॥ ७ ॥

हे **(नारि)** स्त्री ! **(एतं पूर्णं कुम्भं)** इस पूर्ण भरे घडेको तथा **(अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां)** अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको **(प्र भर)** अच्छी प्रकार भरकर ला । **(पातॄन् अमृतेन सं अङ्ग्धि)** पीनेवालोंको अमृतसे अच्छी प्रकार भर दे । **(इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षाति)** यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

(इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोगरहित जल **(प्र आभरामि)** मैं भर लाता हूं । **(अमृतेन अग्निना सह)** अमृत अग्निके साथ **(गृहान् उप प्र सीदामि)** घरोंमें आकर बैठता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमानका साधन भी है । पहले यह देवों द्वारा बनाया गया था । घासके छप्परसे भी यह बनता है । ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्पवाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

सीधे स्तंभ पर सीधे बांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधियोंको दूर किया जावे । घरोंके आश्रयसे रहनेवाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों । इसमें रहनेवाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आ जावें । बछडे और अन्य घरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥ ७ ॥

स्त्रियां [illegible] घडोंको भरकर लावें और घीके घडे भी बहुत लावें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस, भरपूर पिलावें । क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोगनाशक और आरोग्यवर्धक हो । घरमें अंगठी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (**तृणं वसाना** । म ५) झोंपडीके समान हो अथवा बडा सौध हो । घर किसी भी प्रकारका हो, परतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका 'गृह-स्थ-पन' ही नहीं सिद्ध होगा ।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ **क्षेमे** (म. १) = सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुखकारक, आरोग्यदायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो ।

२ **ध्रुवा** (म १, २) = स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है ।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे ।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक हो सके वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें । '**बृहत् छदाः** (म. ३)' अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो । घरमें सकुचित स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी सकुचित बनते जाते हैं । इस लिये अपनी शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना सभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथि आदि (**शरणा**। म. ५) आ जाय और (**स्योना** । म ५) विश्राम ले सकें ।

संमानका स्थान ।

घर गृहस्थीके लिये बडा समानका (**शाला मानस्य पत्नी** । म ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है । इष्टमित्रोंको सुख पहुचानेका वह एक बडा स्थान होता है । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्यान्य साधन इकट्ठे करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं—

१ **अश्वावती** (म २) = घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थीके पास घोडे, घोडियां हों । यह शौर्यका साधन है ।

२ **गोमती** (म २) = घरमें गौएं हों । यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं । बैलोंसे खेती होती है ।

धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (म ३) = साय कालके समय गौवें आनदसे नाचती हुई आ जावें ।

३ **पयस्वती** (म २) = घरमें बहुत दूध हो ।

४ **घृतवती** (म. २) = घरमें विपुल घी हो ।

५ **घृतं उक्षमाणा** (म १) = घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदिके लिये विपुल घी देनेवाला घर हो । घरके लोग अन्नदानमें कजूसी न करें ।

६ **ऊर्जस्वती** (म. २) = घरमें बहुत अन्न हो, खानपानके पदार्थ विपुल हों ।

७ **धरुणी** (म. ३) = जिसमें धान्यादिका बडा भडार हो, जिसमें सग्रहस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें ।

८ **पूतिधान्या** (म ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो । घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इसलिये लाया न जाय, परतु लानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं ।

९ **परिस्रुतः कुम्भ** (म ७) = मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें ।

१० **दध्नः कलशैः** (म ७) = दहीसे परिपूर्ण भरे हुए कलश घरमें हों ।

११ **घृतस्य कुम्भम्** (म ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों ।

१२ **अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः** (म. ९) = नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे ।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है । इन शब्दोंके मननसे पाठक स्वय जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धनधान्यसपन्न बनाना चाहिये । तथा—

१ **वत्सः आगमेत्** (म. ३, ७) = घरमें बछडे खेलते रहें, घरके पास बछडे नाचते रहें ।

२ कुमारः आ गमेत् (म ३,७) = घरमें और बाहर बालबच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेलकूद करते रहें।

३ तरुण आ गमेत् (म ७) = युवा तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें।

प्रसन्नताका स्थान।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बालबच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री पुरुष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्तचित्त हों। सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे। हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्र सीदामि। (सू. १२, म १)

' मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा। ' यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको ' प्रसन्नताका स्थान ' बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है। अपने प्रयत्नसे अपने घरको ' प्रसन्नताका स्थान ' बनाना है यह कार्य दूसरेपर सौंपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये। यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछता कि ' क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया ? ' पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें। घरको प्रसन्नताका स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहिये परंतु केवल इतनेसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ **सूनृतावन्तः** (म २)— घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो सच्चा उन्नतिका सत्य भाषण हो, छल, कपट, धोखा आदिके भाषण न हों।

२ **सुमनाः** (म ५)— उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धनदौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली और कपटी हुए तो उस घरको घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इसलिये पाठक— जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे— इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अग्नी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है। दूसरी बात यह है कि ' अमृत अग्नि ' (म ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासनातक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे। जिस घरमें ऐसा उपासना होता है वही घर सचमुच ' प्रसन्नताका केन्द्र ' हो सकता है। इसी प्रकारका घर—

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (सू. १२, म २)

' बड़े शुभमंगलकी प्राप्तिके लिये यह घर उठकर खड़ा होवे। अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बड़ा सौभाग्य प्राप्त करे। *जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अन्तर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बड़ा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है।*

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्दर ' भग ' अर्थात् धन कमाना भी सम्मिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि गुण भी चाहिये। *अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे।* इसलिये इस सूक्तने सावधानीकी सूचना दी है—

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (सू. १२ म ५)

' हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे। ' धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरता भी प्राप्त हो। हमारा घर वीरताके वायुमंडलसे युक्त हो—

१ **सर्ववीरा सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम।** (सू. १२, म १)

२ **शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः।** (सू. १२, म ६)

' हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होनेवाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर होकर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे। '

ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल ' वीरताका वायुमंडल ' चाहिये। भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये। घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरांगनाएं हों, ऐसे स्त्री-पुरुषोंसे जो संतान होंगे वे ' कुमार-वीर ' ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसीलिये वेदमें पुत्रका नाम ' वीर ' आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनावें।

अतिथि सत्कार।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही। इस विषयमें कहा है—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराम-मृतेन संभृताम्। इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धी-ष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ (सू. १२, मं. ८)

' गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररससे भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे। इस प्रकारका अन्नदान करना ही घरकी रक्षा करता है।'

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान खुले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दान ही घरका संरक्षण करता है। जिस घरमें अतिथि-योंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है। यहां पर्दा नहीं है। पर्देवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है। यह अतिथि सत्कारकी अवैदिक प्रथा है। अतिथिके लिये भोजन, खानपान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेदका आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है।

देवों द्वारा निर्मित घर।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

अन्तरा स्योना देवी (शाला) देवेभिर्निमिताग्रे। तृणं वसाना सुमनाः ... ...॥ (सू. १२, मं. ५)

' अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया।' दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था। यद्यपि इसपर घासका छप्पर था तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था और सुख भी होता था। इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह क्रूर विचारोंका ' राक्षसभवन ' नहीं होना चाहिये। ' देवोंका घर ' धनसे नहीं होता है प्रत्युत अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है। पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा ' देव भवन ' ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रका-शित रूपमें प्रकट करें।

देवोंकी सहायता।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्। उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु॥ (सू. १२, मं. ४)

' सूर्य, वायु, इन्द्र, बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें। मरुत् नामक वर्षाती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हो।'

घरके लिये सूर्यप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो। घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहा-यता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्यदायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये।

जल ।

(१३)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः)

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते ।
तस्मा॒दा न॒द्यो॒३ नाम॑ स्थ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रेषि॑ता॒ वरु॑णेनाच्छीभं॑ स॒मव॑ल्गत ।
तदा॑प्नोदिन्द्रो॑ वो य॒तीस्तस्मा॑दापो॒ अनु॑ ष्ठन ॥ २ ॥
अ॒प॒का॒मं स्यन्द॑माना॒ अवी॑वरत वो॒ हि क॑म् ।
इन्द्रो॑ वः श॒क्तिभि॑र्देवी॒स्तस्मा॒द्वार्नाम॑ वो हि॒तम् ॥ ३ ॥
एको॑ वो दे॒वोऽप्य॑तिष्ठ॒त् स्यन्द॑माना यथाव॒शम् ।
उदा॑निषुर्म॒हीरि॒ति॒ तस्मा॑दुद॒कमु॑च्यते ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके हनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो बडा नाद कर रही हो, (तस्मात् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम ' नदी ' हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्र ही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमनशील ऐसे तुमको ' प्राप्त ' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम ' आपः ' हुआ ॥ २ ॥

(स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिको (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि ' वारण ' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवो जैसे तुम्हारा नाम ' वारि ' रखा है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको ' उदक ' [उत्-अक] नामसे बोला जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आ जाता है तब जलका बडा नाद होता है, यह ' नाद ' होता है इसीलिये जलप्रवाहोंको ' नदी ' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥ १ ॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, ' प्राप्त ' होनेके कारण ही जलका नाम ' आपः ' (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥

जब वेगसे बहनेवाले जलप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये सुखपूर्वक बहनेके विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम ' वार् ' (वारि = निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब जलका नाम ' उदक ' (उत् अक = ऊपरकी ओर प्राण गति करना) हो गया ॥ ४ ॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥
आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥
इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ— (आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढानेवाला है। (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं। (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है। हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदय) यह तुम्हारा हृदय है। हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं। हे (शक्वरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ। (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह जल निःसंदेह कल्याणकारक है, यह निश्चयपूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है। अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं। यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

मनुष्य जलको आंखसे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है। शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है। जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको ' वारि ' (वार्, वारं) कहा जाता है।

जो जल- सूर्यकिरणों द्वारा बनी भापसे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई भापसे हो- पहले भाप बनकर फिर उस भापको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको ' उदक ' कहते हैं। (उत्) भाप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिपुः) जो ऊपरसे प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है। मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम मुख्यतया है। कृत्रिम रीतिसे शुंडायन्त्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है। यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझकर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुत: उस वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजनसे मिल सकती है।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हो गये। जल इन सबकी माता है इसीलिये जलको ' माता ' वेदमें अन्यत्र कहा है। इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी समावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें। यह जलस्नान बडा आरोग्यप्रद होता है। इत्यादि उपदेश पचम और षष्ठ मन्त्रोक्त शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं।

गोशाला।

(१४)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— नानादेवता, गोष्ठदेवता)

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

अर्थ— हे गौओ! (**वः सुषदा गोष्ठेन सं**) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (**रय्या सं**) उत्तम धनसे युक्त करते हैं और (**सु-भूत्या सं**) उत्तम रहने सहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं। (**यत् अहर्जातस्य नाम**) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (**तेन वः सं सृजामसि**) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— गौओंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता सदा रखी जाय। गौओंसे इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

सं वः सृजन्त्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु ॥ २ ॥
संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ— (अर्यमा वः सं सृजतु) अर्यमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु) जो धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे। (यत् वसु) जो धन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

(अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-बिभ्युषीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करीषिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस- दूध- का धारण करती हुई (अन्-अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ! (इह एव एतन) यहां ही आओ। और (इहो शाका इव पुष्यत) यहां शाकके समान पुष्ट होओ। (उत इह एव प्र जायध्वं) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो। (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन- प्रेम- मुझमें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिवः भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे। (शारि-शाका इव पुष्यत) शालिधान्यके समान पुष्ट होओ। (इह एव प्र जायध्वं) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो। (मया वः सं सृजामसि) मेरे साथ तुमको अमनके लिये ले आता हूं ॥ ५ ॥

हे (गावः) गौओ! (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो। (वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहां है। (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) शोभाकी वृद्धिके साथ बहुत बढ़ती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उप सदेम) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

गो संवर्धन।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक विवरण करनेका कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कही हैं उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहन, घास, दानापानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूध वाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालनका उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शालि अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पठनसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्य से धनकी प्राप्ति।

(१५)

(ऋषि — अथर्वा (पण्यकाम)। देवता — विश्वेदेवा, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक इन्द्रको प्रेरित करता हूं (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुरः-एता अस्तु) हमारा अगुवा होवे। (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर लूट करनेवाले पाशवी भावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु) वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं (ते पयसा घृतेन मा जुषन्ताम्) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि) जिससे क्रयविक्रय करके मैं धन प्राप्त कर लूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अंदर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार लुटेरे और पाशवी शक्तियां हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने-आनेके जो दिव्य मार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध ॥ ५ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्य जुहोमि) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिको क्षमा कर। (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक हम आ गये हैं। (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभदायक हो। (प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। (इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां) इस हविको जानकर सेवन करो। (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

हे देवाः! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लाभकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) कम न होवे। हे अग्ने! (हविषा सातघ्नान् देवान् निषेध) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले सिपाहियोंका निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमानेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तस्मिन् मे रुचिं) उसमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव (आ दधातु) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इसलिये मैं घी और समिधाओंसे हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मोंको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा ॥ ३ ॥

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥
वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रेमाश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (होतः वैश्वानर) याजक वैश्वानर ! (वयं नमसा त्वा उप स्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे (तिष्ठते अश्वाय इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (रायः पोषेण इषा सं मदन्तः) धन, पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ— अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं, उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी रुचि लाभ होनेतक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एक स्थानपर रखे हुए घोडेको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे ग्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को ' वणिजं इन्द्रं ' (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु। ऋ. १।६५।१) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रु. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह ' पुराना सबसे बडा बनिया ' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनको पुण्य मिलता है। इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत्के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्षपात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है। इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा। इसलिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, यह उपदेश यहां मिलता है।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्य-

स्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये ।

हवनका निर्देश मं ३ और ५ इन दो मन्त्रोंमें है । हवनका अर्थ है ' अपना समर्पण ' । अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है । इसलिये व्यापार-व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है ।

व्यापारका स्वरूप ।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आ गये हैं वे अब देखिये—

१ धनं = मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है । (मं ५, ६)
२ धन = लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (मं ५, ६)
३ वणिक् = व्यापारी, क्रयविक्रय करनेवाला । (मं. १)
४ धनदा = व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं । साहुकार । (मं. १)
५ प्रपणः = सौदा, खरीद फरोख्त । (मं ५)
६ विक्रयः = खरीदा हुआ माल बेचना । (मं ४)
७ प्रतिपणः = प्रत्येक सौदा । (मं ४)
८ फली (फलिन्) = लाभ युक्त होना । (मं ४)
९ शुनं = कल्याणकारी, लाभकारी, हितकर । (मं ४)
१० चरित्र = व्यवहार करनेके लिये हलचल करना । (मं ४)
११ उत्थितं = उठाव, चढाई । प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना । (मं. ४)
१२ भूयः (धन) = व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना । (मं ५)

प्रथम मूल धन व्यापार-व्यवहारमें लगाना चाहिये । यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये । जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका ' क्रय ' कहां करना योग्य है और उसका ' विक्रय ' कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये । किन दिनोंमें, किस देशमें खरीदी और किस स्थानपर बिक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है । इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें ' चरित ' कहा है ।

इन सब शब्दोंमें ' उत्थित ' शब्द बडा महत्त्व रखता है । उठाव, चढना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं । मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं । इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक ' वैयक्तिक उत्थान ' और दूसरा ' सामुदायिक संभूय समुत्थान ' है । एक व्यक्ति चढाईकी नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको ' संभूय समुत्थान ' कहते हैं । व्यापारमें केवल ऊपर लिखा ' चरित ' ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है । पाठक इसका उत्तम विचार करें ।

व्यापारके विरोधी ।

१ सातघ्न० = (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले । जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है । (मं ५)
२ सातघ्नः देव = लाभका नाश करनेवाला जुवेबाज, सिगारी, (दिव्- ' जुवा खेलना ') इस धातुसे यह देव शब्द बना है । व्यवहारमें हानि होनेवाली करनेवाला मनुष्य । (मं ५)
३ परिपन्थिन् = बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर आनेजानेवालोंको जो लूटते हैं । (मं १)
४ मृगः = पशु, पशुभाववाला मनुष्य । (मं. १)
५ अ-राति = कंजूस, दान न देनेवाला । (मं १)
६ कनीय (धन) = व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी । (मं ५)

है। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्यचकित हो जायगे। परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'देव' शब्दके अर्थ 'जुआरी, खेलमें समय बितानेवाला' ऐसा भी होता है। यह अर्थ 'दिव्' धातुका 'जूवा खेलना' अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले 'सातघ्न देव' समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपंथि' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि 'जो लोग कुमार्गसे आनेवाले हैं।' सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूल धन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (मा कनीयः। मं. ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती है। व्यापार करनेवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें।

दो मार्ग।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है। अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है। देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिये। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भयदायक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको '**देवयानाः पन्थानः**' (मं. २) कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लुटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले आते हैं और ले जाते हैं। जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभदायक होता है।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है। ये ही 'परिपन्थी' अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट देते हैं। इन मार्गोंपरसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करनेके लिये प्रयत्न होना आवश्यक है। वाणिज्यकी वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो वहां खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये। रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये। उचित धन देकर सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि॥ (सू. १५, मं. २)

'वे देशदेशान्तरमें आने जानेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं।' बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयं ही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार 'मार्ग ही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे' तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्त्व पूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय देवे।
(सू. १५, मं. ३)

'दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिसे ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।'

यहांका ' धी ' शब्द ' प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति ' का वाचक है। ज्ञानपूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुची स्थिर होनी चाहिये—

तस्मिन् रुचिं आ दधातु। (सू. १५, मं. ६)

' उस कार्यमें रुची स्थिर होवे ' यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसं पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। ' ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये।' क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये। जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन, पुष्टि, मख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥



प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना ।

(१६)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (**प्रातः अग्निं**) प्रातःकाल अग्निकी, (**प्रातः इन्द्रं**) प्रातःकालमें इन्द्रकी, (**प्रातः मित्रावरुणौ**) प्रातःकालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (**प्रातः अश्विनौ**) प्रातःकाल अश्विनी देवोंकी (**हवामहे**) हम स्तुति करते हैं। (**प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं**) प्रातःकाल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्‌की (**प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे**) प्रातःकाल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(**वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे**) हम प्रातःकालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भगकी प्रार्थना करते हैं, (**यः विधर्ता**) जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है। (**आध्रः चित्**) अशक्त भी और (**तुरः चित् यं**) बलवान् भी जिसको तथा (**राजा चित्**) राजा भी (**यं मन्यमानः**) जिसका सन्मान करता हुआ (' **भगं भक्षि** ' **इति आह**) ' धनका भाग मुझे दे ' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

हे (**भग**) भगवन् ! हे (**प्र-नेतः**) बडे नेता ! हे (**सत्यराधः भग**) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! (**इमां धियं ददत् नः उत् अव**) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर। हे (**भग**) भगवन् ! (**गोभिः अश्वैः नः प्रजनय**) गौओं और घोडोंके साथ सतानवृद्धि कर। हे (**भग**) भगवन् ! हम (**नृभिः नृवन्तः स्याम**) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रातःकालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, ' अपनेको भाग्यवान् ' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

हे हम सबके बडे नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर। गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी सतान वृद्धि होने दें। तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥
समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ— (उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हम इस समय भाग्यवान होवें (उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी। हे (मघवन्) भगवन्! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें। (हे भग) भगवन्! (तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (भग) भगवन्! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥ ५ ॥

(उषसः अध्वराय सं नमन्त) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें। (शुचये पदाय दधिक्रावा इव) जिस प्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है। (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ वहन्तु) घोडे और धनवाले भगवान्को मेरे पास ले आवें (अश्वा रथं इव) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः) घोडे, गौएं और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उषायें (नः सदं उच्छन्तु) हमारे घरोंको प्रकाशित करें। (घृतं दुहानाः) घीको प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्यशाली बने जांय। हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें। हे भगवन्! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन ॥ ५ ॥

उष:कालका समय अहिंसामय, अकुटिल, सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान्, भगवान् हमारे अधिक समीप होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे, गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें। और ऐसी ही उषायें पुष्टिको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्धपान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये। अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये। इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे। ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं। इसीलिये—

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ (सू. १६, मं. २)

इस समय 'निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।' क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसे ही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

१ **आध्रः** = आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ **तुरः** = त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ **राजा** = शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगत्‌में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं, तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख वे समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसा ही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका एक जैसा पालक है। यह—

यः विधर्ता। (सू. १६, मं. २)

'सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है' अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसीलिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (सू. १६, मं. २)

'(प्रातः जित) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी हो है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उष कालसे होता है, उस उषःकालके प्रारभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परंतु इसका प्रारंभमें ही विजय हुआ है, यह बात यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक।

'दिति' नाम पराधीनता या दीनताका है और 'अ दिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र = पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसीलिये यह भाग्यवान् होनेसे 'भग' कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। 'अ-दितिका पुत्र' होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भगकी हम उपासना करते हैं। (मं. १)' यह इस मन्त्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें 'भग' शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परन्तु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा—

(१) भाग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'भग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (२) ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंको उसके

विशेषण माने और उपासना करे । (६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला 'रुद्र' नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे । उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एक ही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं' इस वैदिक शैलीके अनुसार इस प्रथम मंत्रमें आये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं । इस कारण किसी गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है । मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है । इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होनेके लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

१ अग्निः = तेज, प्रकाश उष्णता, और गति करनेवाला ।
२ इन्द्रः = शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा ।
३ मित्रः = मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित करनेवाला ।
४ वरुणः = श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ ।
५ अश्विना = धन और ऋण शक्तिसे युक्त, वेगवान् । सर्वव्यापक, सर्वत्र उपस्थित ।
६ भगः = भाग्यवान् , ऐश्वर्य युक्त, धनवान् ।
७ पूषा = पोषक, पुष्टि करनेवाला ।
८ ब्रह्मणस्पतिः = ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी ।
९ सोमः = शांत, आल्हाददायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला ।
१० रुद्रः = उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रुविध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला ।

प्रथम मंत्रोक्त इन शब्दोंके ये अर्थ हैं । पाठक इन शब्दोंके मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं । जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है । इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है । यहां पाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा ।

इमां धियं ददद्भ्यः उदव । (सू. १६, मं. ३)

' इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर ' यहां प्रार्थनामें धन नहीं मांगा है, परन्तु ' बुद्धि ' मांगी है, यह ' धारणावती बुद्धि ' जो कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है । माग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है । धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्मशक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये । [illegible] धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है । जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुरुषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा ' इमां धियं ' शब्दोंमें है । प्रथम और द्वितीय मन्त्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीय मंत्रमें (इमां धियं ददत्) ' इस बुद्धिको दो ' इन शब्दोंमें मांगी है । यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है ? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मननसे मिल सकता है । मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परन्तु विशेष स्पष्टताके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना –(और उससे सिद्ध होनेवाली)– धारणा ।

मंत्रका शब्दार्थ –(और उससे उद्दीपित होनेवाला)– बुद्धिका भाव ।

प्रथम मंत्र ।

(अग्नि) तेजस्वी, परन्तु (सोम) शांत मीठे स्वभाववाले (मित्रा-वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर यथायोग्य देखनेवाले (पूषणं) पोषणकर्ता (ब्रह्मणस्पतिं) ब्रह्मज्ञानी देवको प्रार्थना से प्राप्त करना चाहते हैं ।

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परन्तु (२) शांत और मधुर स्वभाव धारण करूंगा, (३) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षपातसे यथायोग्य परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अन्दर ज्ञान बढाऊंगा ।

(अश्विनौ) वेगवान् धनरक्षण शक्तिवाले और (रुद्र) शत्रुको रुलानेवाले (भग) भाग्य युक्त (इन्द्र) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासनकर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं।

द्वितीय मंत्र।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं। इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्यका भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पुत्र) पावन-कर्ता और तारणकर्ता है।

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्धभूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा।

(२)

मैं प्रातःकालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति-पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनताकी रक्षाके लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अन्दर रक्षकशक्ति भी बढाऊंगा।

उपासनाके मन्त्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है। पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है। क्योंकि इस जीवात्मारूप ' अमृत पुत्र ' ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है।

(१) ' परमेश्वर ज्ञानी है ' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा। ' (२) ' परमेश्वर शत्रुनिवारक है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं। ' (३) इसी प्रकार ' परमेश्वर ऐश्वर्यमय है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं। ' (४) इसी रीतिसे ' परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है ' इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि ' मैं भी कुछ हुनर बनाऊं। ' इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाकी धारणासे संबंध है। यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपसे विशिष्ट विचारकी भावना जम जाती है उसका नाम ' धी ' है। पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मन्त्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानशक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है।

इमां धियं ददन् नः उत् अव। (सू. १६, मं. ३)

' इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर। '

इस तृतीय मन्त्रके उपदेशमें कितना महत्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस ढंगसे मन्त्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें।

सत्यका मार्ग।

तृतीय मन्त्रमें ' प्रणेत ' और ' सत्यराध ' ये दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं। ' प्र-नेता ' का अर्थ ' उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता ' तथा ' सत्य-राध ' का अर्थ ' सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला ' है। ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं। परमात्मा सबका उन्नतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं। ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है। मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें। मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके साथ मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें। ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही ' नृ अथवा नर ' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसलिये कहा है-

नृभिः नृवन्तः स्याम। (सू. १६, मं. ३)

' श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे। ' यहांका ' नृवान् ' शब्द ' मातृमान्, पितृमान् ' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा— (मातृमान्) प्रशसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त। नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं। चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उन चोरोंको ' नृमान् ' नहीं कहा जा सकता। अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये ' अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें ' ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है। इस प्रकार

अच्छे मनुष्योंकी साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

देवोंकी सुमति।

' हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम (भगवन्त) भाग्यवान बनते जांय। तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें। (म. ४) ' यह चतुर्थ मंत्रका कथन है। यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है। प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्यमार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहां भाग्य प्राप्त होता है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुनमें रह नहीं सकता, इसलिये भाग्यप्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (सू. १६, म. ४)

' हम देवोंकी सुमतिमें रहें। ' अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परन्तु वेदको सुमार्गपरसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये जहां गिरनेकी संभावना होता है वहां ही इस प्रकारकी सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें। पंचम मंत्रमें—

स नो भगः पुरएता भवेह। (सू. १६, म. ५)

' वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने ' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्यसे है, कि मनुष्य परमात्माका ही अपना अग्रगामी समझे और अपने आपको उसके अनुयायी समझे और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसाका मार्ग।

इस मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहां तेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घातपात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

ये ' अ-ध्वर ' शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके मार्गसे जाना और प्रथम मंत्रका ' परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना ', चतुर्थ मंत्रोक्त ' देवोंकी सुमतिमें रहना ', और तृतीय मन्त्रोक्त ' सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना ' एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशोंसे एक ही आशय बता रहे हैं। पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें ' गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर ' ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवें और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) ' घीका दोहन करनेवाली ' और (विश्वतः प्रपीता) ' सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली ' यह उषाका वर्णन सबेरेके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसीलिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और उनके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आज ही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घीको ' हैयंगवीन घृत ' कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडेपर सवार होकर भ्रमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको अपने घरकी गौका ताजा दूध पानेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सबेरेके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजकल समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

कृषिसे सुख-प्राप्ति ।

(१७)

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — सीता)

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒यौ ॥ १ ॥
यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नोत कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् ।
वि॒राजः॑ श्नु॒ष्टिः सभ॑रा असन्नो॒ नेदी॑य॒ इत्सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमा यव॑न् ॥ २ ॥
लाङ्ग॑लं प॒वीर॑वत्सु॒शीमं॑ सोम॒सत्स॑रु ।
उदिद्व॑पतु॒ गामविं॑ प्रस्था॒वद्र॑थ॒वाह॑नं॒ पीब॑रीं च प्रफ॒र्व्य॑म् ॥ ३ ॥
इन्द्रः॒ सीतां॒ नि गृ॑ह्णातु॒ तां पू॒षाभि र॑क्षतु ।
सा नः॒ पय॑स्वती दुहा॒मुत्त॑रामुत्त॒रां समा॑म् ॥ ४ ॥

अर्थ— **(देवेषु धीराः कवयः)** देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग **(सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति)** सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और **(युगा पृथक् वितन्वते)** जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, **(युगा वितनोत)** जूओंको फैलाओ, **(कृते योनौ इह बीजं वपत)** बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । **(विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्)** अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । **(सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्)** हंसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलानेके लिये सुखकारक, लकडीके मूठवाला हल **(गां अविं)** गौ और बकरी, **(प्रस्थावत् रथवाहनं)** शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, **(पीवरीं च प्रफर्व्यम्)** पुष्ट स्त्री **(इत् उद्वपतु)** निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, **(पूषा तां अभिरक्षतु)** पूषा उसकी रक्षा करे । **(सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां)** वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये की जावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे । यह हल ही गौ-बैल, भेड-बकरी, घोडा-घोडी, स्त्री-पुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उसकी उत्तम रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रति-वर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

❀

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— (सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुखपूर्वक खोदें। (कीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें। (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम्) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

(वाहाः शुनं) बैल सुखी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे। (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जाय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥ ६ ॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें। (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं। हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो। (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होवे ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंची हुई तू (नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है। भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमी अच्छी प्रकार उखाडी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जांय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे। इस प्रकार वृष्टि और सूर्यप्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा।

धान्य बोनेके पूर्व हवन।

प्रथम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है। जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है। इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाखू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाखू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा।

खादके लिये घी और शहद!!

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी, शहद और दूधका खाद वनस्पतीयोंको डालनेका उपदेश है। आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

ऐतिहासिक उदाहरण।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता!!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें। साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन लोगोंको पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध, दही, घी, शहद और मिश्री कहांसे ले आयेंगे।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसे ही कल्पना करें और मन ही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें!!

गौरक्षाका समय।

वैदिककाल गौकी रक्षाका काल था, इसलिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था। परंतु आज अनार्योंके भक्षणके लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इसलिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता। यह कालका परिवर्तन है। यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्यकाल कैसा आता है।

वनस्पति।

(१८)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अर्थ— (इमां बलवत्तमां वीरुधां ओषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं। (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि! (मे सपत्नीं परा णुद) मेरी सपत्नीको दूर कर और (मे केवलं पतिं कृधि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे सापत्न स्त्री! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी। अब मैं (परां सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नीको [illegible] करती हूं ॥ ३ ॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधे! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं। (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचसे नीच है ॥ ४ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि! (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है। (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जयशाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीत लेंगे ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जयशालिनी वनस्पतिको रखा है। अब (ते मनः मां अनु प्र धावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे। (गौः वत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछडेकी ओर दौडती है और (वाः इव पथा) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥ ६ ॥

सापत्नभावका भयंकर परिणाम।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक स्त्रियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढते हैं, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्नभावका बीज न बोवे।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करतीं हैं और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एकपत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

(१९)

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह (वीर्यं बलं संशितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥ १ ॥

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी संवर्धन करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

अर्थ— वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरें, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यान्) जो हमारे धनवान् और विद्वान पर सेनासे चढाई करें। (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं, और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

(परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अस्त्र हों (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूं ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

हे (मघवन्) धनवान् ! इनके (वाजिनानि उद्धर्षन्ताम्) बल उत्तेजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके जय शब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठाः मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त होवें। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

जिन लोगोंका मैं पुरोहित हूं उन लोगोंके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक प्रहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके बढाता हूं, इनके सैन्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों इनके विजयी वीरोंका जयजयकारका शब्द आकाशमें भर जाय। और युद्धमें विजय करनेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

प्रेता॒ जय॑ता नर उ॒ग्रा वः॑ सन्तु बा॒हवः॑ ।
ती॒क्ष्णेष॑वोऽब॒लध॑न्वनो हतो॒ग्रायु॑धा अब॒लानु॒ग्रबा॑हवः ॥ ७ ॥
अव॑सृष्टा॒ परा॑ पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑संशिते ।
जया॒मित्रा॒न्प्र प॑द्यस्व ज॒ह्ये॑षां॒ वरं॑वरं॒ मामीषां॑ मोचि॒ कश्च॒न ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (नरः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों । हे (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्राबाहवः) उग्र आयुधवाले और बलयुक्त भुजावाले ! (अ-बल-धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (अवसृष्टा परा पत) छोडा हुआ दूर जा और (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीत लो, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं जहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो; तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंद्वारा प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्णहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यजमानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है । राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जानकर उसको निभायें ।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे भी इस सूक्तका मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूक्तका आशय देखिये—

ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है । इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम् । (सू. १९, मं. १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (सू. १९, मं. ३)
उन्नयामि स्वान् अहम् । (सू. १९, मं. ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । (सू. १९, मं. ८)
जय अमित्रान्० ॥ (सू. १९, मं. ८)

' मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है । ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं । ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो । '

ये मंत्रभाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है। यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका

कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं। अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अन्दर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
(सू. १९, मं. ८)

' ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें। ' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्र अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जानकर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जायगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा।

' जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो। ' (मं. १)

' जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं। ' (मं. २)

' जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करता उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं। ' (मं. ३)

' जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं। ' (मं. ४)

' इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं। ' (मं. ५)

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवें, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वे ही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है—

' वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें। ' (मं. ६)

' वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहु प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो। ' (मं. ७)

' ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर। ' (मं. ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अन्तिम महत्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य है—

(१) जहीषां वरं वरं,

(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (मू. १९, मं. ८)

' इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे। ' ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं। शत्रुसेनाके पथकके जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये। प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीसे परास्त होगी। यह युद्धनीति अत्यंत मनन करने योग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वेधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय।

(२०)

(ऋषिः— वसिष्ठः। देवता— अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतुसे संबंधित उत्पत्तिस्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है। (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अध नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥

हे अग्ने! (इह नः अच्छ वद) यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्योंकि (त्वं नः धनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अर्यमा नः प्र यच्छतु) अर्यमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवें। (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें। (उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है। अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे प्रजाओंके पालक! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥
त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥
इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥
अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको (अवसे गीर्भिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायू) दोनों इन्द्र और वायु (सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये (इह हवामहे) यहां बुलाते हैं । (यथा नः सर्वः इत् जनः) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) बेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं । (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं । (प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवालेको निश्चयपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । (च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ । हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र-वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संघटनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

बल प्राप्त करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अंदरसे संघटित हुए हैं । सब जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीरभावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

दुह्रां मे पञ्च॑ प्रदिशो॑ दुह्रामुर्वीर्य॑थाबलम् ।
प्रापे॑यं सर्वा॒ आकू॑तीर्मन॑सा हृद॑येन च ॥ ९ ॥
गोसनिं॒ वाच॑मुदेयं॒ वर्च॑सा माभ्युदि॑हि ।
आ रु॑न्धां सर्व॒तो॑ वायुस्त्वष्टा॒ पोषं॑ दधातु मे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**उर्वीः पञ्च प्रदिशः**) ये बडी पांचों दिशाएं (**यथाबलं मे दुह्रां**) यथाशक्ति मुझे रस देवें । (**मनसा हृदयेन च**) मनसे और हृदयसे (**सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम्**) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(**गोसनिं वाचं उदेयं**) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं । (**वर्चसा मां अभ्युदिहि**) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर । (**वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्**) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । (**त्वष्टा मे पोषं दधातु**) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ— *ये बडी विस्तीर्ण पांच ही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥*

प्रसन्नताको बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा । तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर । चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगद्रचयिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है । इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि । (सू. २०, मं. १०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं। उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

'यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि (**जातः अरोचथाः** । म. १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहां वह (**रोह** । म. १) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (**गीर्भिः हवामहे** । मं ४) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (**अग्निः अग्निभिः** । मं. ५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (**ब्रह्म यज्ञं च वर्धय** । मं ५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (**जनः संगत्यां सुमनाः** । मं. ६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा (**प्रसवे सं बभूविम** । मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं । '

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । ' यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहां उत्पन्न

होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाती, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहांसे आया हू और मुझे कहा पहुंचना है' इसका विचार करना सुगम होजाता है। जहां कहां भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(**इह अच्छा वद**) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, (**प्रत्यङ् सुमनाः भव**) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे बर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (**प्रयच्छ**) दान कर, यह द्वितीय मन्त्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मन शुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है।

सबसे प्रथम (**देवीः**) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् (**सूनृता देवी**) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्यके पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर (**अर्य+मन्** = आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (**बृहस्पतिः**) ज्ञानी और (**ब्रह्मा**) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिलतक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (**राजा असत्**) राजाकी दशा में ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। (**वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविम**। मं. ८) 'बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।' संभूय-समुत्थानके विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। (**सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत्**। मं ६) 'सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।' ऐसा न करेंगे तो संघशक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (**ब्रह्म यशं च वर्धय**। मं. ५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ। संघशक्तिके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होती है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश किये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

'**वाजस्य प्रसवे सं बभूविम**' (मं ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां 'वाज' शब्दके अर्थ देखिये— 'युद्धमें जय, अन्न, बल, शक्ति, यज्ञ, धन, गति, वाणीका बल' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है— 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं, अन्न, जल, खाद्य, पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं। अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मनका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मनसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे, तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं।' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसंगमें इस अर्थका अवश्य मनन करें।

मं. ८) ' संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये । ' अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहां किया है।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि ' मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण हो जाय। (मं. ९) ' इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं ? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें। सूक्तके प्रारंभसे यहां विषय है—

' अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं. १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढाना। (मं. ५); प्राप्त धन परोपकारमें लगाना (मं. ५), सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करनेकी ओर प्रवृत्त करना। (मं. ६), सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं. ८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है। ' संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये। तब संकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय। इसके नंतर— ' सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विता-के साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है। (म. १०) '

इस दशम मंत्रमें ' **गोसनिं वाच उदेयं** ' यह वाक्य है। ' गो ' का अर्थ है- ' इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी। ' इस अर्थको लेकर- ' इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं ' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है। आगे ' तेजस्विताके साथ अभ्युदय ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह ' प्रसन्नता बढानेवाली वाणीसे बोलना ' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें। इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है। पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं। अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें। वेदकी यह एक अपूर्व शैली है।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

कामाग्निका शमन।

(२१)

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — अग्निः)

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥
यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥
य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (ये अग्नयः अप्सु अन्तः) जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, (ये वृत्रे) जो मेघमें, और (ये पुरुषे) जो पुरुषमें हैं, तथा (ये अश्मसु) शिलाओंमें हैं, (यः ओषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, (यः वयःसु, यः मृगेषु आविष्टः) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमें प्रविष्ट है, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपाद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सरथं याति) जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यः विश्वाद् देवः) जो विश्वका भक्षक देव है, (य उ कामं आहुः) जिसको 'काम' नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः) जो बुद्धिमान्, शक्तिमान्, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उनके लिये यह हवन है ॥ २ ॥

सबको अन्दर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको 'काम' कहते हैं, जो देनेवाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान, समर्थ, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥
शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (**त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः**) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियां (**यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः**) जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (**वर्चोधसे**) तेजस्वी (**सूनृतावते**) सत्य भाषी और (**यशसे**) यशस्वी तुझे और (**तेभ्यः०**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ५ ॥

(**उक्षान्नाय वशान्नाय**) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (**सोमपृष्ठाय**) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (**वेधसे**) ज्ञानीके लिये और (**वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः०**) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(**ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति**) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (**ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः**) जो दिशाओंके अदर और वायुके अंदर हैं (**तेभ्यः अग्निभ्यः**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(**हिरण्यपाणिं सवितारं**) सुवर्ण भूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आंगिरसोंकी (**हवामहे**) प्रार्थना करते हैं कि वे (**इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु**) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

(**क्रव्याद् अग्निः शान्तः**) मांसभक्षक अग्नि शान्त हुआ, (**पुरुषरेषणः शान्तः**) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (**अथ यः विश्वदाव्यः**) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (**तं क्रव्यादं अशीशमम्**) उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

भावार्थ— तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्योंकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यशस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठपर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत्, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत्को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ— (ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उत्तानशीवरी आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्याद अशीशमन्) मांसभक्षी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जलप्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांसभक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बड़ा ही मनोरञ्जक है। यह सूक्त 'बृहच्छान्तिगण' में गिना है सचमुच कामका शमन करना ही 'बृहच्छान्ति' स्थापित करना है। यह सबसे बड़ा कठिन और दुस्साध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है परंतु यह मत ठीक नहीं है। कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बड़ा मनुष्यभक्षक है। जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्र गुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे तो जान सकते हैं। इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं—

१ यो देवो विश्वाद् य उ काममाहुः । (सू. २१, मं. ४)

जो अग्निदेव सब जगत्को खानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं।

इस मंत्रभागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'काम' ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें विशेष शंका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चय दृढ करनेके लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रभाग अब देखिये—

२ क्रव्याद् अग्निः । (सू. २१, मं. ८)
मांस भक्षक अग्नि।

३ पुरुषरेषणः अग्निः । (सू. २१, मं. ९)
पुरुषका नाशक (काम) अग्नि।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सूख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सहपरिवार नष्टभ्रष्ट हो गये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें तो इन मंत्रभागोंका गंभीर अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस दृष्टिसे—

४ विश्वाद् अग्निः । (सू. २१, मं. ४५)
विश्वका भक्षक (काम) अग्नि।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामका—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(भ. गी. ३।३७)

यह काम बड़ा (महाशन) खानेवाला है। 'महाशन (महा-अशन) और विश्वाद (विश्व-अद्)' ये दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द हैं। सचमुच काम बड़ा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है इसका पेट सब जगत्को खा जानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है—

५ विश्व-दाव्य । (सू. २१, मं. १९)
सबको जलानेवाला (काम अग्नि)।

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है जब यह काम मनमें प्रबल होता है तब यह अंदरसे जलाने लगता है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है!! जिसका अन्तःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती हैं उसको न जल शांति दे सकता है, न चन्द्रमाकी अमृतपूर्ण किरणें शांति दे सकती हैं, यह तो

सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है !! इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है ? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें 'इस अग्निको कामाग्निको शान्ति करनेको कहा है!' यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं। इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है। भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतन्त्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित हो जाता है।

काम और इच्छा।

'काम' शब्द जैसा काम विकारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है। वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं। भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एक ही इच्छाशक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसा ही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामनाके रूपमें भी प्रगट होता है। परन्तु इनके अन्दर घुसकर देखा जाय तो 'मुझे चाहिये' इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछ भी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्तीके लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा। इत्यादि प्रकारकी इच्छा ही 'काम अथवा कामना' है। यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है। देखिये—

वैश्वानरः (विश्व-नेता)। (सू. ११, मं. ६)

'यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है। यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है। पदार्थ मात्रमें—कमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में— यह स्पष्ट दिखाई देती है।' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्रका कथन स्पष्ट है।

'इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद, चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं। (मं. १,२) तथा 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, द्युलोक, दिशा, वायु आदिमें भी हैं।' (मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्योंतक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियां बढनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगत्को जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थकी कामना 'गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती-पिलाती है, औषधियोंको पालना करती है।' (मं. ६)

कामकी दाहकता।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछ भी नहीं है !!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं। इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें (पृतनासु सासहिं) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है। किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इसीकी यह जीत होती है !!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामनाका ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी घांस छीनता है, ये सब कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंको अंदर ही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुर स्वरकी अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहतीं हैं। इनके

*

कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहां है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये मनुष्यके छ शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचाता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवालेको अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्मपुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय कामविकारकी ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तककी विचारशक्ति [illegible] जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीका नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है ? इसलिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाव्यः) जगतको जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ हो जाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक 'कामकी दाहकता' जानें और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण 'विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः' आये हैं और इन में इसका नाम (यं काम आहुः) 'काम' करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

'यह काम (विश्वाद्) जगत्को खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णन्) आयुष्यादि लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सबसे बढकर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दबनेवाला है।'

(मं० ४)

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विषयमें बडे सार्थ हैं ऐसा ही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरु दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओंको दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व ३।२९।७ में भी '**कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता**' कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, [illegible] इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें 'त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं' ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि (वर्चः) तेज (यशः) यश और (सूनृतं) सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसारमें मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे चले हैं मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं ? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि 'यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है।' (मं० ३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है ! 'इन्द्र' नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीर ही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥
(कठ. उ. ३।४)

' आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है और इंद्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं। ' इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके ' इन्द्रिय ' पदका अर्थ ' इन्द्रकी शक्ति ' है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी शक्तियां ही हैं, यह देखनेसे आत्मा ही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीररूपी रथमें यह ' काम ' बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है—

यः इन्द्रेण सरथं याति। (सू. २१, मं. ३)

' जो कामरूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है ' इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छा ही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

कामरूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेका ही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये—

कामशान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र—

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्॥
(सू. २१, मं. ९)

' यह मांसभक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है। ' इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्य भी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इसलिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरुषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसको शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है—

' हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करें। ' (मं० ८)

' सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांसभक्षक कामाग्निको शान्त करें। ' (मं० १०)

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करनेवाला है। ये मन्त्र उपायकथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये। इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रमपूर्वक चिन्तन अब करते हैं—

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः— जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं। इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है। शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है। उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं। इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगनेवाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहां ही दिव्य औषधियां होती हैं। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्यधिक नहीं होते, इसलिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है। इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। (मं० १०)

२ उत्तानशीवरीः आपः— जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे समशीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा आवश्यक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक हो जावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बडी सहायता होती है। इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्यमें होती है। (मं० १०)

३ पर्जन्यः— मेघ अर्थात् वृष्टिका जल इस विषयमें सहकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाश-

गंगाके जलसे स्नान करना भी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम हो जाती है। इसके अतिरिक्त शुद्धिजल पनिसे भी शरीरके अंदरके दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं० १०)

४ अग्निः— आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पडे, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभदायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इस कारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं० १०)

६ सविता— सूर्य भी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्यप्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहनशक्ति बढती है और शरीरमें अद्भुत जीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यस्नान बडा ही लाभदायक है। मंत्रमें ' हिरण्यपाणि सविता ' ये शब्द नक्ष बेतसके मूलके ही वाचक हैं, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है। (मं० ८)

७ वरुणः— वरुणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्रस्नान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इसमें जलप्रयोग भी आ सकता है। (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि ' हिरण्यपाणि सविता ' पूर्वाह्णका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभदायक है। मित्रकी प्रेमदृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत्को और प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं० ८)

९ विश्वे देवाः— अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पतिः— यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम ' गुरु ' का है। गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं० ८)

११ अङ्गिरसः— अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवनरस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योगसाधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये। (मं० ८)

१२ इन्द्रः— इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बडा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसत्कर्मोंके द्वारा अपने अन्दरके कामविकारका संयम करना चाहिये। राजाको चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्त [अथर्व. ११।५ (७) १६] में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य है। इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है। यदि राज्यमें

अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। धन्य है ऐसे वैदिक राज्यको कि जहां सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों। वैदिकधर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनसे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिकी साधनासे मन संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर हो गये।

इस प्रकार उपासकका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ 'बृहच्छान्तिगण' में किया है। सचमुच यह सूक्त बृहती शांति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शांतिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

(११)

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

ह॒स्ति॒व॒र्च॒सं प्र॑थतां बृ॒हद्यशो॒ अदि॑त्या॒ यत्त॒न्वः॑ संब॒भूव॑।
तत्सर्वे॒ सम॑दु॒र्मह्य॑मे॒तद्विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः स॒जोषाः॑ ॥ १ ॥
मि॒त्रश्च॒ वरु॑ण॒श्चेन्द्रो॑ रु॒द्रश्च॑ चेततु।
दे॒वासो॑ वि॒श्वधा॑यस॒स्ते मा॑ञ्जन्तु॒ वर्च॑सा ॥ २ ॥
येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ म॒नुष्ये॒ष्व॒प्स्व१॒॑न्तः।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न्तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा संबभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जलपर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः।
यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! (तावत् वर्चः मे आ धत्तां) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (चतस्रः प्रदिशः) जितनी दूर चारों दिशायें हैं, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं एतु) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभि षिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे बने हुएको जाननेवाले देव ! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि '(मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें।' (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढाने-वालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है। नरियल और बलवान् होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे व निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति।

(२३)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — चन्द्रमाः, योनिः, द्यावापृथिवी)

येन॑ वे॒हद्ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत्त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥
आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु पु॒मान्बाण॑ इवेषु॒धिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥

अर्थ— (येन वेहद् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामसि) वह कारण तुमसे हम दूर करते हैं। (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम ले जाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, (बाणः इषुधिं इव) जैसा बाण तूणीरमें होता है। (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भावार्थ— हे स्त्री! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मासतक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥
यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥
कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

अर्थ— (पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्र ही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमें हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

(यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनको (ऋषभाः जनयन्ति) ऋषभक वनस्पतियां उत्पन्न करती हैं, (तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व) उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर। (सा प्रसूः) वैसी प्रसूत होनेवाली तू (धेनुका भव) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूं। (गर्भः ते योनिं एतु) गर्भ तेरी योनिमें आवे। हे (नारि) स्त्री ! (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्रको प्राप्त कर। (यः तुभ्यं शं असत्) जो तेरे लिये कल्याणकारी होवे और (च त्वं उ तस्मै शं भव) तू निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(यासां वीरुधां) जिन औषधियोंकी (द्यौः पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथ्वी माता है, और (समुद्रः मूलं) समुद्र मूल (बभूव) हुआ है। (ताः दैवीः ओषधयः) वे दिव्य औषधियां (त्वां पुत्रविद्याय) तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (प्र अवन्तु) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ— पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर। और उत्तम वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

*प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुम्हारा करता हूं, उससे तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र संत-*नको उत्पन्न कर। यह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका पालन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रमें उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगी ॥ ६ ॥

बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके बढोंका आरोग्य बढानेवाली हैं । इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय वंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं ।

याजक धर्मभावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञशेष आहुतिरूप स्त्रीको पिलावे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे- ' हे स्त्री ! तेरे अंदर जो वंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है, अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होगा, वहां वह और बालक दस मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी । ' (मं० १-३)

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिये हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अचल निश्चयसे स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है । ' **शिव संकल्पसे चिकित्सा** ' करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूक्त अथर्ववेदमें अनेक हैं ।

इस सूक्तमें ' ओषधयः ' शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियां आती हैं । सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(२४)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः । अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो-अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ओषधयः पयस्वतीः) औषधियां रसवाली हैं, और (मामकं वचः पयस्वत्) मेरा वचन भी सारवाला है । (अथो) इसलिये (पयस्वतीनां सहस्रशः) रसवाली औषधियोंका हजारहां प्रकारसे (अहं आ भरे) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

(पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद) मैं जानता हूं । (यः यः अयज्वनः गृहे) जो कुछ अयाजकके घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पांच जातियां हैं वे (इह स्फातिं समावहन्) यहां वृद्धिको प्राप्त करें (इव) जिस प्रकार (वृष्टे नदीः शापं) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं । इसलिये उस दयावान् ईश्वरका मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) सैंकडों और हजारों धाराओंवाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौ हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आओ । हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथोंवाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैला दे, दान कर । और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्यकी (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियोंकी चार होती हैं । (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशामसि) उससे तुमको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समूहः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । (तौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहुं अक्षितं भूमानं आ वहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय हो जावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और समूहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं । समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें । समृद्धिकी प्राप्तिके लिये पहिला नियम ' मीठी वाणी ' है—

पयस्वान् मामकं वचः । (सू. २४, मं. १)

' दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो, ' भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठापन, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे। समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यकता है । आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है। इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, ' दसतांडे कृषिकी वृद्धि करना। '—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः । (सू. २४, मं. १)

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु । (सू. २४, मं. २)

' रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं । ' अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्यसंग्रह बढाना समृद्धि

होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकठ्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् 'सामुदायिक उपासना करना' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है—

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ (सू २४, म २)

'जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।' परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपादृष्टि सर्वोपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा हीं, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मन्त्रमें '**हवामहे**' यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।' (म ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति नि संदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मन्त्रमें 'हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह' अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इसलिये पञ्चम मन्त्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर।
(सू २४, म. ५)

'सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो।' यह उपदेश हरएक मनुष्यको अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह।
(सू २४, म ५)

'इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहां उन्नति करो।' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है। '(**कार्यस्य स्फातिं समावह**)' ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजा रक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करें, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निषाद अपने जो वनरक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। '**उपोहः**' और '**समूहः**' इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ **उपोहः**– (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ **समूहः**– समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहिली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संगृहित द्रव्योंको वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष-वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

षष्ठम मन्त्रमें '**उपोहः** (संग्रह) और **समूहः** (समूहोंमें वर्गीकरण करना)' ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके कही

है। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं, इस विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन ही स्पष्ट है—

तौ इह स्फातिं आ वहताम्।
अक्षितं बहुं भूमानम् ॥ (सू. २४, मं. ७)

'वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये] दोनों इस संसारमें (स्फातिं) समृद्धिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।'

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

काम का बाण।

(२५)

(ऋषिः — भृगुः। देवता — मित्रावरुणौ, कामेषुः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्। तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता। प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ— (उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (स्वे शयने मा धृथाः) अपने शयनमें मत ठहर। (कामस्य या भीमा इषुः) कामका जो भयानक बाण है (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ १ ॥

(आधी-पर्णां) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (काम-शल्यां) कामेच्छा रूपी बाणका अग्रभाग जहां लगाया है, (संकल्प-कुल्मलां) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (तां) उस (इषुं) बाणको (सुसंनतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विध्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

(कामस्य सुसंनता) कामका ठीक प्रकार चलाया हुआ (प्राचीन-पक्षा वि-ओषा) पीछे पंखवाला और विशेष जलानेवाला (या इषुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ ३ ॥

शुचा विद्धा व्योपया शुष्कास्याभि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥
व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (व्योपया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्धा) विधी हुई तू (शुष्कास्या) मुखको सुखानेवाली (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ। और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) क्रोधरहित, (प्रियवादिनी) मीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करनेवाली, (केवली) केवल मेरी इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा आ-अजन्या) तुझको वेगसे (परि मातुः अथो पितुः) माता और पिताके पाससे (आ अजामि) लाता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये (हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो। (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसको कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृणुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहां रह ॥ ५ ॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥ ६ ॥

विरुद्ध परिणामी अलंकार।

' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है। ' विरुद्ध परिणाम ' जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको ' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' कहते हैं। इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) ' हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ। ' इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराबका दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है।

(२) ' जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो। ' इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुननेवालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जांय तो इनका सुपरिणाम ही होता है। अब इस सूक्तका कथन देखिये—

" हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको ' मानसिक व्यथा ' ये सुन्दर पद लगे हैं, इसमें जो लेदेका अप्रमाण है वह ' मानसिक विचार ' का शस्त्र ही

है, मनके ' कुसङ्कल्पों ' की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा ' जलानेवाला ' है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है,' तीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं, इससे तू विद्ध हो जाओ। '

इसमें यद्यपि ' कामके बाणसे विद्ध हो जाओ ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर ' इस कामके बाणसे अपना बचाव करले ' की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो ' कामके बाण ' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये—

कामके बाण।

१ उत्तुदः = व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं. १)

२ भीमा इषुः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण। (मं. १)

३ आधी-पर्णा = इस बाणको मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं। (मं. २)

४ काम-शल्या = स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहां कामविकार है। (मं. २)

५ सङ्कल्प-कुल्मला = मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं. २)

६ प्राचीन-पक्षा = इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे आता है। (मं. ३)

७ शुचा (शुच्) = शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं. ४)

८ व्योषा (वि-ओषा) = विशेष रीतिसे जलानेवाला। (मं. ३-४)

९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करनेवाला। (मं. ४)

१० प्लीहानं शोषयति = प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्तकी वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्वपूर्ण अवयवका नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है। (मं. ३)

११ हृदि विध्यति = इसका वध हृदयमें होता है, इससे हृदय क्षीण होता जाता है, हृदरोगकी उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं. १-२)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है। ' हे स्त्री ! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं। ' ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि ' हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं। '

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामव्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि ' हे प्राणनाथ ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूजिये। ' जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकताका ज्ञान होनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतना ही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें यही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। ' यह धर्मपत्नी अपने मातापिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है। ' (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य॥ तै. ब्रा. २।२।५।६

कामः पशुः॥ प्राणाग्नि उ. ४

' समुद्रके समान काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसा ही कामका भी अन्त नहीं होता है। ' तथा ' काम ही पशु है। '

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके दुराचरण पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अन्दर बढाते हैं, वे मानो पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं। जिनके अन्दर यह पशुभाव

बढा हो, उनको ' मनुष्य ' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मनन-शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तारुण्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये। धर्मपत्नी दूसरे घरसे लायी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता-पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि तारुण्यावस्थाके शारीरधर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें।

शमदम, ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है, परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडनेका बडा त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है। पतिको भी अचल ब्रह्मचर्य को छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उसका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इसलिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्तको अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं। इस वर्णनको सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस रजोगुणके लिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामको शमन करनेकी ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है।

परन्तु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ जायेंगे, और अन्तमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इसलिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है। साथ ही साथ कामकी भयानक विघातकताका ही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वारा भी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसीलिये छठे मंत्रमें मित्रावरुण देवताओंकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवो ! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे। ' (मं. ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिको उचित है कि वह अपनी धर्म-पत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं—

धर्मपत्नीके गुण।

१ मृदुः = नरम स्वभाववाली, शांत स्वभाववाली। (मं. ४)

२ निमन्युः = क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं. ४)

३ प्रियवादिनी = मधुर भाषण करनेवाली। (मं. ४)

४ अनुव्रता = पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली। (मं. ४)

५ (मम) वशे = पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली। (मं. ५)

६ केवली = केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली। (मं. ४)

७ (मम) चित्तं उपायसि = पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली। (मं. ५)

८ अक्रतुः = पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली। (मं. ६)

९ (मम) क्रतौ असः = पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली। (मं. ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यस्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें।

गृहस्थधर्म।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि 'हे स्त्री! मैं तेरे हृदयको ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूं।' पति जानता है कि यह कामका बाण बडा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बडा हानिकारक है। धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है। तथापि दोनों 'गृहस्थी धर्म' से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं। अतः दोनों गृहस्थधर्मसे संबद्ध होते हैं। धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती हैं।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्वपूर्ण उपदेश जानें। इस पंचम अनुवाकमें पांच सूक्त हैं। २१ वें सूक्तमें 'कामाग्निका शमन,' २२ वें सूक्तमें 'वर्चस्की प्राप्ति,' २३ वें सूक्तमें 'वंध्यात्व दोष निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या,' २४ वें सूक्तमें 'समृद्धिको प्राप्त करना,' और इस २५ वें सूक्तमें 'गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थधर्मका पालन करना' ये विषय हैं। इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥



उन्नति की दिशा।

(२६)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

येॆ॒३॑ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥
येॆ॒३॑ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ काम॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥
येॆ॒३॑ऽस्यां स्थ प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि वै॑रा॒जा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
येॆ॒३॑ऽस्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
येॆ॒३॑ऽस्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इस पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) शस्त्र नामवाले देव हो, (तेषां वः) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है। (ते नः मृडत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अधिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो। (तेभ्यः वः नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इस (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्यवो नाम देवाः) रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो (तेषां वः काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इस (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

जो तुम इस (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविध्यन्तो नाम देवाः) वेध करनेवाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इस (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्पा नाम देवाः) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (ओषधीः इषवः) औषधी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

ये॒ऽ॑स्यां स्थो॒र्ध्वायां॑ दि॒श्यव॒स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॒ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒: स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (**ऊर्ध्वायां दिशि**) ऊर्ध्व दिशामें (**अवस्वन्तः नाम देवाः**) रक्षक नामवाले जो देव हो, उन तुम्हारा (**बृहस्पतिः इषवः**) ज्ञानी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और ऊर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (**हेति-शस्त्रास्त्र**) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; (**वि-राज्**) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वैधकता, लेप करनेवाले वैद्य, और उपदेशक इनकी प्रधानता है। ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

अभ्युदय की दिशा।

(२७)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

प्राची॒ दिग॒ग्निरधि॑पति॒रसि॒तो र॑क्षि॒तादि॒त्या इष॑वः ।
तेभ्यो॒ नमो॒ऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु ।
यो॒३॒॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ १ ॥

अर्थ— (**प्राची दिक्**) उदयकी दिशाका (**अग्निः अधिपतिः**) तेजस्वी स्वामी, (**अ-सितः रक्षिता**) बंधनरहित रक्षक और (**आदित्याः इषवः**) प्रकाशरूप शस्त्र हैं। (**तेभ्यः**) उन (**अधिपतिभ्यः**) तेजस्वी स्वामियोंका ही (**नमः**) मेरा नमन है। उन (**रक्षितृभ्यः नमः**) बंधनरहित संरक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है। उन (**इषुभ्यः नमः**) प्रकाशके शस्त्रोंके सामने ही हमारी नम्रता रहे। (**यः**) जो अकेला (**अस्मान्**) हम सब आस्तिकोंका (**द्वेष्टि**) द्वेष करता है और (**यं**) जिस अकेले दुष्टका (**वयं**) हम सब धार्मिक पुरुष (**द्विष्मः**) द्वेष करते हैं (**तं**) उस दुष्टको हम सब (**वः**) आप सब सज्जनोंके (**जंभे**) न्यायके जबडेमें (**दध्मः**) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशामें होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयकी दिशामें सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाको ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (**अग्निः**) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वाराही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥
उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**प्रतीची दिक्**) पश्चिम दिशाका (**वरुणः अधिपतिः**) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (**पृत्-आ-कुः रक्षिता**) स्वधर्ममें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (**अन्नं इषवः**) अन्न इषु हैं। उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है। जो सबके साथ कलह करता है इसलिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

(**उदीची दिक्**) उत्तर दिशाका (**सोमः अधिपतिः**) शांत अधिपति, (**स्व-जः रक्षिता**) स्वयंसिद्ध रक्षक और (**अशनिः इषवः**) विद्युत्‌रूप इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहां ही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वे ही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ २ ॥

भावार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत्‌को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं। विश्राम और आराम का मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नको और सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करता है इसलिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोडकर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस उच्चतर चलनेवालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इसलिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ आरंभ करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षक ही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सम्मुख खडा किया जावे। लोग ही स्वयं उसको दंड न देवें। तथा अधिपति निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य दंड देवें। समाजको उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ— (ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति, (कल्माष-कर्मोत्स-ग्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं। इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है। इ० ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्षं इषवः) अमृत जल इषु हैं। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलका ही सबको आदर करना चाहिये। इ० ॥ ६ ॥

भावार्थ— ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है। चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं। क्योंकि कर्मसे ही जगत्‌की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती। यही कारण है कि दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं। यहां औषधि वनस्पतियां दोषनिवारण द्वारा सहाय्य करती हैं। जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए। इ० ॥ ५ ॥

ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। यहां आत्मज्ञानी आप्त पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वह ही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रताका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योग्यमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूंगा और दूसरोंका मार्ग भी यथाशक्ति सुगम करूंगा। मैं सदा ही इस प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा। इ० ॥ ६ ॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

इस 'सूक्त' के छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रही हैं, ऐसा जो छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखे। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा मानो उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके सृष्टिको और देखना आवश्यक है। यह भावकी दृढ़ता परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करना चाहिए। क्योंकि " यह पूर्ण सृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदयको प्राप्त होती है। और वह पूर्ण ईश्वरी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है।' इस प्रकार

विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके केंद्रोंके संबधमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे हो करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व० ३।२७।१-६]

दिशाः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्नि	असित	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकु	अन्नम्
उदीची	सोम	स्वज	अशनि
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीव	वीरुध
ऊर्ध्वा	बृहस्पति	श्वित्र	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक वर्णनोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा स्तेषां वो अग्निरिषवः। ते नो मृडत ते नोऽधि-ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां व काम इषवः। ते नो० ॥ २ ॥
येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवा स्तेषां व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवा स्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥ ४ ॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥ ५ ॥ येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो० ॥ ६ ॥

अथर्व ३।२६।१-६

' प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। वे सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्नलिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व ३।२६।१-६]

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतय	अग्नि
दक्षिणा	अविष्यव	काम
प्रतीची	वैराजाः	आप
उदीची	प्रविध्यन्त	वात
ध्रुवा	निलिंपा	ओषधी
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पति

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें '**प्राची और ऊर्ध्वा**' के '**अग्नि और बृहस्पति**' अधिपति हैं, वे ही यहां ' इषु ' बने हैं। '**ध्रुवा**' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें ' **वीरुधः** ' हैं और यहां ' **ओषधि** ' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। '**प्रतीची**' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें ' **अन्न और आप** ' है। खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है। ' **दक्षिण** ' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें ' **पितरः और कामः** ' हैं। कामके उपभोगसे ही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। '**उदीची**' दिशाके इषु ' **वात और अशनि** ' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल ' **प्राची और ऊर्ध्वा** ' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्ववेदके तीसरे काण्डके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥

यजु ४० १०

' प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु १०।१०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोम	ऋतुः	द्राविण धन
प्राची	गायत्री	रथंतर	त्रिवृत्	वसन्त	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदश	ग्रीष्म	क्षत्र
प्रतीची	जगती	वैरूप	सप्तदश	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्ति	शाक्वररैवत	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्त शिशिर	वर्च

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें- (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विट्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम, लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। इसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्तितक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां
धेहि पाजस्यम० ॥ ८ ॥   अथर्व ४।१४

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा आत्माका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थ और फलका संबंध सिर बाहु, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्णरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्द
धानाः सचन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य
गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिश
मभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ॥
तस्मिन्वां यम पितृभिः संविदानः पक्वाय
शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥ प्रतीची दिशा
मियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्
मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥ उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्त
रावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्। पांक्तं
छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम
॥ १० ॥ ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा
पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु। सा नो देव्यदिते
विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥
अथर्व १२।३

प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्वाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (३) (प्रतीची) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान् और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए। और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे। (पांक्तं) पांच वर्णों- राष्ट्रके विभागों- का (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है। इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है। इसके लिये नमन है। यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे। हे (अ दिते देवि) हे स्वतंत्र देवि! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो।

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं। इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व १२।३।७-११)

दिशः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रय.	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथ.
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है। इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+अंच् = आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना) यह मूल अर्थ ' प्रांच् ' धातुका है, जिससे ' प्राची ' शब्द बनता है। ' प्राची दिशा ' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब लोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा— ' दक्षिन ' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, चतुर, सीधा, सच्चा है। ' दक्षिण दिशा ' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ ' सीधे रास्तेकी दिशा ' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक बार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसीकी सूचना ' (पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। ' यम ' शब्द नियमोंका सूचक, ' पितृ ' शब्द अन्नशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा ' संविदान ' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा— प्रत्यंच् अन्दर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् वापिसकी दिशा, अन्दर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। ' पूर्व दिशा ' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतोची	प्राचो
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा- (उत्-तर) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंकी उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ (अथर्व. १९।४१।१)

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (नः अग्रं कृण्वन्) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (इंद्र) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे समष्टी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिलकर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं। अस्तु। दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है। इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए। उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए—

> प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते। एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं० ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥ एतं० ॥ ६० ॥
>
> (अथर्व. १२।३)

अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है।

प्रारंभसे यहांतक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है।

> प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥
> योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥
> (अथर्व. ३।२७।१)

इस मन्त्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ काव्यकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मन्त्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिया है। एकवचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परंतु ' अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः ' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वरपर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन हैं। (वः जम्भे) ' आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है। इसमें न्यायव्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखी हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मनमाना दंड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां ' जंभ ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

' जंभ ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें ' वः जंभे ' अर्थात् ' अनेकोंका एक जबडा ' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इसलिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

समाजका एक अवयव मानता है, इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि वही ' समाजका जबडा ' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातन्त्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका- अर्थात् न्यायसभाका- भाव ' जंभ ' शब्दसे लेना यहां उचित है। यहीं अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा हो सकता है।

तं वो जंभे दध्मः ।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें- अर्थात् न्यायसभामें- (दध्मः) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका ' वः ' शब्द पूर्वोक्त ' अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः ' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक ' वः ' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये ' अधिपति ' आदि शब्दोंका बहुवचन मन्त्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका ' एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्व है।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक और (४ आ-दित्याः इषवः) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतन्त्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके गूढ अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) ' अग्नि ' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा बोधक सू० १ देखिए, उसमें प्राची दिशाका ' ब्रह्म ' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) ' अ-सित ' शब्दका अर्थ बंधन-रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। ' सि-बंधने ' इस धातुसे ' सित ' शब्द बनता है, जिसका अर्थ ' पर-स्वाधीन ' है। ' अ-सित ' अबद्ध, स्वतंत्र ।

' इषवः ' शब्दमें है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंमें द्वेष करता है और जिससे आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी दमाके आधीन करते हैं।

(५) ' इन्द्र ' - (इन् शत्रून् द्रावयिता। १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी।

(६) ' तिरश्चिराजी ' — (तिरः) बीचमेंसे, (अंच्-) जाना, (राजी-) लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता)— संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है।

(३)

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये— (१ प्रतीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उन्नतर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी, (३ स्वजः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नतिकी हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उन्नतिके लिये हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं—

(१) ' वरुणः '— वर-वृ-वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्वसंमत सर्वश्रेष्ठ।

(२) ' पृदाकुः '—(पृत्-आ-कुः)— पृत्का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलनेवाला ' पृदाकु ' होता है। कु = शब्द।

(३) ' सोमः '— शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ ' स+उमा ' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। ' सु-प्रसवैश्वर्ययोः ' इस धातुसे ' सोम ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान् ' ऐसा होता है।

(४) ' स्वजः '- (स्व+जः)- अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबनशील। स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है।

(५) ' अशनिः '— यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। ' अश् ' धातुका अर्थ ' व्यापना ' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) ' विष्णुः '– सर्व ' व्यापक ' कर्ता, उद्यमी।

(७) ' कल्माष-ग्रीवः '–' कल्मन् ' का अर्थ कर्मन् अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। ' कल्माष ' = (कल्म-ष)= कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः। कर्माष एव कल्माषः।) पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टताको प्राप्त करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला ' कल्माष-ग्रीव ' किंवा ' कर्मा-स-ग्रीव ' कहलाता है।

(८) ' बृहस्पतिः '— महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तोत्रे अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) ' श्वित्रः '— शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें।

है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मन्त्रोंमें ' इषु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्य भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मन्त्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दण्ड देनेका अधिकार इनहीको है। किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता होती है। इसलिये प्रत्येक मन्त्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं।' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है। इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है। प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मन्त्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है। इस दृष्टिसे पाठक इन मन्त्रोंका अधिक विचार करें।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान।

वैदिक दृष्टि।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्‌के पदार्थ मात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है। यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है। वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंको तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती। यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है। जो हृदय कविके हृदयके समान उच्च होते हैं वे ही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते। वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिये।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं। परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि मैंने इनका ठीक उपयोग किया, उसी प्रकार साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा ' अग्निमीळे ' का अर्थ ' मैं आगकी प्रशंसा करता हूं ' इतना ही समझता है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते है, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद-मंत्रका काव्यदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं । जैसा— ' अग्निं ईळे ' । का अर्थ ये लोग समझते है कि ' मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं । '

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्यदृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परन्तु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है । सर्वसाधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है । यही अभ्यास अत्यंत घातक है । जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा । ' जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एकत्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता । ' (यजु ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए । परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही सृष्टि है । इस दृष्टिको ' आत्मरूप दृष्टि ' कहते है ।

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विभूति ।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर '**प्राची दिक्**' शब्द आता है । इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) **प्राची=(प्र+अंच्)**= ' प्र ' का अर्थ ' आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख ' है । ' **अंच्** ' का अर्थ ' गति, पूजन ' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना ' है । तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है ।

(२) **दिक्=दिशा**=का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है ।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे ' **प्राची दिक्** ' का अर्थ- (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है । प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है ।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर सवेरे देखें । विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्व दिशाका नाम ' **प्राची दिक्** ' वेदने क्यों रखा है । विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखने जाय । पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है । दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये ।

ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिमा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है!! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुत्र है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है। सबका उदय यहांसे हो रहा है। हे मनुष्य! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो। सकता है। व्यक्तिशः और समष्टि, अर्थात् अपना और जनताका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है। पूर्व दिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व लेखमें पूर्व दिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताता हूं। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है, क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए। अभ्युदय और दक्षताका संबंध सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर विरोधका संबंध रखती हैं, इसलिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका प्रयत्न किया है। यह विरोधका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्त होना)
जन्म	मृत्यु ([illegible])
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्रवृत्ति	निवृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति

क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए— व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलन जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्रीपुरुषका मिथुन होता है, इसलिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चावीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण, भाद्रपद कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेष भाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशाको सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके बिना दिशा बोधक वैदिक मन्त्रोंके शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा। व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यम नियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परन्तु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, धन कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परन्तु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाव और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुन्दर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मन्त्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर उदीची

यहांका रक्षण होता है। बाहरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभ-मंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम्। पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥ (अथर्व १२।१)

" (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्) उत्तर दिशा सदा ही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये (नः) हम सब को (अग्रं) अग्रभागमें चढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोंमें विभक्त (पुरुषः) नागरिक जन ही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सह संभवेम) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें। "

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्तवर्ण, पेटभर कार्य करनेवाले, धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् शूद्रोंका नीलवर्ण और अवच्छूट जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उष, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पांच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है उस प्रकारका 'पांचजन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही है, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायीं बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरद् है, महिनोंमें आश्विन-कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें शूद्र या कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्चतर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस प्रकारसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ— (**एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा**) यह गौ मांस खानेवाले कृमोंके समान होकर (**पशून् सं क्षिणोति**) पशुओंका नाश करती है। (**उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्**) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (**तथा स्योना शिवा स्यात्**) जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

(**पुरुषेभ्यः शिवा भव**) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (**गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा**) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (**अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा**) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (**नः शिवा एधि**) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(**इह पुष्टिः, इह रसः**) यहां पुष्टि और यहां रस है। (**इह सहस्र-सातमा भव**) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (**यमिनी**) जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (**इह पशून् पोषय**) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(**यत्र**) जिस देशमें (**स्वायाः तन्वः रोगं विहाय**) अपने शरीरका रोग त्यागकर (**सुहार्दः सुकृतः मदन्ति**) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (**यमिनी**) गौ ! (**तं लोकं अभिसंबभूव**) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (**सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्**) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं। ये सब गौवें एक बार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं। जब यह गौ ऋतुको छोडकर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय यह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है। इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे यह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे, बैल, गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंवभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ६ ॥

अर्थ— (यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे (यमिनी) गौ (तं लोकं अभिसंवभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+ऋतुः = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बचा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ यमिनी विजायते = जुडे बचेको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग होते हैं ।

३ क्रव्याद् उपद्वरी भूत्वा = मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं । कदाचित वह गौ उक्त भागोंको खा जाती है और रोगी होती है । अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे बचेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ मर्यादि होते हैं और वहां प्रसूति-स्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है । इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दे ।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है । इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखे और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करे ।

रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं । वैसे रोगी होनेपर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत पर्ना ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥
(सू. २८, मं. २)

' उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने ' अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग, स्वस्थ और शुभ बन जावे । यहां ' ब्रह्मन् ' शब्द है, यह आयुर्वेद शास्त्र और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है । ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ।
(ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०)

' जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है । '

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । (सू. २८, मं. ५)

यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः । (सू. २८, मं. ६)

तं लोकं यमिन्यभि संबभूव ॥ (सू. २८, मं. ५-६)

' जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा । '

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालयमें विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह रुग्णालयकी वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साथ ही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये । इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है । जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभ विचार भी बडे सहायक होंगे ।

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलमें—

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय । (सू. २८, मं. ५)

' अपने शरीरसे रोग दूर करके ' पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसीलिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचारसंपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये । वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर ' घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावें । (मं ३) ' नीरोग गौका मूत्र, गोबर तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं । इसलिये उक्त आश्रममें पहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब वह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी, ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह सर्वथा योग्य है । ' गौके अन्दर पोषक पदार्थ और अमृत रस होते हैं । यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं ४) ' इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर ।

(२९)

(ऋषिः — उद्दालकः । देवता — शितिपाद् अविः, कामः, भूमिः)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियमसे चलनेवाले राजाके ये राज्य कार्यके सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादिका सोलहवां भाग विभक्त करते हैं । यह (दत्तः) दिया हुआ कर (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात्) हिंसकोंसे गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥
यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥
इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् । देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकूति-प्रः) संकल्पोंका पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तित्वका हेतु होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा संमानित (शिति-पादं अविं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है ॥ ३ ॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले अतएव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा समानित (शिति-पाद् अविं) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति) सूर्य और चन्द्रके सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्र इव) बडे जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवी इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात् न उपदस्यति) हिंसकको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और जातीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ॥
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते ॥ ७ ॥
भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

अर्थ— (कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है। (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है। (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं। हे काम ! (एतत् ते) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तेरा स्वीकार करे। (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) न अलग हो जाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ— भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है। इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है। यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है। इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तियां स्वयं सिरपर लेता है। यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है। इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥

राज्यशासन चलानेके लिये कर।

राजा राज्यका शासन करता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको 'कर' समर्पण करती है। इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें किया है। अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग।

प्रजाको जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥
(सू. २९, मं. १)

'राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं।' और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है। यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद लेकर संग्रह करें। जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग लेना है। अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा। धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा। कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी अखरा नहीं हो सकता।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतियोंमें छठा भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है। इस मंत्रमें 'विभजन्ते' क्रिया वर्तमानकालकी है। राजसभाके सभासद सबके उत्पन्न देखकर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे

खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक '**अग्नीं सभासदः विभजन्ते**' इस वाक्यसे प्राप्त होता है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आजकलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त'। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उद्योगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है। दूसरा है 'पूर्त'। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ०। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोषकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है; वह इच्छापूर्वक कामधंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल 'इष्ट' का अर्थ 'यज्ञयाग' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप, तालाब, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं। इस समय विचार करनेके सूक्तमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवा भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें 'यज्ञ और कूवे' का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यश संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिका सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये—

राजा कैसा हो।

इस सूक्तमें राजाका नाम 'यम' आ गया है। यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है। 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्मनियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहांका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः। (सू ३९, म १)

'राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।' राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलाता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाका राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्यशासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं। इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। 'यह कर निम्नलिखित बातें करता है' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अविः = (अवति इति अविः) = रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा है। (म. १, ३-५)

(२) स्वधा = (स्वस्य धारणा) = अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा शक्ति इससे बढती है। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं १)

(३) पञ्चापूपः = (पञ्च+अ+पूपः – पूयते विशीर्यते इति पूपः। न पूपः अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)— जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं। पाचजनोंको संघटित–संघटनायुक्त–करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पांचों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है। (मं. ४,५)

(४) भवत् = होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है। (मं. २)

(५) आभवत् = धन ऐश्वर्यसंपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय। (मं. २)

(६) प्रभवत् = प्रभावशाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)

(७) आकूतिप्रः = (आकूतिः) संकल्पोंको (प्र) पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अभीष्ट उन्नति होती रहती है। (मं. २)

(८) सर्वान् कामान् पूरयाति = प्रजाकी संपूर्ण वासनिक कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसी प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होतीं। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं. २)

(९) यो... ददाति स नाकं अभ्येति = जो (कर) देता है वह (नाकम् अक्षयं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं. ३)

(१०) प्रदाता पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति = कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं. ४)

(११) प्रदाता सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति = कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे (मास = चंद्रमाः) रात्रीके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्यशासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रीके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं. ५)

(१२) इरा इव न उपदस्यति = कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)

(१३) महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति = कर देनेवाली प्रजा बडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशांत रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं. ६)

(१४) सयासिनौ देवौ इव न उपदस्यति = साथ साथ रहनेवाले दो देव, प्राण और अपानवायुके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है। (मं. ६)

(१५) तस्मात् प्रमुञ्चति = उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है। (मं ३)

(१६) शिति-पाद् = (श्यति इति शितिः शितिं पातयति) 'शिति' का अर्थ है नाश, इस नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको 'शिति-पाद्' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं. १-६)

(१७) अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते = निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं ३)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध प्राप्त लें। साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं—

'(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी सघशक्ति बढानेमें, इन सबको सघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें (७) सपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकाक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन सम्प्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता सपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबन्ध सपूर्ण राज्यभरमें करने के कार्यमें करें।'

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ उसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा। यह इस सूक्तद्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये।

स्वर्ग सदृश राज्य।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नाकं अभ्येति

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे।

(सू. २९, मं. ३)

'(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुंचते हैं, (२) जहां निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।' यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है।' नर-क' का अर्थ 'हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य' है। जिस राज्यमें हीन भावनावाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही 'वैदिक राज्य' है।

कामनाका प्रभाव।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-सकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं। मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहला ही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं कः कस्मै अदात्? = यह कौन किसको देता है?

उत्तर— **कामः कामाय अदात्** = काम ही कामके लिये देता है।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = काम ही देने और लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहांतक की—

काम समुद्रं आविवेश। (सू. २९, मं ७)

'काम ही समुद्रमें घुसा है।' अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामका ही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगतका सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। 'भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है। (मं ८)' सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये—

काम! एतत् ते। (सू. २९, मं ७)

'हे काम! यह तेरा ही महाराज्य है' तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

कामकी मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका नाश कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्रभागमें कहांतकके कामका स्वीकार करना और कहांसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (सू. ३०, मं. ८)

'काम! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बना दूं।' यहांतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है। काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घातपात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयमकी मर्यादा यह है कि 'उस मर्यादातक कामका उपभोग लिया जावे कि जहां तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है।'

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है, इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करे कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शांतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसीलिये (लोकेन संमित। मं. ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहांकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करनेवाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

एकता ।

(३०)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**स-हृदयं**) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (**सां-मनस्यं**) सामनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (**अ-विद्वेषं**) परस्पर निर्वैरता (**वः कृणोमि**) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारेमेंसे (**अन्यः अन्यं अभि हर्यत**) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (**अघ्न्या जातं वत्सं इव**) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(**पुत्रः पितुः अनुव्रतः**) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (**मात्रा संमनाः भवतु**) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (**जाया पत्ये**) पत्नी पतिसे (**मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु**) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

(**भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**) भाई भाईसे द्वेष न करे, (**उत स्वसा स्वसारं मा**) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। (**सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा**) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (**भद्रया वाचं वदत**) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

(**येन देवाः न वियन्ति**) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (**च नो मिथः विद्विषते**) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (**तत् संज्ञानं ब्रह्म**) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (**वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः**) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारेमेंसे हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्यव्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें द्वेष बढ नहीं सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- (स-हृदयं) = हृदयके भावकी समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना। (मं. १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं। जो दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता। हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है—

२ सां-मनस्यं- (सं-मनः) = मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना। मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना। (मं १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं। इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाहरका सुधार।

३ अ-विद्वेषं = द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना। आपसमें झगडा न करना। (मं. १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है। द्वेष न हो। झगडा न हो। दो मनुष्य इकट्ठे आ गये तो किसी न किसीकी निन्दा करनेकी बात शुरू होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं। क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता यहां अभीष्ट है? नहीं नहीं, यहांका 'अ-विद्वेष' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है। सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मनकी शुद्धि हुई। ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा जड नहीं हो सकता। इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या।
(सू. ३०, मं. १)

'एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ प्रेम करती है।' निर्वैरताका यह उदाहरण है। अहिंसाके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है। गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसा होता है वैसा अन्योंसे तुम प्रेम करो। 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैरका अभाव' नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है। वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है 'प्रेम करना'। अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना। पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर पदभागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी। इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोंमें कहा है, उनमें प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंको अवश्य मनन करना चाहिये।

'(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे। धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥ भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा ज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं ॥ ४ ॥'

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं। जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा। पाठक इन मंत्रोंके उपदेशको अपने परिवारमें ढालनेका यत्न करें।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय वे सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलना नहीं चाहिये। अर्थात 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है। तथा 'भाई भाईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है। 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण

'प्रेमपूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं।' जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसीलिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसीलिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास।

वेदका सिद्धान्त है कि '**क्रतुमयोऽयं पुरुषः।**' अर्थात् 'यह मनुष्य कर्ममय है।' इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके- '**समनसः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्**' आदि शब्दों द्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्वपूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है। पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति।

(३१)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — पाप्महा)

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥
वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन्। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

अर्थ— (**देवाः जरसा वि अवृतन्**) देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं। (**अग्ने! त्वं अरात्या वि**) हे अग्ने! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (**अहं सर्वेण पाप्मना वि**) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (**यक्ष्मेण वि**) रोगसे भी दूर रहूं। और (**आयुषा सं**) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(**पवमानः आर्त्या वि**) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (**शक्रः पापकृत्यया वि**) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

जैसे (**ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि**) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (**आपः तृष्णया वि असरन्**) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको प्राप्त करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

ब्रीऽमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥
अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥
प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥
आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (**इमे द्यावापृथिवी वि इतः**) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (**पन्थानः दिशं दिशं वि**) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसा (**त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति**) पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री धन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (**इदं विश्वं भुवनं वि याति**) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे (**अग्निः प्राणान् सन्दधाति**) जाठर अग्नि प्राणोंका धारण करता है और (**चन्द्रः प्राणेन संहितः**) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६ ॥

जिस ढगसे (**देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं**) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको (**प्राणेन समैरयन्**) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढगसे मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

(**आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव**) दीर्घायुवाले और आयुष्य बढानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह। (**मा मृथाः**) मत मर जा। उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

(**प्राणतां प्राणेन प्राण**) जीवित रहनेवालोंके प्राणसे जीवित रह, (**इह एव भव**) यहां ही प्रभावशाली हो और (**मा मृथाः**) मत मरजा। उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

भावार्थ — जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय जामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह-नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणोंको बलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बलयुक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके तू यहां रह, छोटी आयुमें ही मत मर जा। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ— (आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्थाम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय । इसीलिये मैं सब पापों और रोगोंसे दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपनी आयुका उत्कर्ष साधन कर और उससे भी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंसे दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं ।

पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या हैं, इसका यहां विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं । और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है । अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है । अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधि निषेध उन शास्त्रोंके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका हेतु' । अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बताई जाती हैं और जो बातें उन्नतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

वैद्यशास्त्र ।	धर्मशास्त्र ।
१ मद्य पीनेसे यकृत् और पेट बिगडता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इ.	१ मद्य पीना पाप है ।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं । इ.	२ व्यभिचार पाप है ।
आरोग्यशास्त्र ।	
३ स्नान करके स्वच्छता करना, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढता है । इ	३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
समाजशास्त्र ।	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इ.	५ सत्य पुण्यकारक है ।
राजशासनशास्त्र ।	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है ।	६ चोरी, खून आदि करना पाप है ।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें। अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते हैं, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें ' पाप और पुण्य ' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्मशास्त्रके पाप-पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मन्त्रका उत्तरार्ध यह है—

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा ॥
(सू ३१, म १-११)

' मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूं। ' इस मन्त्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि— ' मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं। ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे सब रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। इस सूक्तको यही संदेश पाठकोंको देना है। यह आधा मन्त्र ग्यारह बार कहकर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है। पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रभागका महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें। पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण।

देवोंका नाम ' निर्जराः ' है, इसका अर्थ ' जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदिको दूर रखनेवाले ' है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह बतानेके लिये प्रथम मन्त्रमें—

देवाः जरसा वि-अवृतन्। (सू ३१, म. १)

' देवोंने बुढापेको दूर रखा था ' यह बात कही है। अब आगे देखिये—

अग्निका आदर्श।

अग्नि भी (अग्ने ! त्वं अराल्या वि। मं. २) कंजूसोंको दूर करता है। उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कंजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा।

'(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।'

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्राय रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छानकर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं। और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (सू ३१, म ३)

२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः। (सू. ३१, मं. ४)

'(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।' ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक-भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके वचन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि असरन्। (सू ३१, म ३)

२ पन्थानः दिशं दिशं वि। (सू ३१, म ४)

'(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।' जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावत पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हर-एकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु, नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतु युनक्ति। (सू ३१, म ५)

'पिता पुत्रीके दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ साधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकट्ठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजनापूर्वक चलायी जावें कि जो जनताकी पापप्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवी, सत्य, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दु[redacted] बढाते है। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (सू ३१, म ५)

'ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।' सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्‌के अंश बनकर अविरोधसे रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी विविध गुणधर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अवयव बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकार वे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

तृतीय काण्डकी विषयसूची।

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं१ मा रिरेच ॥ ४१ ॥
त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः क मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ! अर्थात् देव भी सब मरते थे। तब (बृहस्पति ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [अमृत अवृणीत] अमरता को प्राप्त किया, पर [प्रजायै] प्रजाके लिए [किं अपि अमृतं] कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव [यमः] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे [प्रियां तन्वं] उनकी प्यारी देह [आरिरेच] छीन लेता है अर्थात् प्रजा की मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि ! (ईडितः त्वं) स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाट्) वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि, दी गई हवियोंको [अद्धि] खा ॥ ४२ ॥

[अरुणीनां उपस्थे आसीनासः] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरों ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। [तस्य] उस दानीके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) बलसे (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] यज्ञमें [आगच्छत] आओ [सदः सदः सदत] घरघरमें स्थित होओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- देव अमर हैं और मनुष्य नश्वर हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें ॥ ४२ ॥

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो। यजुर्वेद (१९। ६३) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ तथा उसके बदलेमें संतति का प्रदान करो ॥ ४४ ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४७ ॥
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४८ ॥

अर्थ- [ते] वे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियों में [उपहूता] बुलाए गए हैं। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमन्तु] आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे [पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोमपीथं) सोमपानको यज्ञमें [अनु जहिरे] प्राप्त किया था, [तेभिः] उन [उशद्भिः] उनके साथ सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ [उशन्] पितरोंके साथ सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करता हुआ, [संरराणः] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [यमः] यम (हवींषि) हवियोंको [प्रतिकामं] इच्छानुसार [अत्तु] खावे ॥ ४६ ॥

[देवत्रा जेहमानाः] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [होत्राविदः] यज्ञोंके जाननेवाले [स्तोमतष्टासः] स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए [सत्यैः कविभिः ऋषिभिः] सत्यवचनी, क्रान्तदर्शी तथा ज्ञानी व [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि ! तू [आयाहि] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी, [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] वेगवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः] उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले [पूर्वैः परैः] पुरातन व अर्वाचीन [ऋषिभिः] ज्ञानी [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अर्वाङ्] हमारे प्रति [अग्ने] अग्नि ! तू [आयाहि] आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ- याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रथवाले अर्थात् देवोंके साथ एक [illegible] रथपर विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें हे अग्नि ! तू ले आ। अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्रसे ज्ञान पडता है ॥ ४८ ॥

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥
उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनि भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)
उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ- हे मनुष्य ! [एतां] इस [उरुव्यचसं] बडे विस्तारवाली अतएव [पृथिवीं] फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देने वाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके [उप सर्प] समीप जा। (समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका बारिकीसे अवलोकन कर, क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं । भूमिका बारिकी से अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बडा सुख होता है।) [दक्षिणावते] दान देनेवालेके लिए [ऊर्णम्रदाः] ऊनके समान नरम--कोमल [एषा पृथिवी] यह पृथिवी (त्वा) तेरी [प्रपथे] इस संसारसागरके विस्तृत मार्गमें [पुरस्तात्] आगेसे रक्षा करे। [ऋ० १०।१८।१०] ॥ ४९ ॥

[पृथिवी] हे पृथ्वी ! तू [उच्छ्वञ्चस्व] पुलकित हो। इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको [मा निबाधथाः] किसी भी प्रकार की पीडा या कष्ट मत पहुंचा। (अस्मै) इसके लिए [सूपायना] अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय या कष्टके समीप आने योग्य तथा [सूपसर्पणा] सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो। [एनं] इस पुरुषको [भूमे] हे भूमि [अभि ऊर्णुहि] चारोंतरफसे इस प्रकारसे ढांप ले [यथा] जिस प्रकारसे कि [माता] माता [सिचा पुत्रं] अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है। (ऋ० १०।१८।११) ॥ ५० ॥

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी [सु तिष्ठतु] अच्छी प्रकार स्थित होवे। और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें। (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी [गृहासः] घर तथा [विश्वाहा] सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहां पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें। (ऋ० १०।१८।१२) ॥ ५१ ॥

भावार्थ- इस अत्यन्त विस्तृत भूमिका चारों ओरसे अवलोकन करो क्योंकि यह बडा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कदमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह। तेरे पर वास करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे। वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके। तू मनुष्यको नानाविध पदार्थोंसे ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है। अथवा जैसे माता अपने वस्त्रसे बडे स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी वायु आदि कष्टोंसे बचाती है उसी प्रकार हे पृथिवी ! तू भी वैसे ही स्नेहके साथ तेरे पर निवास करनेवाले मनुष्यको नानाविध द्रव्य देकर उसको ढककर सुरक्षित रख ॥ ५० ॥

पृथिवी स्थिर बनी रहे। भूकम्प आदिसे विचलित न होवे। नानाविध पदार्थ इसका आश्रय लेकर स्थित होवें। इस पृथिवीपर वास करते हुए मनुष्यके लिए घृतादिसे पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें। किसी भी दिन किसी को घरमें कुछ कष्ट न होवे ॥ ५१ ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥
इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥
अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥
यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ५५ ॥

अर्थ- [ते] तेरे लिए [पृथिवीं] पृथ्वीको [उत् स्तभ्नामि] थामता हूं। [त्वत् परि] तेरे चारों ओर [इमं लोगं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [मो रिषम्] मत नष्ट होऊं। [तत्र] वहां अर्थात् इस निवास स्थान में [ते] तेरे लिये [एतां स्थूणां] इस नींव को [पितरः] पितृगण [धारयन्ति] धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थानकी नींव पितर रखें और [तत्र] उस नींवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] घरोंको [कृणोतु] बनावें [ऋ० १०।१८।१३] ॥ ५२ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (य पूर्णं चमसं) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) बलबलादिसे पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण किया था (तस्मिन्) उस चमसमें (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है। और (तस्मिन्) उस चमसमें (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बहता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने या, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो [अग्नि] अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोग रहित करें। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमा मा यह सर्वांगमें पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान आत्माके लिए प्रदान करता है। वह आत्मा अपने शुभ कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाती है। कर्म फल शरीरके बिना नहीं भोगे जा सकते। इसी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बहता रहता है ॥ ५४ ॥

काले अनिष्टकारी पक्षी या कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ५७ ॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व १ न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

अर्थ– (ओषधयः) औषधियां सेवन की जानेपर हमारे लिये (पयस्वतीः) सारवाली होवें । (मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वह भी (पयस्वान्) सारवाला होवे । (अपां) जलादि रसोंके (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः जो) उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुम्भतु) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वाली, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वाली (नारीः) नारियां (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजनसंबंधी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संयुक्त होवें अर्थात् घृतवाले अंजन का उपयोग करें । (अंजन का प्रयोग सधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पड़ता है ।) (अनश्रवः) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक रहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण की हुई (जनयः) संतानोत्पत्ति करनेवाली होती हुई (अग्रे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

हे मृत पुरुष ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा । (यमेन सं) यमके साथ जा । (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा । (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्याग करके अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीर-को धारण करके संसारमें विचरण कर ॥ ५८ ॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाश-मान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामनाके अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

भावार्थ– ओषधि, जल आदि सर्व पदार्थोंका जो सारभूत अंश है वह मुझे प्राप्त होवे जिससे कि मैं यथार्थ शोभायमान होऊं । ओषधी आदि सारवान् पदार्थोंका सेवन करके मनुष्यको सुन्दर बनना चाहिए ॥ ५६ ॥

सधवा स्त्रियें ओढकर सबसे पहिले [illegible] घरमें प्रवेश करें । (ऋ० १० । १८ । ७) ॥ ५७ ॥

स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष को अपने साथ ले जाने पृथिवी पर लेने आते हैं । यम [illegible] है । उसमें भले कर्म करनेवाले जाते हैं । अथवा यम [illegible] कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार [illegible] है ॥ ५८ ॥

पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्वतन्त्र होता है ॥ ५९ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वावं शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)
विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥
विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे३षामसवो यमं गुः ॥ ६२ ॥
यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए [नीहारः] कुहरा [शं भवतु] सुखकारी होवे । [ते] तेरे लिए [प्रुष्वा] वृष्टि [शं] सुखरूप हुई हुई [अवशीयताम्] नीचे गिरे । [शीतिके] हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्यगुणयुक्त औषधि ! [ह्लादिके] हे हर्षित करनेवाली तथा [ह्लादिकावति] आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली औषधि ! अप्सु जलमें जिस प्रकार [मण्डूकी] मेंडकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंडकीको शान्ति पहुंचानेवाला होता है उसी प्रकार तू (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस आगको (अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको (सुशमय) अच्छी प्रकारसे शान्त कर दे । (ऋ० १०।१६।१४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे । (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानुः) जीवनदाता व [सुदानुः] उत्तम दाता है । (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि [बहवः भवन्तु] बहुत हो जावें । अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें । और (गोमत्) गौओंवाला तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरेमें होवे । अर्थात् मैं गौघोडोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जावे । (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे । वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्थापर्यंत (रक्षतु) रक्षा करे । (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् वे मत मरें ॥ ६२ ॥

(यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितृणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मह्ना न) मानो अपनी महिमासे ही (अन्तरिक्षे) अंतरिक्षमें (दध्रे) धारण करता है, (विश्वमित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यो ! (तं) उस यमकी (हविर्भिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो । (सः यमः) वह यम (नः) हमें जीवनके दीर्घायुके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे । हमारी संतति खूब बढे व हम गौ घोडों आदिसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे, हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे, हमारे में से कोई भी वृद्धावस्था से पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम पितरोंका अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है । हे मनुष्यो ! तुम सबके मित्र हुए यमकी हवियोंसे पूजा करो, जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥
प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥
नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६६ ॥
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

अर्थ-(ऋषयः) हे मन्त्रद्रष्टा जनो ! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो । अर्थात् स्वर्गमें जाओ । [मा बिभीतन] मत डरो । हे [सोमपाः] सोमपान करनेवाले तथा [सोमपायिनः] अन्यों को सोमपान करानेवाले जनो ! [वः] तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं । [उत्तमं ज्योतिः] जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको [अगन्म] प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

(अग्निः) अग्नि [बृहता केतुना] अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झण्डोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है । और वही अग्नि [रोदसी] द्यावा पृथिवीमें [वृषभः] वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हुआ (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है । वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे [माम् उप] मेरे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उद् आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है । [महिषः] महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें [ववर्ध] बढता है । अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजली रूपमें वह अग्नि बढता रहता है ॥ ६५ ॥

(नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम परोंवाले पक्षीको जैसे सज्जन देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए [त्वा] तुझे [हिरण्यपक्षं] सोने जैसे चमकीले परोंवालेको, [सूर्यका प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है] और (वरुणस्य दूतं) वरुण जल को देवता है, उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि देनेवाले तुझको, (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अन्तरिक्षमें (यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) वर्षा प्रकाश आदिके देनेद्वारा सबके पालक तुझको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे [यथा] जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी सन्तानोंको देता है । [पुरुहूत] हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र ! (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे । अर्थात् संसार-सागर तरनेका उपाय सिखा । जिससे कि [जीवाः] हम जीवलोग [ज्योतिः अशीमहि] ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भावार्थ- ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्गको जाते हैं । सोमपान करनेवालों व दूसरोंको करानेवालोंके लिए हवि देने से उत्तम ज्योतिका लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि दूर दूरतक ज्वालाओंसे चमकता रहता है । कामनाओंकी वर्षा करनेवाला हुआ हुआ यही विद्युत् के रूपमें गर्जता रहता है । द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है । अन्तरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है । इसका अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें द्यावापृथिवी को व्याप्त किए हुए है ॥ ६५ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥
पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ ७० ॥
आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

अर्थ- [यान्] जिन [अपूपापिहितान्] मालपूओंसे ढके हुए [कुम्भान्] घडोंको [देवाः] देवोंने [ते] तेरे लिए [अधारयन्] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ते] वे घडे [ते] तेरे लिये [स्वधावन्तः] स्वधावाले, [मधुमन्तः] मधुरतायुक्त तथा [घृतश्चुतः] घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

[ते] तेरे लिए [याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः] जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको (अनुकिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूं, [ताः] वे धान [ते] तेरे लिए [विभ्वीः] नानाप्रकारवाले व [प्रभ्वीः] प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रामें [सन्तु] होवें । [ताः] उन्हें [ते] तुझे देनेके लिए [यमः राजा] यम राजा [अनुमन्यताम्] अनुमति देवे । [यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है] ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पति ! [यः एषः] जो यह [त्वयि निहितः] तेरेमें रखा है उसे [पुनः] फिर वापिस [देहि] दे [यथा] जिससे [यमस्य सादने] यमके घरमें यह [विदथा वदन्] विज्ञानोंको बोलता हुआ [आसातै] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ- [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [आरभस्व] जलाना प्रारंभ कर । [ते] तेरा [हरः] हरनेका सामर्थ्य [तेजस्वत् अस्तु] तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होवे, जलानेमें देर न लगे । [अस्य] इस मृतका [शरीरं संदह] शरीर अच्छी तरह जला डाल । (अथ) जलानेके बाद [एनं] इसकी आत्माको [सुकृतां लोके] श्रेष्ठजनोंके लोकमें (धेहि) धारण कर अर्थात् वहांपर पहुंचा ॥ ७१ ॥

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए [शतधारा व्युन्दती] सैकडों धाराओं वाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] जलकी कुल्या- छुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

भावार्थ— यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसे कर्म वह यहां करें ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमलोकमें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंको अपने [illegible] करनेके लिए मधुर जल का पाना उपलब्ध किया जावे ॥ ७२ ॥

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥

[४]

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ १ ॥
देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ-[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। [इह] यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव [बृहत् उदीदयन्ते] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं– अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनको तू खिन्न मत कर। [मध्यतः अभिप्रेहि] उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। [पितृणां लोकं] पितरोंके लोकका [मा अपहास्थाः] त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। [यः] जोकि पितृलोक (अत्र) यहां [प्रथमः] मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[४]

(जातवेदसः) हे अग्नियो! तुम [जनित्रीं आरोहत] अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो। मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयानमार्गोंसे [सं आरोहयामि] अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रेरित हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अवाट्] वहन करता है। हे अग्नियो! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें [धत्त] धारण करो अर्थात् उसे ले जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि छह ऋतुएं [यज्ञं] यज्ञ अर्थात् दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं-करते हैं। और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बनाते हैं (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य! तू (याहि) गमन कर अर्थात् तूभी उनकी तरह नित्यप्रति यज्ञको यथाविधि कर। (यैः) जिन देवयानमार्गोंसे (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोग (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मृतात्मा पितृलोकको पहुंचे और वहां वह आनन्दसे रहे ॥ ७३ ॥

[४]

यज्ञ करनेवालोंको अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है। अतः पुरुषोंके लोकमें जानेके लिए यज्ञ करना चाहिए है ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नाना विध यज्ञ सभी नैत्यक करके यज्ञ करते हैं। उनका अनुकरण करनेवाले लोग स्वर्गको प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि इसलोक यज्ञ करना चाहिये जिससे कि स्वर्गलोकमें उत्पत्ति हो सके ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३॥
त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥
जुहूर्दाधार द्यामुपभृदुन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥ ५ ॥
ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः
प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु अनुपश्य) अच्छी तरहसे जान । और (येन) जिस यज्ञ संबन्धी मार्गसे (सुकृतः अङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन मार्गों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र) जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि (आदित्याः) अखण्डनीय सामर्थ्य-वाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व) विश्रान्ति ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य मायू) मेघके सबन्धसे शब्द करनेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गके ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं। ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुह्राम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहू.) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृतने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीकी ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक [यजमानाय] यज्ञकर्ताके लिए [कामं कामं] प्रत्येक कामनाको [दुह्राम्] पूर्ण करें ॥ ५ ॥

[ध्रुवे] हे ध्रुवा ! [विश्वभोजसं पृथिवीं] सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर [यजमानेन साकं] यजमान के साथ [आरोह] चढ, स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत् ! तू यजमानके साथ (अंतरिक्षं आक्रमस्व) अंतरिक्षमें संचार कर। (जुहु) हे जुहु ! तू (यजमानेन साकं) यजमानके साथ [द्यां गच्छ] द्युलोकको जा । हे यजमान ! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन स्रुवेण) बछडेरूपी स्रुवासे (सर्वाः) सब [प्रपीनाः] अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई [दिशः] दिशाओंको [धुक्ष्व] दो । अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ-- शुभकर्म करनेसे उन्नति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥
तीनों देवी शक्तियां यज्ञकर्ताको अन्न, बल और आनन्द देती है ॥ ४ ॥
स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥
यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अव्याहत गतिसे जाता है। यज्ञद्वारा सब दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥
आङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥
पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने
परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥
यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

अर्थ- [यज्ञकृतः] यज्ञों के करनेवाले [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [येन यन्ति] जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [तीर्थैः] तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा [प्रवतः महीः] बडी बडी आपत्तियां भी [तरन्ति] तर जाते हैं। [यत्] यदा [दिशः] दिशायें तथा [भूतानि भूतोंको अर्थात् प्राणियों को [अकल्पयन्त] निर्माण करते हैं उस समय [यजमानाय] यजमान के लिए [लोकं अदधुः] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[आङ्गिरसां] आङ्गिरसोंका [अयनं] मार्ग [पूर्वः अग्निः] पूर्वका अग्नि है। [आदित्यानां] आदित्योंका [अयनं] मार्ग [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है। [दक्षिणानां] कार्यमें दक्षोंका [अयनं] मार्ग [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि है। [ब्रह्मणा] वेदमंत्रों द्वारा [विहितस्य] यज्ञमें स्थापित की गई अग्निकी [महिमानं] महिमाको, [समङ्गः] दृढ अंगोंवाला होकर, [सर्वः] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसीलिए [शग्मः] सुखी हुआ हुआ तू [उपयाहि] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[पूर्वः अग्निः] पूर्व की अग्नि [त्वा] तुझे [पुरस्तात्] आगेसे [शं तपतु] सुखपूर्वक तपावे। [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि [पश्चात्] पीछेसे [शं तपतु] तुझे सुखपूर्वक तपावे। [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि [ते] तेरे लिए [शर्म] सुखरूप हुई हुई व [वर्म] कवचरूप हुई हुई तुझे [तपतु] तपावे। [अग्ने] हे अग्नि ! तू हमें [उत्तरतः] उत्तर दिशासे [मध्यतः] दिशाओंके बीचसे [अन्तरिक्षात्] अंतरिक्षसे [दिशः दिशः] प्रत्येक दिशासे आनेवाले [घोरात्] क्रूर— हिंसकसे [परिपाहि] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

(अग्ने = अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो ! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठसे ले जानेवाले घोडों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोक की ओर (वहाथ) ले जाओ। (यत्र) जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवोंके साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए तृप्त होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवाले पुरुष लोकमें जिस उत्तम मार्गसे जाते हैं उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बडी बडी विपत्तियां भी तरी जा सकती हैं। यज्ञ करनेवाले को गृहनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ करनेवाले को कभी भी कष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अयन अर्थात् मार्ग के अनुसार अपना आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अग्निसे प्रार्थना की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर। सब ओर शत्रुओंसे हमारा पालन कर ॥ ९ ॥

यज्ञकर्ता को अग्नियां घोडों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती हैं जहां कि स्वर्गमें वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं। अतः सबको प्रयत्नपूर्वक यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥
शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥
यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा । (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तथा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा । (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि ! तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् एवाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है । तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ जनों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहांपर इसे पहुंचा दे ॥ ११ ॥

(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान, (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले [मेध्यं] पवित्र इस यजमानको [शं] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [आरभन्तां] प्रस्तुत बनावें । ([illegible]) यहां पर यज्ञ कार्यमें वे अग्नियाँ यजमान को [शृतं कृण्वन्तः] पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें । उसे इस कार्यसे [मा] मत [अव चिक्षिपन्] गिरने देवें ॥ १२ ॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ [कल्पमानः] समर्थ हुआ हुआ [ईजानं] यज्ञ किए हुए को [स्वर्गं लोकं] स्वर्ग लोक को [अभि एति] पहुंचाता है । [तं] उस [सर्वहुतं] जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको [अग्नयः] अग्नियां [जुषन्तां] संतुष्ट करें । शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ॥ १३ ॥

[नाकस्य पृष्ठात्] स्वर्ग के ऊपरसे [दिवं उत्पतिष्यन्] द्युको जानेकी इच्छा करता हुआ [ईजानः] यज्ञ किया हुआ पुरुष [चितं अग्निं] चयन की हुई अग्नि को [आरुक्षत्] प्रकट करता है, प्रज्वलित करता है । [तस्मै सुकृते] उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए [नभसः] आकाशका [ज्योतिषीमान्] प्रकाशवाला [देवयानः] देव जिससे जाते हैं ऐसा [स्वर्गः] सुखदायी [पन्थाः] मार्ग [प्रभाति] प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ-अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करती है । वस्तुतः वह एकही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों में स्थापना की जाती है । यज्ञकर्ताको वह स्वर्गमें पहुंचाती है ॥ ११ ॥

यज्ञादि कार्यों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाला बनाती हैं । वह अपने कार्य में पूर्णता बनाता है क्योंकि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती हैं ॥ १२ ॥

विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है । अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती ॥ १३ ॥

स्वर्गसे द्युको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए। और जो चयन करता है वह जो यत्न करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ॥ १४ ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु।
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥
अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥
अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अर्थ— [हे] तेरा [अग्निः होता] अग्नि होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला [अस्तु] होवे। [बृहस्पतिः] बड़ों बड़ों का पालक तेरा [अध्वर्युः] यज्ञ करानेवाला होवे। और [इन्द्रः] इन्द्र [ब्रह्मा] ब्रह्मा बनकर [ते दक्षिणतः अस्तु] तेरी दाहिनी ओरमें होवे। [अयं] यह [हुतः] आहुति दिया गया और [संस्थितः] अच्छी तरह किया गया [यज्ञः] यज्ञ [एति] वहां जाता है [यत्र] जहां कि [पूर्वं] पहिले [हुतानां] आहुति दिए गए यज्ञोंका [अयनं] जाना होता है ॥ १५ ॥

[अपूपवान्] मालपूए आदि गेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [क्षीरवान्] दूधवाला [चरुः] यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक [इह] यहां यज्ञमें [आसीदतु] स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंको हम (यजामहे) उत्तम उपयोग करते हुए पूजा करते हैं— सत्कार करते हैं। (ये) जो कि लोककृत् व पथिकृत् तुम (इह) यहांपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (दधिवान्) दहीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) अन्न पुष्ट करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १८ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १९ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥
अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥
अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे पकाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देखो अथर्व १८।३।६८-६९ ये दो मंत्र पीछे आचुके हैं) ॥ २५—२६ ॥

(भूयसीम्) बहुत और (अक्षितिं) अपरिमित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भावार्थ— हमें अक्षय आर्थिक साधन प्राप्त हों ॥ २७ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥
कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥ (२२)
एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

अर्थ- (द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं द्यां अनु) द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) हर्षप्रद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होतागणों द्वारा सब दिशाओंमें (जुहोमि) हवि प्रदान करता हूं ॥ २८ ॥

(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले- मनुष्योंके स्वभाव आदिको जाननेवाले बुद्धिमान मनुष्य (शतधारं) सैकडों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान्, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य [सप्तमातरं दक्षिणां] सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को [दुहते] दोहते हैं- प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[स्वस्तये] कल्याणके लिए [चतुर्बिलं] चाररत्नरूपी छिद्र (स्तन) वाले [कोशं] मानो जो दूधका खजाना है ऐसे [कलशं] घडेसे बडे भारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठे दूधवाली [इडां धेनुं] इडा नामवाली गायको [दुहन्ति] दोहते हैं। [अग्ने] हे अग्नि ! [जनेषु ऊर्जं मदन्ती] जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तृप्त करती हुई [अदितिं] मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमन्) विश्वमें [मा हिंसीः] मत मार। अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें भी लग सकता है—कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार स्तनोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली [इडां धेनुं] भूमिरूपी गायको दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुष ! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए [एतत् वासः] यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें (चर) विचरण कर ॥ ३१ ॥

भावार्थ— आदित्य, द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनोंमें व्याप्त हो रहा है। ऐसे हर्षप्रद आदित्यके लिए सब दिशाओंमें होम करता हूं ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा प्राप्त कर इहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

अन्न दिये जन-समाजको तृप्ति करती हुई अवध्यनीय भूमि को हे अग्नि ! परम व्योममें मत नष्ट कर ॥ ३० ॥

मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है उसको वस्त्र देना चाहिये ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥
एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥
एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥
वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

अर्थ- यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धानाः) धान [धेनुः] तृप्त करनेवाली गौ (अभवद्) बनते हैं। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा [तिलः] तिल [अभवद्] बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह [तां] उस धानों की बनी हुई गाय पर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

[असौ] हे अमुक नामवाले पुरुष ! [एताः] ये गायें [ते] तेरे लिए [कामदुघाः] कामनाओंको पूर्ण करनेवाली [भवन्तु] होवें। (एनीः) संध्या जैसे रंगवाली अर्थात् लाल रंगवाली, [श्येनीः] सफेद, [सरूपाः] एकसे रूपवाली व [विरूपाः] विविध रूपवाली तथा [तिलवत्साः] तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें [अत्र] यहां जहां तेरा वास है वहां [त्वा उप तिष्ठन्तु] तेरे समीप स्थित रहें वा तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[अस्य ते] इस तेरे [हरिणीः धानाः] हरे रंगवाले धान [एनीः श्येनीः धेनवः] अरुण व सफेद गायें होवें। [कृष्णाः धानाः] काले धान [रोहिणीः धेनवः) लाल रंगकी गायें होवें। (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभी भी नष्ट न होती हुई (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा [ऊर्जं दुहानाः सन्तु] बलदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

[वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि] वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि [शतधारं साहस्रं उत्सं इव] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। [सः] वह वैश्वानर अग्नि [पिन्वमानः] उस हविसे तृप्त हुई हुई [पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं- का धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ- धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष ! ये नाना रंगों व रूपोंवाली गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं। और काले धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ काले रंगके हो गए हैं ऐसे धान लाल गायें बनते हैं। ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें ॥ ३४ ॥

अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

सुहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्युच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥
इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् संजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥
इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः । इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥
पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥
आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ॥ ४० ॥(२३)

अर्थ— [शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकड़ों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनपस्फुरन्तं कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[इदं कसाम्बु] इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकरके [चितं] ढेर लगाया है– इकट्ठा किया है । [तत्] उसको [संजाताः] हे सजातीय बन्धुगण ! [एत] आओ और [अवपश्यत] ध्यानसे देखो । [अयं मर्त्यः] यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [अमृतत्वं] अमरताको [एति] प्राप्त होता है । [तस्मै] उसके लिए [यावत् सबन्धु] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब [गृहान् कृणुत] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू [इह एव एधि] यहीं पर ही वृद्धि प्राप्त कर । [इह] यहांपर [चित्तः] ज्ञानवान हुआ हुआ [इह] यहांपर [क्रतुः] कर्मशील हुआ हुआ व [धनसनिः] हमें धन देनेवाला हो । [इह] यहां पर ही [वीर्यवत्तरः] अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव [अपराहतः] शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ (वयोधाः] अन्नका धारण करनेवाला, व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर [एधि] बढ ॥ ३८ ॥

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं । [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपः] ये दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्रपौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ॥ ३९ ॥

(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो । (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें । (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

भावार्थ– पितृगण स्वधाके साथ हवि पाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो ! आकर देखो । यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु- संचय किया गया है वह अमृत को प्राप्त होवे । उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन- प्रदान करता हुआ संसार- वृद्धिको प्राप्त कर । बलवान् हुआ हुआ रिपुओंसे पराजित न होकर अन्नपान को अर्पितसे पुष्ट करके दीर्घायु होकर उत्कर्ष लाभ कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥
यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥
इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रिय) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरों को (वेद) जानती है ॥ ४१ ॥

(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे- विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवें ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है । (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी में (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, [जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों ओर पार्श्वोंमें जुते हुए, होते हैं] (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें [वहन्ति] प्राप्त करावें ॥ ४४ ॥

[देवयन्तः] देव होने की कामना करते हुए मनुष्य [सरस्वतीं] सरस्वतीको [हवन्ते] बुलाते हैं। [तायमाने] विस्तृत [अध्वरे] हिंसारहित यज्ञादि कार्य में बुलाते हैं। [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। [सरस्वती] सरस्वती [दाशुषे] दानी पुरुषके लिए [वार्यं] वरणीय अभिलषित पदार्थ [दात्] देती है ॥४५॥

भावार्थ- ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको दोहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व स्त्रियोंको पुष्ट करें ॥ ३९ ॥ जल अग्निको पितरोंके पास ले जाएं जिससे कि अग्निमें होम हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥४०॥

छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं [चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों] उन्हें अग्नि जानती है। अतः यह पितरों को हवि पहुंचाए और इसलिए वही पहुंचा सकती है ॥ ४१ ॥

चावल और मीठा दान करना योग्य है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

प्रेतको श्मशान में बैलगाडीसे ले जाना योग्य है ॥ ४४ ॥

देवत्वकी कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्योंकि सरस्वती दानीको वांछित फल प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥
आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

अर्थ- [दक्षिणा] दक्षिणा दिशासे आकर [यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं । वे तुम [अस्मिन् बर्हिषि] इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] आनन्दित होओ। [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती ! तू [आधेहि] दे ॥ ४६ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी ! [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः] मदन्ती पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाथ] आई है। वह हे सरस्वती ! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टि को [धेहि] दे ॥ ४७ ॥

[पृथिवीं त्वा पृथिव्यां आवेशयामि] मिट्टी से बने हुए हे मृत पुरुष ! तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाडता हूं । (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयुको बढावे । हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हमसे दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) धन प्राप्त करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो । (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरोंमें अच्छीतरह होवें अर्थात् पितरोंमें आ मिलें ॥ ४८ ॥

हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ । (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ । उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- [अभिभाः] दोष देनेवाले पुरुषोंने [वां] तुम दोनोंको ' पुनर्वो लिङ्ग ' अदृष्टपूर्वं अनिरीक्ष्यं प्रेतं उद्वहन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, [यत् ऊचुः] जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ । [अघ्न्यौ] हे हिंसा करनेके अयोग्य बैलो ! [अस्मात्] इस निन्दा की कारणभूत गाडीसे [एतं] जो छूट आया है [तद्] वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे । और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके भातको देते हुए या हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढती, स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश है ।] यह मानव देह पार्थिव तत्त्वोंके आधिक्यसे बना हुआ है, अतएव यहांपर मृतदेहको पृथिवी [मिट्टी] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

श्मशानमें जाकर बैलगाडी छोडकर बैलोंका स्वास्थ्यविचार करना उचित है ॥ ४९ ॥

एयमंगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)
इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् । ॥ ५१ ॥
एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥
पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

अर्थ-[सुदुघा] उत्तमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः नः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्थाके पश्चात् आने पर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवों को [पितृभ्यः] पितरोंके लिए भली प्रकार [उप संपराणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरोंके पास उत्तम रीति से पहोंचावे ॥ ५० ॥

[इदं बर्हिः पितृभ्यः प्रभरामि] यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं बिछाता हूं, [देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि] देवोंके लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं। [पुरुष] हे पुरुष! [मेध्यः भवन्] पवित्र होता हुआ तू [तत् आरोह] उस पर बैठ। [परेतं त्वा पितरः प्रति जानन्तु] परेत अर्थात् परे गए हुए या उच्चासन को प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

हे पुरुष! [इदं बर्हिः असदः] इस कुशासन पर तू बैठा है। [मेध्य:अभूः] पवित्र हुआ है। [पितरः परेतं त्वा जानन्तु] पितर परेत हुए हुए तुझको जानें। [यथा परु तन्वं संभरस्व] जोडोंके अनुसार शरीरको भर, अर्थात् जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं [ते गात्राणि] तेरे अंगोंको [ब्रह्मणा] ब्रह्मद्वारा [कल्पयामि] समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ॥ ५२ ॥

[पर्णः राजा] पालक राजा [चरूणां] चरुओंका ढक्कन है। [ऊर्जः] अन्न, [बलं] बल, [सहः] शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य, [ओजः] तेज ये सब [नः] हमें उस पर्ण राजासे [आ अगन्] प्राप्त होवें। [शतशारदाय दीर्घायुत्वाय] सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के [जीवेभ्यः] लिए जीवितों के लिए [आयुः विदधत्] आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ- दक्षिणा देनेसे पितरोंकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार युवावस्थाके पश्चात् आनेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है,उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी वृद्धि करके उसको सुदृढ बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पर्णराजा चरुओं का ढक्कन है। यह हमें अन्न, बल, तेज आदि देता है। यह इन जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥
यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥५६॥
ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ- [यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको [जगाम] प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे सबके मित्रो ! [हविर्भिः] हविर्योंद्वारा [अर्चत] पूजा करो । (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, ये (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च यज्ञियाः) और जोकि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपर्युक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमडती हुई (घृतस्य) घी वा जलकी (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओंका वर्षक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है । (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिनरातका, (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोक का (प्रतरीता) बढानेवाला है । (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घडोंको जलधाराओंसे (अचिक्रदत्) गुंजाता है । (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दि) हृदयमें (आविशन्) प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ- यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई छोटीसी जलवाली नदी प्राप्त होवे ॥ ५७॥

इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें ज्ञान, बल, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियां बढें ॥ ५८ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥
प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)
अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥
परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ- [पावक] हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! [ते] तेरा [शुक्रः] शुद्ध [आततः] सब तरफ फैला हुआ [त्वेषः] प्रकाश [दिवि] द्युलोकमें [धूमः] धुंएकी तरह [ऊर्णोतु] सबको ढँकले । [द्युता] अपने प्रकाशसे [सूरः न] सूर्यकी तरह [त्वं] तू [कृपा] कृपा करके [रोचसे] दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

[इन्दुः] ऐश्वर्य देनेवाला सोम [इन्द्रस्य निष्कृतिं] इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको [प्र एति] अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोडता है । जैसे मि [सखा] मित्र [सख्युः] मित्रकी [संगिरः] उत्तम वाणियोंको [न प्रमिनाति] नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्र भी अवश्य ही सोमका रस निचोडता है और इस प्रकार सोम रस निचोडने पर [मर्यः योषाः इव] जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [सोमः] सोम तू [कलशे] सोम निचोडनेके पात्र-घडेमें [शत-यामना पथा] सैकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे [सं अर्षसे] अच्छी प्रकारसे आता है ॥६०॥

[स्वभानवः] स्वयं प्रकाशमान, [विप्राः] मेधावी पितर [अक्षन्] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं । [अमीमदन्त] खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और [हि] निश्चयसे प्रियान् अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कान्तिमान् बनाते हैं । उनकी [अस्तोषत] प्रशंसा करते हैं । [यविष्ठाः] अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम [ईमहे] उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोमपान करनेवाले पितरो ! [गंभीरैः] गंभीर [पितृयाणैः पथिभिः] पितृयाण मार्गों से [आ यात] आओ । [अस्मभ्यं आयु , प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । [पोषैः] अन्य पुष्टियोंसे [नः] हमें [अभिसचध्वं] चारों ओर से युक्त करो ॥ ६२ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोम संपादक पितरो ! [गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः [गंभीर पूर्वाण मार्गोंद्वारा [परायात] वापस चले जाओ । जहांसे आप ये वहां पर लौट जाओ । [अथ पुनः] और फिर [सुप्रजसः सुवीराः] हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो ! [मासि] मासके अन्तमें यानि महीनेके बाद [नः गृहान्] हमारे घरोंमें [हविः अत्तुं] हविके खानेके लिए [आयात] आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढँक ले जिस प्रकार कि धूंआ सबको ढँक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह। (ऋ. ८।१९।८ ॥ ५९ ॥

इन्द्र सोमको निचोडनेके कर्मको नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणीको नहीं टालता । सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें घडेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है, जिस प्रकारसे कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढती है ॥ ६१ ॥

पितरो ! गंभीर जो पितृयाण मार्ग है उनसे पुकारनेपर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो ॥६२॥

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।
तद् व एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥
अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥
असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः । अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥
शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥
ये३ऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

अर्थ- हे पितरो ! [वः यत् एकं अङ्ग] तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्नि) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

(सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरोंसे वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्योंकि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्व अद्धि) तू भी उन हवियोंको खा ॥ ६५ ॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी ! (जामय ककुत्सल इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुलस्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ॥ ६६ ॥

(पितृषदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ- प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको कदाचित् छोड जाती है ॥ ६४ ॥

जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पाससे हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिये अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

प्रेतके जमीनमें गाडने का भी एक विधि है। भूमि ढंकनी चाहिये ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक मनुष्य मृत्युके बाद किसी अवस्था विशेषमें बिठाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाका, दर्भका आसन देना चाहिए ॥ ६८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥(२६)

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥
एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

अर्थ- (वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे। (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे। (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय) विविध रीतिसे खोल दे। (अथ) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

(वरुण) वरुण राजन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान् पाशान्) तेरे सब पाशों-फन्दों-को (मुञ्च) अच्छी तरह से छोड दे। (यैः) जिन फन्दोंसे कि (संआमे) समाम में और (यैः) जिनसे कि (वि-आमे) व्यायाममें (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है। (अध) तेरे उपरोक्त पाशोंसे छूटकर हम (राजन्) हे वरुण राजन् ! (त्वया गुपिताः) तेरेसे रक्षा किए गए अतएव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदः) सैंकडों वर्ष (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यको वहन करनेवाले अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥
श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥
सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥
(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥
हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥
एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥
नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ ८३ ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥
येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ ८६ ॥

अर्थ-[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७७ ॥

[पृथिवीषद्भ्यः] पृथिवीपर बैठनेवाले [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७८ ॥

[अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७९ ॥

[दिविषद्भ्यः पितृभ्यः] द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८० ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुमारे रस अथरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यद् घोरं) जो घोर कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥८३॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो [शिवं] कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

(ये पितरः अत्र) ये अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्र स्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होवो ॥ ८६ ॥

भावार्थ— पितरोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य श्रेष्ठ बने ॥ ८१-८७ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ- (ये) जो [पितरः] पितृगण (इह) यहां हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजर) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समित्) दीप्ति-चमक प्रकाश (द्यवी) अंतरिक्षमें अथवा सूर्यमें (दीदयति) प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूपसे प्रकाशित हो रही है। ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालोंके लिए (इषं) अन्न वा इष्ट फलको (आ भर) दे। (ऋ०५।६।८) ॥ ८८ ॥

[सुपर्णः] सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला [चन्द्रमाः] चन्द्र [अप्सु अन्तः] जलोंके अन्दर रहता हुआ [दिवि] अंतरिक्षमें [धावते] दौडता रहता है। [रोदसी] हे द्यावापृथिवी! [वः] तुम्हारी [पद] स्थितिको [हिरण्यनेमयः] सोने जैसी चमकीले प्रान्तभाग-सीमावाली [विद्युतः] बिजलियां अथवा प्रकाशमान पदार्थ [न विन्दन्ति] नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी लंबी चौडी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता। [मे] मेरी [अस्य] इस उपरोक्त स्तुतिको [वित्तं] तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ- हम सदा प्रकाशमान अजर अग्निको प्रकाशित करते रहें। उसीकी ज्योति द्युलोकको व सूर्यादिको प्रकाशित कर रही है। यह स्तुति करनेवालोंको अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड रहे हैं, वे इस द्यावापृथिवीकी स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते। (ऋ० १।१०५।१) ॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

इति अष्टादश काण्ड समाप्त।

अष्टादश काण्डका मनन।

(१) पितर।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडाभारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्त्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहा जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबन्धी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोल-कल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक बिना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबंधियोंसे कोई संबन्ध रहता है या नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यमके दूत क्या हैं, यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्योंकि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है।

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः।
पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥

अथर्व. १८।४।६७ ॥

शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥

यजुः ५।२६॥ तथा ॥ ६।१ ॥

अर्थ- (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्ता) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ अथर्व १८।३।७३॥

अर्थ-(उन्मृजानः) अपनेको शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं-अर्थात् वे बहुत बढते हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं-

१ पितृलोक-'पृथिवी'।

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः ॥

अथर्व० १८।४।७८ ॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है।

२ पितृलोक—'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व १८।४।७९ ॥

अर्थ-(अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।३।५९ ॥

अर्थ-(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह-दादा (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं-प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको [यथावशं] कामनाके अनुकूल [कल्पयाति] समर्थ करता है।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहां पर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।

तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः॥ अथर्व. १८।३।८

अर्थ-[उत् तिष्ठ] उठ, [प्रेहि] आ, [प्रद्रव] दौड। [सधस्थे] जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे [सलिले] अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐक्यमत्यको प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें किसीके भेजे जाने का और वहां स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रोंमें हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं।

३ पितृलोक—'द्यु'।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व० १८।४।८० ॥

अर्थ-(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोकमें बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद् यवमत् सुवीर्यम्। यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

ऋ० ९।६९।८

अर्थ- हे सोम! तू (नः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्वावत्) घोडोंवाले, (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर। अर्थात् हमें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हमको ऐसा पराक्रम दे। हे सोम! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थन) हो ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं। द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।

तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥

अथर्व० १८।२।४८ ॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की जो 'द्युलोक' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है।

(ह) निश्चयसे (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नाम का द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे ऊपर है और उसमें पितृ अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं । अबतक के सब मन्त्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोकमें आते हैं और वहांसे चलकर सबसे अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं । यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोकसे परे है । इसी मंत्रके भावको निम्न ऋग्वेदकी ऋचा [illegible] करती है ।

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् । आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥ ऋ० १।३५।६॥

अर्थ– (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं । (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थां) समीप हैं (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोकमें स्थित है जो कि (विराषाट्) विराषाट् है अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं । (रथ्यं आणिं न) जैसे रथ आणिपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता = अमृतानि) ये सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधितस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं । (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिकेतत्) भली प्रकार जानता है, वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) उन तत्त्वोंका विवेचन करे । 'आणि' नाम उस कीलका है, जो कि अक्षके किनारेपर छेद करके पहिएको बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है ।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्य उस द्युलोक में है । पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उन का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी । यहांपर उस बातका निर्देश मात्र है ।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित द्युका विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है । अर्थात् उस द्युमें वीरगण आकर निवास करते हैं । इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना दर्शा रहा है ।

> इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
> प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः ॥
> अथर्व० १८।१।६१ ॥

अर्थ–(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं । (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर प्रष्टव्य स्थानोंपर–चढते हैं । (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले वीर (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोकको (प्रययुः) गए हुए हैं ।

अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चला है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्यु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं । इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है । इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है ।

> ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु-रुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १८।२।४९॥

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह, हैं (ये) जो कि (उरु-अंतरिक्ष आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं । यह मंत्र स्वयमेव अधिक स्पष्ट है । यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है ।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल या घर ।'

इन उपरोक्त पितृलोकों के सिवाय हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर या पिताका कुल प्रतीत होता है । मंत्र इस प्रकार है–

> उद्यतीः कन्यका इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः अव-दीक्षामसृक्षत स्वाहा । अथर्व. १४।२।५२ ॥

(इमाः) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुलसे [पतिं यतीः] पतिके पास जाती हुई (स्व—आहा) उत्तम वाणी द्वारा [दीक्षा] दीक्षाको (अवसृक्षत) दें।

नियम व्रत आदि की शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

५ पितृलोक— पितरोंका देश।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैत्रिक भूमि है। जिस भूमिमें वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं, उस भूमिका नाम पितृलोक से यहां कहा गया है।

> पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
> प्र दातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम्॥
>
> अथर्व० ३।२९।४॥

[पञ्च-अ-पूपं] पांचों जनों (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) को न सडानेवाले अतएव (लोकेन समितं) जनता द्वारा संमत [शितिपादं अविं] हिंसकोंको [दबाने- वाले संरक्षक का भाग] [प्रदाता] देनेवाला [पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोकके संबन्धमें यहांपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है। अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

(मर्त्यानां पितृणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (द्वे स्रुती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणनामक) (अशृणवं) मैंने सुने सुने हैं। (ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत् विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है।

एवं इस मंत्रसे इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाणनामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

> आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥
>
> अथर्व० १८।४।१॥

(जातवेदसः) हे अग्नियो! तुम (जनित्रीं आ रोहत) अपनी उत्पन्न करनेवालीके पास पहुंचो। मैं [वः] तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्योंका वहन करनेवाला अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अव्याट्] वहन करता है। हे अग्नियो! (युक्ताः) तुम मिलकर [ईजानं] यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंके लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां ले जाओ।

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्याणैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः। उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० १८।१।५४

(यत्र) जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं, वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा । वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्तौ) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख ।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं । इसके सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्गसे आनेका भी उल्लेख पाया जाता है ।

> आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ अथर्व० १८।४।६२

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो ! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गोंसे (आयात) आओ । (अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । (पोषैः) अन्न पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों और से युक्त करो ।

इस मंत्र में पितरों के पितृयाण से आकर आयु, प्रजा आदि देनेका उल्लेख है । इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है ।

> अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ अथर्व० ६।११७।३ ॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें । तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें । (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयान मार्ग हैं, (सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें ।

इस लोकमें दो प्रकारका ऋण है । (१) भौतिक धन,सेना आदि आदि उधार लेना । (२) वैदिक "जायमानो ह ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति" (तै. सं. ६।३।१०।५) अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है वह तीन प्रकारका ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है । ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषिऋण उतरता है, यज्ञ करनेसे देवऋण उतरता है तथा संतानोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है। निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है और कौन नहीं ।

> यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ॥ ऋ० १०।२।७॥

हे अग्ने ! (यं त्वा) जिस तुझको (द्यावापृथिवि) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझे (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है, वह तू (पितृयाणं पंथां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो ।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है । हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है । उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया जायगा । अग्नीको छोडकर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है वह निम्न मंत्र दिखाता है ।—

> स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ।
> प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥
> अथर्व० १५।१२।४-५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् सत्यव्रती अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्ग को (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार जानता है । इसके प्रतिकूल—

> अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥
> न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥
> अथर्व० १५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता

है। वह (न पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्ग को ही भली भांति जानता है और नहीं (देवयान) देवयान मार्गको जानता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इसप्रकार है-

> देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
> यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ अथर्व० ५।१८।१३॥

(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थिभूयान् भवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीर में मांसादिके न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां है और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता। (यः) जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससे कि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं। अब वह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है। इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में भी डालेगा। मंत्र इस प्रकार है-

आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं

गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) सह गमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान। सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सहगमन वा सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

निरुक्तकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद ३, खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ. १०।४०।२ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुहाभि पित्वं करतः' का अर्थ करते हैं 'क्वाभि प्राप्तिं कुरुथः'।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ 'सह प्राप्तव्यं स्थानं' ऐसा किया है। सह शब्द उपपद रखके 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं' से विभाव करके सपित्व संपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसे भी करते हैं। 'पिव समवाये, इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करने से पवि शब्द बनाकर, 'सपेर्भावः सपित्वं।' अर्थ भी उपरोक्त।

२ पितरोंके कार्य।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायेंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं । पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परंतु वे अन्य प्रकरणोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको यहां दिया जायगा।

१ रक्षा करना।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
ऋ० १०।१५।१॥ यजु० अ० १९।४९॥
अथर्व० १८।१।४४

(सोम्यास.) सोम उत्पादन करनेवाले (अवरे उत् मध्यमाः उत् परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें। (ये अवृकाः ऋतज्ञाः) जिन हिंसारहित सत्य वा यज्ञके जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयु') प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें–युद्धोंमें वा बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥
अथर्व० ८।८।१५॥

(गन्धर्वाप्सरस) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको, (पितॄन्) पितरोंको (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे वे देखे हुए हों या नहीं इन सबको (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि वे सब (अमू सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें–नष्ट कर दें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च
प्रदर्शय॥ अथर्व० ११।९।२४

[वनस्पतीन्] वनस्पतियोंको, [वानस्पत्यान्] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [ओषधी] औषधियोंको [उत] और [वीरुधः] लताओंको [गन्धर्वाप्सरस] गन्धर्व तथा अप्सराओंको [सर्पान्] सर्पोंको [देवान्] देवोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा [उदारान्] उदारोंको [अर्बुदे] हे अर्बुदि ' [त्वं] [अमित्रेभ्यः दृशे कुरु] शत्रुओंको देखने लिए कर। अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ताकि ये शत्रुओंका विनाश करें। इनकी घातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो।

*

अर्बुदिका अर्थ ऐतरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है– ' अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत् ' [ऐ ब्रा, ६।१] अर्बुद नामका कोई सर्पऋषि था उसका पुत्र अर्बुदि। ' अतइञ् ' इस सूत्रसे इञ्। ' संज्ञापूर्वको विधिरनित्य ' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है।

सायणाचार्यने इसका अर्थ " अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्ष्य उत्पात ' ऐसा किया है। इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि 'तस्मात् ते पानाद् उदारा अजायन्त ' तै० ब्रा० २।२।९।२ उत् आरयन्ति आर्तिं उद्रावयन्ति इति उदाराः। ' अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओंसे लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं। इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान है। अब हम ऐसे मंत्र उद्धृत करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है।

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ऋ० १।१०६।३॥

[सुप्रवाचना पितर न अवन्तु] उत्तम प्रवचन करने वाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और [देवपुत्रे ऋतावृधा देवी] देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रक्षक हैं तथा जो सत्य से बढनेवाली हैं ऐसी द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें। हे [सुदानवः] उत्तम दानवाले [वसव] वसुओ (दुर्गात् रथं न) दुर्गमताय स्थानसे रथकी तरह (विश्वस्मात् अंहसः) सब पापों से [नः निष्पिपर्तन] हमें निकालकर पालो।

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा
सिन्धवः पिन्वमानाः। अवन्तु मा पर्वतासो
ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ।
॥ ऋ० ६।५२।४॥

[जायमानाः उषस मा अवन्तु] उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें। [पिन्वमाना सिन्धव मा अवन्तु] जलका सिंचन करता हुईं नदियां मेरी रक्षा करें। [ध्रुवास. पर्वतास मा अवन्तु] निश्चल पर्वत मेरा रक्षा करें, और [देवहूतौ] देवोंके आह्वान करनेमें (पितर) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें इस प्रकार इस मन्त्रमें पितरोंको देवोंके आह्वान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है।

> इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा
> रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः
> पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं त्वा
> पार्वेहिर्दा यज्ञाग्नि सृजामि ॥

आशिषि] इस आशीर्वाद कार्यमें। [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आह्वानमें [स्वाहा]।

इस प्रकार हमने इन मन्त्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं। अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं।

२ सूर्य प्रकाश देना।

> अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋत-
> माशुषाणाः। अश्ममव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरु-
> दुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥
> ऋ० ४।१।१३ ॥

[अत्र] यहां [ऋत आशुषाणाः] यज्ञ या सत्यको प्राप्त करतेहुए [मनुष्याः पितरः] मननशील पितर

उक्थ वेदों के साम सूक्तों का नाम है। ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है। कहीं अन्न प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है। क्षामा = क्षाम। ' संहितायां ' से दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि क्षाम शब्दका पाठ निघण्टुमें पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि यहां क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे ' अंधकार ' ही करना उचित है और यही ठीक जंचता है। इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी अर्थको पुष्ट कर रहे हैं। पृथिवी को भेदन करने का यहां कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। अरुणीका अर्थ उषःकालकी किरणें ऐसा है। ' अरुण्यः गावः उषसाम् ' अर्थात् उषाओंकी किरणोंका नाम अरुणी है। निघण्टुः १।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है–

> त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम्॥ ऋ ७।७६।४॥

(ते इत् ऋतावानः, कवय, पूर्व्यासः सत्यमंत्राः, पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी पूर्वकालीन, सत्य मंत्रवाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाशको (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अजनयन्) उत्पन्न किया।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्य प्रकाश देनेकी बातको कहा गया है।

> ' वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण। चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वः विविदुः केतुमुस्राः॥ ' ऋ. १।७१।२॥

(नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पितरोंने (उक्थैः) शस्त्रोंसे, (रवेण) और उक्थ अथात् वेदके स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दृळ्हा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रुजन्) तोड गिराया। अर्थात् वेद मंत्रोंके पाठसे इतना बड़ा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे आगिरे और। तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकमें ये मार्ग बनाया। और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहः केतुं) सुख से प्रापणीय सूर्यको तथा (उस्राः) सूर्यकिरणों का (विविदुः) प्राप्त किया।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथ ही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके, यह दर्शाया गया है। पितर बादलोंको हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचातेहैं यह इससे स्पष्ट होता है। उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा है।

> स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन्॥ ऋ. ९।९७।३९॥

(सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मिढ्वान्) सुख वा कामनाओंका वर्धक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे। (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः, स्वर्विदः, पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि= अभिलक्ष्य उद्देश करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्य किरणोंके आनेमें रुकावट न हो।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मन्त्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है। उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है।' स्वर्विदः' का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले। द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोक को जाननेवाले भी अर्थ है। यास्काचार्य भी यह अर्थ स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है–

"स्वः आदित्यो भवति। सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।" अर्थात् स्वः आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु–अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अधकार को दूर भगानेवाला है।

सु अर्=स्वः। अथवा ' स्वृतो रसान् ' यह रसोंके प्रति ग्रहणके लिए आता है। सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है। सूर्यके रस लेनेकी बातको कालिदासने रघुवंश में इस प्रकार कहा है–

'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः.'

अर्थात् सूर्य हजार गुना वापिस करनेके लिए रसोंको पृथिवी

परसे लेता है। सु पूर्वक ऋ गतौ। सु×अर् = स्वः। अथवा 'स्वृतो भासं ज्योतिषां' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'स्वृतो भासा' दीप्तीसे युक्त होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे द्युलोक की भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है; अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरों की सूर्यकिरणोंके साथ सहप्राप्ति व सहगमन बताया गया है। यहांपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को लक्ष्यमें रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहांसे फिर द्युलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मंत्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है—

> अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १०।६८।११॥ तथा
> अथर्व० २०।१६।११

(बृहस्पति अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे काले घोडेको शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्यां अपिंशन्)पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें 'प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं' यह दर्शाया गया है।

> आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ ऋ० १०।१०७।१॥

[एषां माघोनं महि आविरभूत्] [illegible] पितरोंका मघवा संबंधी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने [विश्वं जीवं] सारे संसारको तमसः निरमोचि] अंधकारसे छुडाया। [पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्] वह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।'

'माघोनं' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश सूर्यकी चैत्र मासमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमासमें इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोनं का यहां अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड फोडकर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानाभी पितरोंका कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा।

३ पापसे छुडाना

> अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
> अथर्व. ११।६।१६

[अरायान्] न दान देनेवालोंको, [रक्षांसि] राक्षसोंको, [सर्पान्] सर्पोंको, [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको और [पितॄन्] पितरोंको [ब्रूमः] कहते हैं तथा [एकशतं] मृत्यून् एक सौ मृत्युओंको [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] वे सब [नः अंहसः] हमें पापसे [मुञ्चन्तु] छुडावें। यहांपर अन्योंके साथ पितर भी पापसे छुडाते हैं यह दर्शाया गया है।

४ सुख व कल्याण करना।

> विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव
> शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥
> अथर्व. १८।३।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रज्वालक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्न-बल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः)

अन्नोंसे हमें (अप्रमात्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है।

अथवा शर्दि = छर्दि = घर। शर्दिका अर्थ घर करने पर शर्दिका विभक्ति-व्यत्यय करना पडगा। शर्दि = शादम। इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि " क्यों कि अग्नि हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है, अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो।" अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३।१७) इस मन्त्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ७।३५।१२

तथा अथर्व० १९।११।१

(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोडे हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) श्रेष्ठकर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३।१५।)

५ गर्भ धारण करना

अरुणचक्षुस्स पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋ० ९।८३।३

(अग्रिय) अग्रणी - मुख्य - प्रसिद्ध [उग्रः पृश्निः] उग्रास सबन्ध रखनेवाला सूर्य [अरुरुचत्] सबको प्रकाशित करता है। [वाजयुः] भूतजातके लिए अन्नकी कामना करता हुआ अतएव [उक्षा] जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य [भुवनानि बिभर्ति] भुवनों का धारण पोषण करता है। [अस्य मायया] इसकी मायासे [मायाविनः) मायावान [ममिरे] पदार्थोंका निर्माण करते हैं और [नृचक्षस पितरः गर्भ आदधुः] मनुष्योंके दर्शनवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। सूर्यकिरणें जलको अपने गर्भ में धारण करती हैं। सूर्यकी किरणोंद्वारा जल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय बरसाना प्रसिद्ध ही है।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजु० अ० २।३३ ॥

[पितर] हे पितरो! [पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त] पुष्करस्रक् कुमारको गर्भमें धारण करो। [यथा] जिससे कि [इह पुरुषः असत्] यहां यह पुरुष बन जावे।

इस मन्त्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रक् कुमारका अर्थ अश्विना कुमार जोकि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार ऐसा किया है। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ ' विद्याग्रहणार्थ फूलकी माला धारण किये हुआ कुमार' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मन्त्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समयका वर्णन करता है, ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं-

१ यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

६ पितरोंका संतति बढाना आदि

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥ ऋ० १०।५६।६

[सूनव] आदित्यकेपुत्र देवोंने [असुर स्वर्विदं] बलवान् द्यु लोकको जाननेवाले आदित्यको (तृतीयेन कर्मणा) प्रजोत्पत्ति नामक तीसरे कर्मसे (द्विधा) दो प्रकारका अन्त व उदयवाला (आस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितर) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाका धारण करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) आनेवाली संतानमें पैतृक तेजबल रख दिया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संततिको विस्तृत बनाया।

पितर संतति बढाकर उसमें पैतृक तेज स्थापन करते हैं, ऐसा इस मन्त्रमें बतलाया गया है ।

मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें पितरोंकी सहायता !

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥

ऋ० १०।५७।५ तथा यजु० ३।५५

[न पितरः] हमारे पितर तथा [दैव्य जन] देवोंका संघ [पुनः नः मनः ददातु] फिरसे हमें मनको देवे । हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें ।

जन शब्द यह संघके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है । यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालताहुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियोंके देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है ।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १०।५७।३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनो न्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥

यजु० अ० ३।५३

[तं उ समानया गिरा] उस वरुणकी समान स्तुतिसे [च] और [पितॄणां मन्मभिः] पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुतियोंसे तथा [नाभाकस्य प्रशस्तिभिः] नाभाकके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे [सु अभिष्टौमि] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं । [यः] जो [मध्यमः] मध्यम वरुण [सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा] नदियोंके उद्गम स्थानमें सात बहिनोंवाला है । [समे] सब [अन्यके] जो हमसे द्वेष करते हैं, ऐसा दुष्टबुद्धिवाले-पापबुद्धिवाले पापसङ्कल्प [नभन्तां] न रहें ।

इस मन्त्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जानेवाले मन्त्रसे प्रतीत होता है-

यह मन्त्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है

'तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । ऋषिर्नाभाको बभूव । यः स्यन्दमानानामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाह वाग्भिः । स मध्यम इति निरुच्यते । अथैष एव भवति । नभन्तामन्यके समे, मा भूवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः ॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है ।

नाभाक ऋषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मननीय स्तोत्रोंसे वरुणकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें समर्थ हैं, यह इस मन्त्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके सिवा पितरोंकी स्तुतियोंसे और क्या विशेष लाभ है यह निम्न मंत्र दर्शाता है:

करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है ।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे सो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुतिका फल यहांपर दिखाया गया है। अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिन में से कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है ।

पितरोंसे दीर्घायु ।

> वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन । चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ अथर्व० १८।४।१०

[सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें । [देवाः मधुना घृतेन] देव मुझे माधुर्यौपेत घृत से व्यक्त करें । [चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [जरदष्टिं मा] जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको [जरसे] वृद्धावस्था तक [वर्धन्तु] बढावें अर्थात् जिस वृद्धापेमें खाने पीनेकी शक्ति जीर्ण हो जाती है उस वृद्धापेतक मुझे पहुंचाएं । यथासंभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ।

> पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजुः अ० १९।३७

[सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें । [पितामहाः मा पुनन्तु] पितामह मुझे पवित्र करें । [प्रपितामहाः] प्रपितामह मुझे पवित्र करें। [पवित्रेण शतायुषा] पवित्र सौ वर्ष की आयुसे । अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें। मेरा सौ वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ [विश्वं आयुः व्यश्नवै] सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करूं। पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायु भोगी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं। मंत्र इस प्रकार है ।

> यत्ते अङ्गं अतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ अथर्व० १८।२।२६

[ते यत् अङ्गं पराचै अतिहितम्] तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और [यः ते प्राणः, अपानः परेतः] जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, [तत् ते] उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को [सनीडाः पितरः] साथ रहनेवाले पितर [संगत्य] मिलकर [घासाद् घासं इव] [यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है] जैसे घाससे घास बांधी जाती है,उसी प्रकार [पुनः आवेशयन्तु] फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें, यानि पुनरुज्जीवित करें ।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो,तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ।

सायणाचार्य ने 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार किया है- 'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः । भोगायतनं शरीरम् । घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु ।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास। भोगायतन शरीरका नाम घास है, क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घासं यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं । मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषय में लिखना पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिये जाएंगे । उनकी वहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर वे नहीं दिये हैं ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्वधा आदि देनेका वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए यज्ञ अथवा पितरोंसे यज्ञ का सम्बन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे । इस दूसरे विभाग का शीर्षक 'पितर और यज्ञ' होगा । प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे । इस विभाग का सार्मूहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है ।

१ पितरों के लिए नमस्कार ।

'नमः' का अर्थ अन्नभी होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही है, क्यों कि पितरोंके अन्नका खास नाम 'स्वधा' है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है ।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥
> ऋ० १०।१५।२ ॥ तथा
> यजु अ० १९।६८

यही मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः।
> ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥
> अथर्व० १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्ग को गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हैं, [पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। [ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः] और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल या धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं, उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है। यहांपर ' ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ' का अर्थ ऐसा होगा —'अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं। '

> नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य
> उत ये नयन्ति । उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं
> पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥

उपाय या मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं । .

> यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
> अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥
> अथर्व० १४।२।२०

(यदा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्) जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे [अध] तब उसके बाद (नारि) हे नारी ! तू [सरस्वत्यै पितृभ्यः च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुरु] नमस्कार कर।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा ।

> अग्ने वाजजित् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
> सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
> सुयमे मे भूयास्तम् ॥ यजु० अ० २।७ ॥

[वाजजित् अग्ने] हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि ! [वाजं सरिष्यन्तं त्वा] अन्नके प्रति जाती हुई तुमको (सम्मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं । [देवेभ्यः नमः] देवोंके लिये नमस्कार हो। तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो । [मे] मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा उत्तम उपक्रम देनेवाले हों । अथवा नमः और स्वधा, मुझे नियममें रखनेवाले हों ।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधाका निर्देश है। 'वाजं सरिष्यन्तं त्वा संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्निका ही प्रयोग करना चाहिये। अशुद्ध अग्नि अन्नपकानेके लिए अनुपयुक्त है।

> पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन्
> पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः ॥

[स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। [पितरः] हे पितृगणो! [अक्षन्] उस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरो! [अमीमदन्त] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। [पितरः] हे पितरो उस स्वधाको खाकर [अतितृपन्त] अत्यन्त तृप्त होओ। [पितरः शुन्धध्वम्] हे पितरो शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
यजु० अ. १९।४५

[यमराज्य] यमके राज्यमें [ये पितरः समाना समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्प वाले हैं, [तेषां लोकः स्वधा नम यज्ञ] उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पताम्] देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा
समिमान्त्सृजामि ॥ अथर्व० १२।२।३२

मैं [एतौ] इन दोनोंको [हविषा] हविद्वारा [व्याकरोमि] प्रसिद्ध करता हूं। [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [ब्रह्मणा विकल्पयामि] ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। [पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संसृजामि] संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मन्त्रमें पितरों के लिये अक्षय्य स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥
अथर्व० १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देनेसे और [देवताभ्य यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करनेसे तथा [दानेन] दान करनेसे [राजन्य वशाया मातुर्हेडं न गच्छति] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता। यहांपर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिये स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करती है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७५

हे [प्रततामह] प्रततामह ! [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे। [ये च त्वा अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ० का प्रमाण है-'एतां वाच प्रजापतिः प्रथमां वाच व्याहरद् एकाक्षर द्व्यक्षरा ततेति तातेति। तथैवैतत् कुमारः प्रथमां वाचं व्याहरति।' इति ऐ० आ० १।३।३॥ आश्वलायनने भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है—'नामान्यविद्वाँस्तत पितामहप्रपितामहेति' आश्व० २।६॥ इस मन्त्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७६

[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे। [ये च त्वा अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा ॥ अथर्व० १८।४।७७ ॥

हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे। इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मन्त्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥
अथर्व० १८।४।८५॥

हे [पितरः] पितरो [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे।

इस मन्त्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ...

द्रप्सो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयो निर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु
पितृषु स्वधावत् ॥ अथर्व० ७।४१।२

(नृचक्षा) मनुष्याध्यक्ष देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवगुणोंसे युक्त,(सुपर्ण) उत्तम गतिवाला, (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् सर्वगामी (शतयोनिः) सैकड़ोंका कारण अर्थात् सैकड़ोंका उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अन्न,बल, आयुका

देनेवाला जो [श्येन] श्यन है [स] वह [न] हमें [यत परामृत वसु] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [नियच्छात्] वापस दे और वह धन [अस्माक पितृषु स्वधावत] हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस धनसे पितर स्वावलम्बी बनें, स्वाश्रयी होवें। यहांपर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालनेकी कोशीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

> सोदक्रामत् सा पितॄनगच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ अथर्व० ८।१३।५॥
> तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८।१३।८

[सा] वह विराट् [उत् अक्रामत्] ऊपरको उछली। [सा] वह [पितॄन् अगच्छत्] पितरोंके पास गई। [तां उसे पितर उप आह्वयन्त] पितरोंने अपने पास बुलाया कि [स्वध] हे स्वधा! [एहि इति] तू हमारे पास आ। [पितर तां स्वधां उपजीवन्ति] पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं। [य. एवं वेद] जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी [उपजीवनीय भवति] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता है।

इन मन्त्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं, अतः पितरोंको स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

> ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
> स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु० अ० २।म. ३४

इस मन्त्रका देवता ' आप ' अर्थात् जल है। [ऊर्जं] बलको, [अमृत] अमृतको, [घृत] घीको, [पय] दूधको, [कीलाल] अन्नको तथा [परिस्रुत] फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको [वहन्ती] वहन करते हुए [आप] हे जलो! तुम [स्वधा स्थ] स्वधा होवो। अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और [मे पितॄन् तर्पयत] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मन्त्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है–

> ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
> तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥
> अथर्व० १८।३।७२

[ते] वे [ये पूर्वे परागता] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितर] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [तेभ्यः] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [शतधारा व्युन्दती] सैंकडों धाराओंवाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] घृतकी कुल्या क्षुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे। यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मन्त्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मन्त्रकी तरह यह मन्त्रभी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें ' कृत्रिमा सरित् ' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंके तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मन्त्रका मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मन्त्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मन्त्र इस प्रकार है–

> पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥
> अथर्व० १८।४।३९

हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मन्त्रोंके आधार पर है।

किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीसे नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए।

यद् वे पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहु ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥
अथर्व० ११२।१॥

[यत् यज्ञे पितृभ्य ददतः ते नाम जगृहु] यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो [सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्] उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे-कहनेसे किए गये पापसे [इमा ओषधीः त्वा मुञ्चन्तु] ये औषधियां तुझे छुड़ाएं। इस मन्त्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का उल्लेख है।

५ पितरोंका भाग।

पितृणां भागःस्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
अथर्व० १०।५।१३

इस मन्त्रका ' आप ' देवता है। हे जलो ! तुम [पितृणां भाग स्थ] पितरोंका भाग-अंश हो। [देवी आप] हे दिव्य जलो ! [अपां शुक्र वर्च अस्मासु धत्त] जलोंका वीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दो। [अस्मै लोकाय] [redacted] लोकके लिए, [प्रजापते धाम्ना व. सादये] प्रजापतिके तेजसे तुम्हें बिठलाता हूं स्थिर करता हूं। इस मन्त्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् । अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ अथर्व० ११।१।५॥

[व देवानां पितृणां मर्त्यानां] तुम देवों, पितरों व मनुष्योंका [यः त्रेधा भाग] जो तीन प्रकारका भाग [पुरा निहितः] पहिलेसे रखा है, उसमेंसे अपने अपने [अंशान्] अंशोंको भागोंका [जानीध्वं] जानो अर्थात मनुष्य, पितर व देवोंका जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे अपने अपने भागको जानते हुए लो। [तान् विभजामि] उन भागोंका मैं बांटता हूं। [व देवानां य स इमां] तुम देवोंका जो अंश है वह इस ब्रह्मौदन पाचक पत्नीको [पारयाति] पार लगावे अर्थात् जिस कार्यको इसने प्रारम्भ किया है उसमें यह पार हो जावे। इस मन्त्रमें देव, मनुष्य व पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है।

६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना।

यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितॄणाम् । अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥
ऋ० ६।४६।१२

[यत्र शूरास तन्व] जहांपर शूरवीर अर्थात् शूरवीर गण शरीर [पितृणां प्रिया शर्म वितन्वते] पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहांपर [तन्वे तने च] अपने शरीरके लिये व हमारी सन्तानके लिये [अचित्त छर्दि यच्छ स्म] शत्रुओंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व हमारी सन्तानका विनाश न कर सकें। [द्वेष] द्वेष करनेवालोंको भाव रखनेवालोंको [यावय] दूर कर। हम सब मित्रतापूर्वक शत्रुरहित हुए हुए रहें। शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है।

शर्म = गृह। निघण्टु ३।४॥
शर्म = सुख। निघण्टु ३।६॥

'पितृणां प्रिया शर्म' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशसे है अर्थात् जहां पर वंशपरंपरासे पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं हम मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस प्रकार इस मन्त्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है। 'छर्दि गृह।' निघण्टु ३।४॥ ' अचित्त छर्दि ' से यह दर्शाया है कि गुप्त रूपसे भी शत्रु हमारे घरमें न रहने चाहिए, अन्यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा।

पितर और यज्ञ।

इस विभागमें प्रायः वे मन्त्र दिए जायगे, जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा। इस विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञादि करने चाहिए, उन्हें हवि देना चाहिए और [redacted] प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते हैं तथा अन्य कष्टोंके दूर करनेमें सहायक होते हैं।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आगमन्तु त [redacted] श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
ऋ० १०।१५।५॥ तथा यजु० अ० १९।५७॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। 'उपहूताः पितरः' के स्थानपर 'उपहूता न पितरः' है। केवल 'न' और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व० १८।३।४५॥

[प्रियेषु बर्हिष्येषु निधिषु] प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधियोंमें [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] जो पितर [उपहूताः] बुलाए गए हैं [ते आगमन्तु] वे पितर आवें। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [अभिश्रुवन्तु] हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और [अधि ब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें, तथा ते अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें।

'बर्हिष्य' – बर्हिः नाम है यज्ञका; उसमें होनेवाला बर्हिष्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त 'सोम्यासः' पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है, क्योंकि इससे पूर्वके मन्त्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्ताचार्य यास्कने अपने निरुक्तकी भूमिकामें निम्न प्रकार किया है–

निधिः शेवधिरिति। शेवधिका अर्थ है सुखका भण्डार। निरु० अ० २। पा० १। खं ४॥

इस प्रकार इस मन्त्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ऋ० १०।१५।६ तथा यजु० अ० १९।६२

यह मन्त्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ आया है–

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ अथर्व० १८।१।५२॥

(विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु आच्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठ कर (इमं यज्ञं) इस यज्ञको (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यद् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यताके कारण हम करते हैं। (केन चित्) उस किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है, अतः यदि अपराध हो भी जाए, तो भी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेककर ऐसा किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। 'अथेन पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्' इत्यादि॥ शतपथ २।४।२।२॥ शतपथके इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि दायां घुटना टेककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मन्त्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

> परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३

(सोम्यासः पितरः) हे सोम-संपादक पितरो! (गम्भीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गम्भीर पूर्याण-मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ। (अध पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खानेके लिए (आयात) आओ।

'पूर्याणं पुरं यातानि पूर्याणं।' नगरको जानेवाले रस्तेका नाम पूर्याण है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तरमें स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मन्त्रका भाव है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्ववेदमें भी थोडेसे पाठभेदसे आया है। देखो– यजु० १९।५९। तथा अथर्व० १८।३।४४ अर्थ इस प्रकार है–

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व उत्तम नेता पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सब प्रकारसे वीरतायुक्त धन दो।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे वीरता पूर्ण धन मांगनेका कथन है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥
अथर्व. १८।४।३६

[शतधारं सहस्रधारं ऊत्सं] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनपस्फुरन्तं] कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं।

यहांपर हवि शब्दका अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्योंकि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणोंका कोई भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है। यहां पर भी पूर्व मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है।

पितरोंका यज्ञमें धनदान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात॥ ऋ. १०।१५।७॥
यजु. अ. १९।६३॥ तथा अथर्व० १८।३।४३॥

[अरुणीनां उपस्थे] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [आसीनासः] बैठे हुए पितरो! [दाशुषे मर्त्याय] दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस मनुष्यके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ते] उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम [इह] इस यज्ञमें [ऊर्जं] अन्नको धारण करो।

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ अथर्व० १८।३।१४॥

[पितरः] हे पितरो! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ। [च] और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे सिंचित हुआ है। [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनोंको [दत्त] दो। [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति समृद्धिसे [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो। मधुका अर्थ है मधुरतापूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २।२। 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्।'

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात्॥ अथर्व० १८।४।४०

[आपः] हे आप! तुम [अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत] अग्नि को पितरों के पास भेजो। [मे पितरः] मेरे पितृगण [इमं यज्ञं जुषन्ताम्] इस यज्ञका सेवन करें। [ये] जो पितर [आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते] उपस्थित अर्थात् हमारे से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ते] वे पितर [नः] हमें सर्ववीरं रयिं] सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को [नियच्छात्] निरन्तर देते रहें।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्निको पितरों के पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि पितरों को पहुंच सके।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि भी ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थीको धन देते हैं। इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है। पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, वहांपर उन्हें हवि दी जाती है, जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते हैं। यह बात अथर्व.१८।४।४० से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहुंचती है। इसलिये जिनको सर्ववीरोपेत धन सम्पत्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंको हवि देनी चाहिये। इन उपरोक्त बातोंका हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर सकते हैं।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः॥ अथर्व. १८।२।२९

[इह] इस यज्ञमें [नः] हमारे [स्वाः पितरः] ज्ञातिके पितृगण [स्योनं कृण्वन्तः] सुख उत्पन्न करते हुए [सं विशन्तु] प्रविष्ट होवें । और [आयुः प्रतिरन्त] आयुष्यकी वृद्धि करें । और उसके बदलमें [नक्षमाणाः] गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम [ज्योक् पुरूचीः शरदः] निरन्तर बहुत से वर्षोंतक [जीवन्तः] जीवन धारण करते हुए [तेभ्यः] इन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी [हविषा] हविद्वारा [शकेम] परिचर्याके लिये समर्थ बने रहें ।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है । निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इनमें पितरोंके लिये मांस व वपाके हवनका विधान मिलता है ।

> वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके । मेदसः कुल्या उपतान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा ॥ यजुः अ० ३५।२०

(जातवेदः) हे अग्नि ! (पितृभ्यः वपा वह) पितरोंके लिये वपाका वहन कर, (यत्र) जहां (पराके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है । (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) उनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें । (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है ।

यहांपर अग्निसे पितरोंके लिये चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिये कहा गया है । निम्न मंत्रमें पितरोंके लिये मांसवाले चरुके देनेका विधान है-

> अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथर्व. १८।४।२०॥

अपूपों व मांसवाला चरु यहां वेदी पर आवे । (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको (यजामहे) हम पूजते हैं । (ये) जो कि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिये हुए भागका लेनेवाले हो ।

वेदमें मांस शब्द मांसके लिये आता है । यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किये हैं, वे इसी बातको सिद्ध कर रहे हैं । साथही जो उन्होंने मन्त्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें कहाँके मांस खानेका निषेध है । यास्काचार्यने मांसके निर्वचनमें निम्न किये हैं- देखो निरुक्त- ४।१।३।१

(१) मांसं माननं- (मा+मननं) अर्थात् मांसभक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती ।

(२) मानसं-मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते है ।

(३) मनोऽस्मिन्त्सीदति-मांस खानेमें मन जाता है । मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है ।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है । वह इस प्रकार है—

> मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
> एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं, पर. जन्ममें वह मुझे खाएगा । यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोगोंका कथन है ।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है । वह मंत्र इस प्रकार है—

> यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते । ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ अथर्व० १८।४।४२॥

(ते) तेरे लिये (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदिको और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिये (निपृणामि) देता हूं । (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिये होवें ।

इस मंत्रमें मांसका विधान है । प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है ।

> अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
> अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत

यजु अ० २।३१

(पितरः) हे पितरो ! (अत्र) इस यज्ञमें [मादयध्वम्] प्रसन्न होओ और (यथाभागं) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए [आवृषायध्वम्] वृष की तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ । जिस प्रकार कि [अमीमदन्त पितरः] वे पितर [यथाभागं] अपने अपने भागके अनुसार हवि लेकर [मदन्त] प्रसन्न हुए और [आवृषायिषत] बलसे खाया ।

शतपथ ब्राह्मणमें ' यथाभागमावृषायध्वं ' का अर्थ किया है 'यथाभागं अश्नीतेति' श० २।४।२।२० ॥ पि० के लिए

यज्ञ में साथ हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं। यह इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरोंके लिए भाग रखना चाहिए।

> यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः॥ अथर्व० १८।३।१९

[पितरः] हे पितरो! [वः यत् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा [सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। [हि] निश्चयसे तुम [स्वयशसः] अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो। [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी, [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, [हूयमानाः] बुलाए गये [ते] वे तुम [विदथे] यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें [आशृणोत] आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहांपर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधनभूत है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

> सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत। सा मासि समभवत्॥ अथर्व० ८।१२।३॥
>
> तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ अथर्व० ८।१२।४

(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली और (सा) वह (पितॄन् आगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अघ्नत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (समभवत्) संयुक्त हुई॥ अथर्व० ८।१२।३॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददाति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको महीनेमें दिया जाता है ऐसा जानता है, वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको [प्रजानाति] अच्छी प्रकार जानता है।

यहांपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनके लिए कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

> येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ अथर्व० १८।४।६८॥

[ये] जो [अस्माकं पितरः] हमारे पितर हैं, [तेषां] उनका (बर्हिः) आसन [असि] है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंको दर्शावेंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंको ध्यानपूर्वक पढ़ें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर गौर करें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।९

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] पूजनीय स्तुतियोंसे [तातृषुः] अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे [सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः] उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध, सत्यवचनी, कवि अथवा कव्य नामवाले पितरोंके लिए दिए गये हव्य का। अतः कव्योंके लेनेवाले, यज्ञोंमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि तू [आयाहि] आ।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।१०

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः सन्ति] इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढते हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन [घर्मसद्भिः पितृभिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आयाहि) आ। ऊपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एकही बात कह रहे हैं। इन दोनोंमें अग्निको, पितरोंको अपने साथ लानेके लिए

कहा गया है। पितरोंको यज्ञादिमें साथ लाना अग्निका कार्य है, यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। यह अग्नि कौन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविसे विशेष संबन्ध है, यह आगे आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा कहना है।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।१२ तथा यजुः अ० १९।७० ॥
तथा अथर्व० १८।१।५६॥

हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आ वह) ले आ। यहांपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।१।५७

हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ। उपरोक्त मन्त्रके भाव को ही यह मंत्र भी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अंत्येष्टि संस्कार होता है। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना, (४) हवामें खुला छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारोंसे संस्कृत पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको बुलानेके लिए कहा गया है। इस मंत्र पर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अंत्येष्टि नामक' शीर्षकके नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरोंको हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंको हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२ तथा
अथर्व० १८।३।४२॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ यजुः अ० १९।६६

(जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [अद्धि] उन हवियोंको खा।

इस मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हवियोंको ले जाकर पितरोंको दे, ताकि वे उन्हें खावें। यजुर्वेद में दिया उपरोक्त मंत्रमें अग्निका विशेषण 'कव्यवाहन' आया हुआ है। पितरोंके लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और कव्यों

नृभिः। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ अथर्व० १८।४।६५

(सायं न्यह्न) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियोंको [पितृभ्यः प्रादाः] पितरोंके लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, [स्वधया अक्षन्] स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावें। [त्वं अद्धि] तू भी उन हवियोंको खा। इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरोंको पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियोंको पितरों तक पहुंचानेके लिए अग्नि माध्यम है, यह यहां पर स्पष्ट होता है।

उपरोक्त दोनों मंत्र [illegible] बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरोंके पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लानेके लिए भेजते हैं।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
ऋ० १०। १६। ११॥ तथा यजुः अ० १९। ६५

[यः अग्निः] जो अग्नि [कव्यवाहनः] कव्य का अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो [ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्] यज्ञ या सत्य से बढनेवाले पितरोंका यजन करती है वह अग्नि [देवेभ्यः पितृभ्यः [illegible] हव्यानि प्रवोचति] देवों और पितरों के लिये हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूं।

पूर्व मंत्रमें हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवियोंको ले जाती है। हवि ले जानेपर पितरोंको वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूं इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है। यहांपर अग्निको कव्यवाहन कहा गया है। देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है। निम्न मंत्रमें भी अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः॥ अथर्व. १८।४।७१

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे।

पितरोंके लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्। स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान्॥
अथर्व० १८।४।४१

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) [illegible] अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां लुप्तोपमा है) (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है। इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ ऋ० १०।१५।१३

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर हैं, (ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यान् च विद्म) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यां च न प्र विद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (त्वं वेत्थ) तू जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंको जाननेवाला बताया गया है। निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः। तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥ अथर्व० १८।४।६४

हे पितरो ! (वः यत् एकं अङ्गम्) तुम्हारे जिस अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरनेके अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है।

इसके सिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्गको जानती है। यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरोंको जानती है, पितृलोक को जानती है। इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुंचाती है और वहांसे उनको हमारे यज्ञोंमें भी अपने साथ ले आती है। हमने पितृयाण में यह भी देखा है कि पितर सूर्य–किरणोंके साथ जाते हैं। इन बातोंसे ऐसा पता चलता है कि पृथिवी लोक की हदतक पार्थिव अग्नि पितरोंको ले जाती है। तथा द्युलोकमें वही अग्नि सूर्यरूपमें परिणत होकर ले जाता है। इस प्रकार द्युलोकमें जानेके पितृयाण मार्गका कुछ पता किया जा सकता है। अबतकके विवेचनसे इतना हमें जरूर बतलाना है कि पितरोंको अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाती है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आती है।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ऋ० १०।१७।३
तथा अथर्व० १८।२।५४

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जावे ! (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरोंके लिए या (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है। (निरु० ७।३।९) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है। पितृयाणमें जो मंत्र(ऋ० १।१०९।७)हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है।

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आया है।

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥
अथर्व० १८।२।४

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडीको मत फेंक। (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी मत फेंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे, कोई भी भाग दहनक्रियासे अवशिष्ट न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचा दे।

यह मंत्र यद्यपि अंत्येष्टि संस्कार-विषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शानेके लिए यहां दिया गया है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जबतक देह सम्पूर्ण तया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके आसपास ही मंडलाती रहती है। इस परिणामानुसार ही आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थानपर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः।
यदागच्छा यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥
ऋ १०।१६।२॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब तू प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत शरीर) (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है यह इस मन्त्रके बाद के मंत्र अर्थात् ऋ १०।१६।३॥ में दर्शाया है।

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ ऋ. १०।१६।३

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्म फलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (द्यां च पृथिवीं च गच्छ) द्यौ व पृथिवीको जा, अर्थात् द्यौ युक्त अंश तेरे में है वह द्यौमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवीमें जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलांश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठा) औषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् औषधिका अंश औषधिमें चला जावे।

यह ऋग्वेदके १० वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त अंत्येष्टिसंस्कार विषयक है, अतः हम इस सम्पूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतन्त्र विचार करेंगे। यहां पर हमें इतना ही देखना था, कि अग्नि प्रेतका क्या करता है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाता है।

मरनेपर पितृलोकमें जाना।

> जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिं उषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै॥ अथर्व० १२।२।४५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयुको बढा और जब (ये मृताः) वे मर जावें तब (पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अरातिं वितपन्) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ (सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए (श्रेयसीं उषां उषां) कल्याणकारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो। इस मन्त्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना करनेवाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं, अतः अग्निसे यहां सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृतको पितृलोकमें ले जावे। पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्मा को लौटा लाता है, यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है—

> अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ. १०।१६।५॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ निम्न प्रकार आया है—

> अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्। आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ अथर्व १८।२।१०॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अवसृज) यहां छोड, जिससे कि (शेषः) यह पुनर्जन्म लिया हुआ अपत्य (उपयातु) कटुंबियोंको प्राप्त करे तथा (जातवेद) हे जातवेदस् अग्नि! (तन्वा संगच्छतां) यह शरीरसे युक्त होवे। शेष नाम सन्तान का है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति' । निरु० ३। २॥ अथवा इस मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है।

हे अग्ने ! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा । यहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर जाए । वह तेजयुक्त शरीरको प्राप्त होवे ।

इस अर्थके अनुसार इस मंत्रका भी विनियोग अंत्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है । मंत्रके पूर्वार्धसे मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है ।

क्रव्यात् अग्नि ।

जिस अग्निका अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है । क्रव्यात् अग्निका अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि । अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्यात् अग्नि है । इसके सिवाय कइयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृयज्ञादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ' इस शीर्षकके नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वपा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है । श्राद्ध करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परन्तु मांस देनेके समय उसके स्थानपर माष (उडद) देते हैं । परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही वपा और मांसके हामने की कल्पना वेदमें की गई है, क्यों कि मृत शरीरमें वपा और मांस तथा मेद होते हैं । अस्तु, अब हम देखते हैं कि, क्रव्यात् अग्निके क्या कार्य हैं व पितरोंसे उसका क्या विशेष संबन्ध है ।

> क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥
> ऋ० १० । १६ । ९ । ॥ यजुः अ० ३५ । १९ ॥
> अथर्व० १२ । २ । ८ ॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं । (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उन प्रदेशोंको चली जावे । (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदा प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का हनन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्नि को यमराज के देशमें भेजनेका निर्देश है और साथ ही क्रव्यात् अग्नि देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है जहां कि पितर रहते हैं ।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय देवं [illegible] घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥
> ऋ० १०।१६।१० ॥

यह मन्त्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है ।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे । अ० १२।२।७ ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है । (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं । (सः) [illegible] (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें(घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे । यहांपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है । इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में मांसकी आहुतियां हैं । जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है । इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा । इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्यात् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है । क्रव्यात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है [illegible] पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोगही होता है । साथ पितृयज्ञ व पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्यात् अग्निका प्रयोग होता है ।

> क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
> नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥
> अथर्व० १२।२।९

(इषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्युं दृहन्तं) मनुष्योंको मृत्युसे दृढ करती हुई अर्थात् मनुष्योंमें मृत्युसंख्या-को बढाती हुई (क्रव्याद अग्निं) क्रव्यात् अग्निको (वज्रेण) वज्रद्वारा [हरामि] दूर भगाता हूं। [विद्वान्] ज्ञानी मैं [तं गार्हपत्येन नियासिम] उस क्रव्यात् अग्निको गार्हपत्य द्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताकी मृत्यु मनुष्योंमें दृढ न होने पावे। इस प्रकार क्रव्यात् अग्नि-पर शासन करनेके कारण (पितृणां लोकेऽपि) पितरोंके लोकमें भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो।

क्रव्यात् अग्नि पर शासन करनेसे अर्थात् उसे वशमें कर-नेसे पितृलोकमें भाग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्यात् अग्नि को वशमें करना चाहिए। क्रव्यात् अग्निके रहनेका स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है।

> क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥
>
> अथर्व० १२।२।१०

(शशमानं उक्थ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान, प्रशंसाके योग्य, मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण-मार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भेजता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः) देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौटकर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धिको प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरोंमें ही तू जागती रह, अर्थात् उन्हींमें तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्यात् अग्निका पितरोंसे कोई विशेष संबन्ध है, अतएव उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस न आनेके लिए आदेश इस मंत्रमें दिया गया है।

शशमान-शशप्लुतगतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गतिका अर्थ, उछल उछलकर जाना है। यहां पर क्रव्यात् अग्निको शशमान विशेषण दिया है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्यात् अग्नि मांसको चटक चटक कर जलाती है। उस चटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उछल उछल कर जल रही है, इसी कारण संभव है इसे शशमानसे पुकारा गया है।

> अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।
> प्रियं पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥
>
> अथर्व० १२।२।३४

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोडकर (क्रव्यादा) क्रव्यात् अग्नि के साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशाको जाओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

इसमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मंत्रोंसे यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातोंको लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्रको देखनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है, अतः पितृलोक दक्षिणमें है। क्रव्यात् अग्निके इतने विवेचनसे क्रव्यात् अग्निके कार्य क्या हैं व उसका पितरोंसे क्या संबन्ध है इत्यादि बातें पाठकोंके ध्यानमें आगई होंगी। अब अग्नि के अन्य कार्योंको दर्शानेवाले मंत्रोंको दिया जाता है। निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओंको यज्ञसे हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

> ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥
>
> अथर्व० १८।२।२८ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुएको खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपद्रव करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विच-रण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रोंको तथा (निपुरः) पौत्रोंको (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओंको [अग्निः] अग्नि [अस्मात् यज्ञात्] इस यज्ञसे [प्र धमाति] दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति, (" हृग्रहोर्भश्छन्दसि " से ह को भ हो गया है।

इसमन्त्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञातिगण जिनकी कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले। अग्नि ज्ञाति मुख लोकोंको न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥
अथर्व० १८।३।३॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवोंमें सुख पहुचानेवाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु पप्रथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उससे (अस्मासु रयिं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे।

यहां पर अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पड़ता है। निम्न मन्त्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से [illegible] करें। मन्त्र निम्न है—

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्॥ अथर्व० १२।२।३३॥

(पितरः) हे पितरो! (यः अमृत अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (नः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलोंके हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्निको (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं— स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मरणोंसे द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मन्त्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मन्त्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मन्त्र इस प्रकार है—

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ऋ० ३।५५।२॥

(अग्ने) हे अग्नि! (अत्र) यहांपर (देवाः मो नः सुजुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि! [केतु] प्रकाशक तू [पुराण्योः सद्मनोः] पुरातन द्यावापृथिवीके [अन्तः] अन्दर सूर्यरूपसे प्रकाशित होती है [अध्याहार] और क्योंकि तू [देवानां एकं महत् असुरत्वं] देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है [illegible] देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि द्यु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्देवानां असुरत्वमेकं' से भी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

असुरत्व–असु नाम है प्राणका। 'प्राणो वा असुः' श० ६।६।२।६॥ असुं प्राणं राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भाव असुरत्वम्– आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। 'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा'। श० १४।३।२।९॥

जुहुरन्त– हृ प्रसह्यकरणे धातुके लङ् लकार का रूप है। 'प्रसह्यकरणे' का अर्थ होता है [illegible] पूर्वक जबरदस्तीसे कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० २।५।१

(चेतनः) चेतनवाला व चेतना देनेवाला (पिता) पालक व रक्षक (होता) लेने व देनेवाला (अग्नि.) अग्नि (पितृभ्य. ऊतये) पितरों की रक्षाके लिए (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायता से (वाजिनः) बलवान् वा अन्न से युक्त हुए हुए हम (प्रयक्ष) अत्यन्त पूजनीय (जेन्य) जयशील जीतने लायक (वसु) धनको (यमं शकेम) नियमन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् इस प्रकारके धनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें।

इस मन्त्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बतलाया गया है। हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त सहायक है। उसके बिना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं। इसीको यह मन्त्र प्रतिपादित कर रहा है।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना।

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्। स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥ अथर्व० १८।४।३५॥

(वैश्वानरे इद हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्स इव) सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैकड़ों व हजारों धाराओं वाली है। (स) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे पुष्ट हुई हुई (पितर पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है। वैश्वानर का अर्थ है सब नरोंको लेजानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है। अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि उनको पितृलोकमें ले जाती है, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति की गई है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो, वह अग्नि को देना चाहिए, वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है।

(२)

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। तथापि वेदमंत्रोंसे इसका क्या अर्थ निकलता है यह हमें देखना है। अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिता.ते अग्निष्वात्ता.' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं। इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है- 'यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ता' श० २।६।१।७ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है व पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इस विवेचनसे अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अन्त्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है। अब हम वेद मन्त्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है।

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्य स्वराडसुनीतिमेता यथावश तन्वं कल्पयाति॥ यजुः १९।६०॥

[ये] जो [अग्निष्वात्ता] अग्निष्वात्त पितर और [ये] जो [अनग्निष्वात्ताः] अनग्निष्वात्त पितर [दिव मध्ये स्वधया मादयन्ते] द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, [तेभ्य] उन पितरों के लिए [स्वराट्] स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम [यथावश] कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार [एता असुनीति तन्व कल्पयाति] इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीरको बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणों द्वारा लेजाया जावे यानि जिस का प्राणों द्वारा संचालन होवे। यह शरीर असुनीति है क्योंकि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है। इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन्म होता है। उपरोक्त मंत्र ठीक ऐसा का ऐसा ही ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो थोड़ासा परिवर्तन है वही अग्निष्वात्तके अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ ऋ० १०।१५।१४

अर्थ उपरोक्त मन्त्रानुसार ही है। इन दोनों मंत्रों का तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मन्त्र में जहां 'अग्निष्वात्त' और 'अनग्निष्वात्ता' पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें 'अग्निदग्धा.' व 'अनग्निदग्धाः' पद हैं। शेष मन्त्र सर्वथा समान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट है कि जो अग्नि

द्वारा जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि शतपथ ब्राह्मणने भी वही अर्थ किया है जो कि वेदमन्त्रों से पता चल रहा है। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत है कि 'जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होने पर निश्चयसे अग्निष्वात्त पितर मृत पितरही हैं यह सिद्ध होता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकर रक्षा करने, धनादि देने व हवि खिलानेका उल्लेख है। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डालने के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यज्ञादि में आने, हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मन्त्रोंको उद्धृत करते हैं।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० १०।१५।११

यह मन्त्र थोडेसे पाठभेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यजु० १९।५९ तथा अथर्व० १८।३।४४॥ अर्थ इस प्रकार है -

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो! इस यज्ञमें आओ। घर घरमें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हवियों को खाओ। हम सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने, हवि खिलाने तथा मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

> आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ यजु० अ० १९।५८॥

(सोम्यासः) सोम सम्पादन करनेवाले [नः अग्निष्वात्ताः पितरः] हमारे अग्निष्वात्त पितर [देवयानैः पथिभिः] देवयान मार्गो द्वारा [अस्मिन् यज्ञे आयान्तु] इस यज्ञमें आवें। [स्वधया मदन्तः] स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें और [ते अस्मान् अवन्तु] वे हमारी रक्षा करें।

इस मन्त्रमें भी पूर्व मन्त्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने स्वधासे तृप्त होने, उपदेश करने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

> अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ यजु अ० १९।६१॥

(ऋतुमतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरोंको (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जो कि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञ में सोमपानको करते हैं, (ते विप्रासः) वे मेधावी पितर (नः सुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलानेमें कष्ट न हो, बुलाते ही वे हमारी प्रार्थना का स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

'ऋतुमतः' का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। आशुः 'अश-भोजने' से बना है।

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे सुगमतासे हमारे आमन्त्रण को स्वीकार करें। निम्न मन्त्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है।

> धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणां सोमवतां, बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां, कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥ यजु. २४।१८॥

(धूम्राः) धूएके रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवतां पितॄणां) सोम रसपान करनेवाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूए जैसे पशु वा पदार्थ (बर्हिषदां पितॄणां) कुशा घास पर बैठनेवाले पितरों के हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितॄणां) अग्निष्वात्त पितरोंके हों। शेष 'कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः' इस मन्त्र भागका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर प्रायः समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है।

(२)

बर्हिषद् पितर।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ऋ० १०।१५।३॥ यजु० १९।५६॥ अथर्व० १८।१।४५॥

(सुविदत्रान् पितॄन् अहं विष्णोः च आवित्सि) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले, अर्थात् अजेय विक्रम यानि पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्भ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोड कर उत्पादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ।

यहां पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें बुलानेका निर्देश है।

> बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गता वसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥ यजु. अ० १९।५५॥
>
> अथर्व० १८।१।५१॥

(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरो ! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर होओ अर्थात् हमारी रक्षा करो। [वः] तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) [redacted] हव्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आओ। (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयोंका दूर भगाना और [अरपः] पाप रहित आचरण दो।

यहां पर बर्हिषद् पितरोंसे रक्षण, रोगों का शमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं। इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हे जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है। जिन जिन मंत्रोंमें ये विचार मिलते हैं उन मन्त्रोंको उनके भावार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिये है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

[redacted] प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की सब क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेतसंबंधी जो प्रार्थनायें हैं उनका उल्लेख करेंगे।

(१)
प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

> इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
> स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥
>
> अथर्व० १८।४।५६

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दायें हाथको सुशोभित कर।

निर्मृड्ढि– मृज् 'शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिंदु×जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दायें हाथमें सोनेकी अंगुठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्य' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है। इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है।

> येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
> तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥
>
> अथर्व० ५।१९।१४

×जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रांत व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है। संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा। कच्छ प्रांतकी 'लुहाणा' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर पहनाये सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेतको सुलाकर तुलसी सुवर्णादि उसे देते हैं। युक्तप्रांत में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है। कोई कोई तो प्रेत के दांतोंमें सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे।

हे [ब्रह्मज्य] ब्राह्मणको सतानेवाले ! [येन मृतं स्नपयन्ति] जिससे मृत पुरुषको स्नान कराते हैं, [येन श्मश्रूणि च उन्दते] जिससे दाढीमूछके बाल गीले करते हैं, [तं वै अपां भागं देवा ते अधारयन्] उस जलोंके भागको अर्थात् जलको देवोंने तेरे लिए निर्धारित किया है। यहांपर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्पष्ट रूपसे निर्देश हमें मिलता है।

३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मन्त्रमें निर्देश है—

> एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥
>
> अथर्व० १८।२।५७

हे मृत पुरुष ! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुझे प्राप्त हुआ है। [यत् इह पुरा अबिभः] जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] छोड दे। [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है, उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं] अर्थात् तज्जन्य फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो।

विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ गरीब आदि।

इस मंत्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्याग कर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

४ स्मशान भूमिकी तरफ प्रयाण। स्मशान का ग्रामसे बाहर होना।

> मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार। ... क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है। इसलिए इसके शवको ग्रामसे बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहर ले जाना चाहिए। स्मशानभूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है।

अप पूर्वक रुध् धातुका अर्थ बाहर करना है। यहां मृत्युको यमका दूत बताया गया है।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि कराकर वस्त्र बदल कर उसे स्मशान भूमिमें ले जानेकी बारी आती है। हिन्दुलोग शवको, बांसोंकी शय्या बनाकर उस पर घास फूस डालकर उसे चार आदमी कंधेपर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं। मुसलमान लोग भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं। ईसाई लोग गाडीमें शव डालकर स्मशानभूमिमें ले जाते हैं। नीचे दिए गए दोनों मंत्रोंके सायण भाष्यसे शवको बैलगाडीमें ले जाना चाहिये ऐसा पता चलता है।

> इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
> ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥
>
> अथर्व० १८।२।५६

हे मृतपुरुष ! (इमौ वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिये ? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकल गए है, उस असुनीत अर्थात् गतप्राण देहके वहन करनेके लिए अथवा असुनीतका अर्थ है जोकि सुखपूर्वक न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती है। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सादनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (अव गच्छतात्) भली भांति जान।

इस पूर्वमंत्रमें बिठानेवालोंसे पूर्व दिया ... ।

अर्थात् धुरामें जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतोंके लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें ।

नियाने = नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम् । स्मशानमें पहुंचनेपर बैलोंका गाडीसे खोलना–

> मा प्रच्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा
> अत्रोचुः । अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः
> पितृष्विह भोजनौ मम ॥

अथर्व० १८।४।४९

हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ । (तत्) उस (वक्ष्यमाण) जो आगे कहा जायगा निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथा) शुद्ध होओ । उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होनेको कहा गया है, कहते हैं-- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषोंने (वां) तुम दोनोंको ' पुंगवौ केल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊहवन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है, उससे शुद्ध होओ । (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो ! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से [एतं] जो छूट जाना है (तत्) वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे । और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए या हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाडी द्वारा प्रेतका स्मशानमें ले जाना वैदिक प्रथा प्रतीत होती है ।

५ स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना ।

अब स्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको जलाना या गाडना है, वहां से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है । तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करनी चाहिए ।

> अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य
> लोकः सुतावतः । द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं
> यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ यजुः अ० ३५।१।।

[देवपीयवः] देवोंकी हिंसा करनेवाले [असुम्नाः] दुःख देनेवाले [पणयः] दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोक [इतः] इस स्थानसे जहां कि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, [अपयन्तु] दूर हट जावें । क्योंकि [लोकः] यह स्थान [अस्य सुतावतः] इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है । [अस्मै] इसके लिये [यमः] यम [द्युभिः अहोभिः] प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] देता है । अर्थात् इस जीवनमें अब उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है । भावार्थ यह है कि यम ने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होती हैं । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोगो ! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हमने इस प्रेतका अंत्येष्टि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है । मंत्र इस प्रकार है–

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक-
> मक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसान-
> मस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥

अथर्व० १८।१।५५ ॥

हे दुष्टो । [अपेत] यहांसे चले जाओ । [वीत] भाग जाओ । [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ । क्योंकि [अस्मै] इस मृत पुरुषके लिये [पितरः एतं लोकं अक्रन्] पितरोंने यह स्थान [स्मशानभूमिका] किया है– चुना है– निर्धारित किया है । शेष उत्तरार्धका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है । केवल ' अद्भिः ' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोंसे । परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है । मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है । इस प्रकार यह मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है ।

> अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च
> नूतनाः । अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं
> पितरो लोकमस्मै ॥ यजु १२।४५

[ये] जो तुम [पुराणाः] पुरातन विघ्नकर्ता और [ये नूतनाः] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [अत्र] यहां स्मशान–भूमिमें [स्थ] हो वे तुम [अपेत] यहांसे चले जाओ । [वीत] भाग जाओ । [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ । क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए [पितरः] पितरोंने इसके लिए [इमं लोकं] यह स्मशानभूमिका स्थान [अक्रन्] किया है अर्थात् चुना है क्योंकि इसका यहां अंत्येष्टि संस्कार होना है । इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारी-

योंके भगानेका उल्लेख है तदनुसार उन्हें भगाकर अगली विधि करनी चाहिये ऐसा इन मंत्रोंका आशय है।

(६) प्रेतको जलाना, गाडना आदि ।

प्रेतके श्मशानभूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने या हवामें खुला छोडनेकी क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ॥
> सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
>
> अथर्व० १८।२।३४

(अग्ने) हे अग्नि ! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं, [तान् सर्वान्] उन सब पितरोंको तू [हविषे अत्तवे] हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके श्मशान-कर्म दर्शाए गए हैं। [१] गाडना, [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमीनपर खुला छोडना।

[१] गाडना-कुछ प्रेत जमीनमें गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियोंमें कहा गया है, क्योंकि संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए पुरुषका सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कार्योंसे मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासीके शरीरको जलाना चाहिए या नहीं इस विषयमें अभीतक हमें श्रुतिका निर्णय ज्ञात नहीं है, पर स्मृति निषेध करती है। अतः 'निखात' से संन्यासीका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें विशेषतः मुसलमान व ईसाई लोग मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्देकी चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमेंसे एक निखात है।

[२] जलाना या
[३] जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें विशेषतः हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

[४] जमीनपर वायुमें रखना यह चौथी अवस्था पारसियोंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतोंके दो विभाग मिलते हैं [१] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा [२] अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्था को छोडकर शेष तीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टिसंस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें चिन्ह रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

[१] प्रायः आजकल हिन्दुलोग मुर्दा अग्निमें जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन [२] एक अश्मा [पत्थर] लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डी चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा दूसपर लटका देते हैं अथवा [३] बहुतसे लोग समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सीधा मुर्देको ही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों या आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उस पिण्डको बहा देते हैं। [४] मरनेके बादके दसवे दिन उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहर खुला रख देते हैं, ताकि उसे कौआ स्पर्श करें। जबतक कौआ स्पर्श नहीं करता, तबतक अंत्येष्टि क्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं। उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे ये ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव ' ये उद्धिताः ' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीन के ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार ' ये परोप्ताः'का अभिप्राय जो जलद्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। परन्तु इसमें कही गई अवस्थाओंपर इनसे

ने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं —

अभित्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥
अ० १८।२।५२ ॥

हे प्रेत ! [त्वा] तुझे [मातुः पृथिव्याः] माता पृथिवीके [भद्रया वस्त्रेण] कल्याणकारी वस्त्रसे [अभि ऊर्णोमि] आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। [जीवेषु भद्रं तद् मयि] जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और [पितृषु स्वधा] जो पितरोंमें स्वधा है [सा त्वयि] वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥
अ० १८।२।५०॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ अथर्व० १८।४।६६॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार [एनं] इस प्रेतको [अभि ऊर्णुहि] भली प्रकार ढांप।

[illegible] उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडने का उल्लेख है। इससे गाडनेकी प्रथा भी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अंत्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदियोंमें जो मुर्देके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं, वे सब वैदिक हैं। या यूं कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अंत्येष्टि–संस्कार।

काष्ठ संचय करके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [एनं मा विदहः] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [मा अभिशोचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा को मत बखेर। (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [यदा शृतं कृणवः] जब इसे पूर्णतया पक्व बना दे अर्थात् जलादे, [अथ] तब [एनं] इसको [पितृभ्यः प्रहिणुतात्] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोकमें पितरों के पास पहुंचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [१८ । २ । ४] में भी आया है। इस मंत्र को [illegible] पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहां पर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मंत्रपर था वह दे आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति
ऋ० १०।१६।२॥

हे जातवेदस् अग्नि ! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासहित उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ऋ० १०।१६।४ ॥

अथर्व० १८।२।८

[अजः भागः] हे अग्नि इस प्रेत का जो अजभाग [आत्मा] है [तं] उसे तू [तपसा तपस्व] अपने तपसे तपा। [तं] उस अजभाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला [तपतु] तपावे। [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान ज्वाला [तपतु] तपावे। और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [याः ते शिवाः तन्वः] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं [ताभिः] उन द्वारा इस अज भाग को [सुकृता लोकं] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [वह] प्राप्त करा।

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं। अर्थात् शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पास ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है। यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिसका कि अंत्येष्टि में विनियोग होता है। इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनायें करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनायें करके अंत्येष्टिपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टिपरक है। हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम या पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है।

> यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे
> स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा
> द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ यजुः ३९।१३॥

[यमाय स्वाहा] यम के लिए स्वाहा। [अन्तकाय स्वाहा अन्तक के लिए स्वाहा। [मृत्यवे स्वाहा] मृत्युके लिए स्वाहा] [ब्रह्मणे स्वाहा] ब्रह्मके लिए स्वाहा। [ब्रह्महत्याय स्वाहा] ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा। [विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] सर्व देवों के लिए स्वाहा। [द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा] द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है। इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत! —

तेरी आंख सूर्यको जावे। तेरे प्राण वायु को जावें। और हे प्रेत! तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्म से [पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे] द्यु व पृथिवी को जा, उन उनके अंश उनमें मिल जावें। इसी प्रकार जलोंमें जलांश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थिर हो। इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो। इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं। इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

> सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
> ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥
> ऋ० १०।१५४।५॥ अथर्व० १८।२।१८॥

[सहस्रणीथाः कवयः] हजारों को ले आनेवाले अर्थात् हजारों के नायक, क्रान्तदर्शी, [ये] जो कि [सूर्यं गोपायन्ति] सूर्यकी रक्षा करते हैं, ऐसे [तपस्वतः] तपोयुक्त, [तपोजान्] तपसे उत्पन्न [ऋषीन्] ऋषियों को [यम] हे नियमन् ! तू [गच्छतात्] प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले।

८ प्रार्थनायें।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जानेपर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है।

> सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
> अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः॥
> अथर्व० २।१२।७

[ते] तेरे [तान् सप्त प्राणान्] सात प्राणोंको, [अष्टौ मन्यः] आठों नाडियों को [ब्रह्मणा] मंत्र से [वृश्चामि] काटता हूं। तू [अग्निदूतः] अग्नि को दूत बनाकर [अरंकृतः] शीघ्रता करता हुआ [यमस्य] यमके [सदनं] घरको [अयाः] जा।

(सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मन्त्रोंके समन्वयसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है। पाठक वर्ग हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण, अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय- निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंको यहांपर ध्यानमें रखना चाहिये।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी
जीवथो युवम् ॥ ऋ० ६।५९।१॥

हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका (नु) निश्चय से (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन या प्रकार बताते हैं—हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करनेवाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट हो गए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः—पियति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है, क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है। मंत्र भी इस अर्थका पोषक है।

२ ज्ञानी लोक पितर

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो
विद्मने कम् ॥ ऋ० १०।८८।१८

(अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं? (आपः कतिस्वित्) भला आप कितने हैं? (कवय पितरः) हे कान्तदर्शी ज्ञानी पितरो! (व उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है।

३ राज-सभाके सभासद पितर।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः संगतेषु ॥ अ० ७।१२।१

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितायें (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसको संगति करूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दें। (पितरः) हे सभासदो! (संगतेषु) सम्मेलनोंमें मैं (चारु वदानि) प्रिय बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है। उनको पितरके नामसे कहा गया है।

४ सैनिक पितर।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो
गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा
उरवो व्रातसाहाः। ऋ० ६।७५।९ ॥
यजुः २९।४६ ॥

इस मंत्रकी देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लड़ाईके रथरक्षक सैनिक हैं। अर्थ इस प्रकार है—

(स्वादुषसद) शत्रुओंके अन्न में बैठनेवाले वा शत्रुओंके अन्नका नाश करनेवाले, (वयोधा.) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रे श्रित.) कठिनाइयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीव-त.) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीरा.) गभीर, (चित्रसेना.) दर्शनीय सेनावाले(इषुबला.)बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृधा)जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे,(सतोवीराः) वीर्यशाली, (उरव.) विशालकाय, (व्रातसाहा) शत्रुसमुदाय का पराजय करनेवाले (पितर) रक्षा करनेवाले रथरक्षक होते हैं।

> ब्राह्मणास पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा न पातु दुरितादृतावृधो रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत ॥ ऋ० ६।७५।१०॥
> यजु २९।४७॥

यह मन्त्र उपरोक्त मन्त्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्ध विषयक है। इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है-

[ब्राह्मणास] हे ब्रह्मज्ञानी, [सोम्यास.] सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले [ऋतावृध] सत्यस बढानेवाले वा सत्यको बढानेवाले [पितर] रक्षको! [अनेहसा द्यावापृथिवी] अहिंसक द्यु तथा पृथिवी [नः शिवे] हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों। [पूषा] पोषक सेनापति [न.] हमारी [दुरितात्] पापसे [पातु] रक्षा करे और [मा कि अघशस न. ईशत] कोई भी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। [रक्षा] उससे पूषा हमारी रक्षा करें।

इन मन्त्रोंमें सैनिकोंका पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५ प्राण—पितर

> यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायत। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥
> ऋ० १०।१३०।१॥

(य. यज्ञ) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विश्वत. तन्तुभिः) चारों ओरसे क्षण, दिन, मास वा वर्षरूपी तन्तुओंसे (ततः) लम्बाईमें विस्तृत है और (एकशत देवकर्मभिः) एक सौ देवकर्मोंसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयत) चौडाईमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितर.) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञमें आए हुए हैं, व (तते आसते) इस विस्तृत जीवन यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आप बुनते जाओ और पीछेसे ठीक करते जाओ।

इस मन्त्रमें कपडे बुननेके अलङ्कारसे जीवनरूपी वस्त्रका वर्णन है। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

> स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्य स्वाहा प्रतिरवेभ्य। स्वाहा पितृभ्य. ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्य स्वाहा द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥
> यजु अ० ३८।१५॥

इस संपूर्ण मन्त्रका अर्थ हम यहा नहीं देंगे क्योंकि हमारा प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्य ऊर्ध्वबर्हिभ्यः' इतने से ही है। अत इतने ही मंत्र खण्डका अर्थ हम देंगे।

(ऊर्ध्वबर्हिभ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा। संपूर्ण मन्त्रमें 'पूष्णे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः 'ऊर्ध्वबर्हि' विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४।२।२।३२॥

६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में।

> शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तो ॥ ऋ० १।८९।९ यजु० २५।२२

(देवा.) हे देवो! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरद.) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (न. तनूनां जरस चक्र) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रास.) पुत्रगण (पितरः) सतानोत्पत्ति के लायक होकर व अन्योंका पालन करनेके लायक होकर पितर बनते हैं। इस सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (न) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

> त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधा ॥ ऋ० ४।१७।१७

वह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक, (ददृशान) हमारा देखनेवाला, (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला, (सखा) मित्र, (पिता) पालक, (सोम्यानां पितॄणां पितृतम.) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता, (कर्ता) बनानेवाला, तथा (लोक उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधा) अन्न-बल-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक! (बोधि) तू जान।

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः॥ ऋ० १०।६४।१४॥

(मातरा) सब जगत् को निर्माण करनेवाली, (मही) बड़ी (देवी) दिव्य गुणोंवाली (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावापृथिवी) वे द्यावापृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे [सिञ्चतः] सिंचन करती हैं अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं।

७ इषु पितर।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गतिवाले सर्पादिसे रक्षा करनेवाला है। उसके बाण पितर हैं अर्थात् रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनकपितर।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः॥ ऋ० १०।७८।३॥

[ये] जो मनुष्य [वातासः न] वायुओंकी तरह [धुनयः] शत्रुओंको कंपानेवाले हैं, तथा जो [जिगत्नवः] क्रियाशील [अग्नीनां जिह्वाः न] अग्नियों की ज्वालाओं की तरह [विरोकिणः] दीप्यमान हैं, और जो [वर्मण्वन्तः योधाः न] कवचधारी योद्धाओंकी तरह [शिमीवन्त.] शूरता के कार्योंके करनेवाले हैं, व [पितॄणां शंसाः न] जनक पितरोंकी वाणियों की तरह [सुरातयः] उत्कृष्ट दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥ ऋ० १०।९४।१२॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें 'यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है।'

८ पूर्वज पितर।

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ ऋ० १०।१३०।६॥

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, [मनुष्याः] अन्य मनुष्य समुदाय व [नः पितरः] हमारे पूर्वज [चाक्लृप्रे] उत्पन्न हुए। [ये पूर्वे इम यज्ञं अयजन्त] जिन पूर्वके देवोंने इस सृष्टयुत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था [तान्] उन देवोंको [मनसा चक्षसा] मनरूपी आंखसे अथवा [चक्षसा मनसा] सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [पश्यन्] देखता हुआ मैं [मन्ये] उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्टयुत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य संभवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके द्योतक प्रतीत होते हैं, जैसा कि पुरुषसूक्तमें सृष्टयुत्पत्तिमें ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है, जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतुपितर।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्म एतद्वः पितरो वास. ॥ यजुः अ० २।३२॥

इस मंत्रपर शतपथ ब्राह्मणने इतनी ही टिप्पणी चढाई है। कि 'इस मन्त्रमें ६ बार नमस्कार है वह इसलिए है क्यों कि ६ ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन इस प्रकार है–

'षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितर तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति- श० २।४।२।२४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मणमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ-

श० २।६।१।४॥ कौ० ५। ७॥ गो० उ० १। २४॥
तथा ६। १५॥ श० २। ६। १। ३२॥
तै० १।४।१०।८॥ तथा १।३।१०। ५॥

इत्यादि। इस स्थापनानुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है-

[पितर] हे पितरो ! [वः रसाय] तुम्हारी रसभूत वसन्तके लिए [नमः] नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतुका उपलक्षण है। [पितर वः शोषाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है। ग्रीष्ममें गरमी पडनेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषकसे ग्रीष्मका यहां ग्रहण किया गया है। [पितरः वः जीवाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी जीवनदात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवनदात्री है। [पितर वः स्वधायै नमः] हे पितरो ! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है। स्वधा नाम अन्नका है। और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद् ऋतुकी उपलक्षक है। [पितर वः घोराय नमः] पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बडा घोर शीत पडता है अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। [पितरः वः मन्यवे नमः] हे पितरो ! तुम्हारी मन्युभूत शिशिरके लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं, अतः तत् सादृश्यसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। [पितरः] हे पितरो ! [नः गृहान् दत्त] हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। [पितर] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [सतः दध्म] जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे। हे पितरो ! [वः एतत् वासः] तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओढन पहिरनका साधन है उसे लो। शतपथ ब्राह्मणने इस मन्त्रके छः पदोंमें नमः [redacted] अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि [redacted] प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिये व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थोंकी यज्ञमें हवि डालना चाहिए।

गो-संयामक पितर।

न किरेषां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषु योधाः। इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥ ऋ० ३।३९।४॥

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रियोंसे लडनेवाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न कि निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है। (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंको (दृंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् उन्हें अपने काबुमें कर लेता है, उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि इंद्रियां ही निन्दाकी जड हैं। इन्द्रिय-दमन करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रियदमन करनेवाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है। इंद्रियदमन होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है। संयमित इन्द्रियोंवाले पुरुषको सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते। उसका इंद्रियसमूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोई भी आपत्ति सता नहीं सकती। इस प्रकार इस मंत्रमें इंद्रियदमनका महत्व दर्शाया है।

सोम और पितर।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा [redacted] रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ऋ० १।९१।१॥ यजु १९।५२॥

हे सोम ! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मन की गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे लेजाता है। (इन्दो) हे इन्दु ! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, वा देवोंसे रत्न यानि सम्पत्ति प्राप्त करते हैं।

इन्दु– उन्दी क्लेदनेसे इन्दु शब्द बनता है । क्लेदनका अर्थ है गीला होना । अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला । सौम्य गुणोंसे युक्त ।

इस मन्त्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है । पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहांसे पता चलता है ।

> यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश । तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ ऋ० ८।४८।१२॥

हे (पितरः) पितरो ! (य हृत्सु पीत) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दु) मरणरहित इन्दु (न मर्त्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविद्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं । (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें ।

इस मन्त्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है । यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहांसे पता चल रहा है ।

> त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० ८।४८।१३ यजु०१९।५४ ॥

हे सोम ! (त्वं) तू (पितृभि संविदान) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकका (अनु आ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है । (इन्दो) हे इन्दु ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें । इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व पृथिवीका विस्तार करता है । उसको हवि देनेसे धनसम्पत्ति मिलती है ।

> त्वया हि न पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रु पवमान धीराः । वन्वन्नवातः परिधीँ रपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा न ॥ ऋ०९।९६।११ ॥
>
> यजु० १९।५३ ॥

(पवमान सोम) हे पवित्र सोम ! [(त्वया हि] तेरेसे ही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ह(न पूर्वे धीरा पितर)हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रु) श्रेष्ठ कर्मोंको किया ।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए । सोम राक्षसोंका विनाश करता है । वीर अश्वोंवाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है ।

पितृमान् सोम ।

> अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा । अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषद ।
>
> यजु० २।२९ ॥

कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो । उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो । (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें । यहां सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है । अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मन्त्रका सगति लगानेसे पता चलता है ।

> सोमाय पितृमते स्वधा नम ॥
>
> अ० १८।४।७२॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो । यहां सोमके लिए स्वधा व नम देनेका उल्लेख है ।

> पितृभ्य सोमवद्भ्य स्वधा नम ।
>
> अथर्व० १८।४।७३॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । इन मन्त्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है । यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि सम्पूर्ण सोमविषयक मन्त्रोंका समन्वय न किया जासके ।

अङ्गिरस् पितर

> प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम । यना न. पूर्वे पितर पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० ॥ ६२।२ ॥
>
> यजुः ३४।१७

हे मनुष्यो ! (वः) तुम (महे शवसानाय) बडे भारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्य साम) आङ्गूष्य नामके सामसे (प्रभरध्व) गायन

करके स्तुति करो (येन) जिस आङ्गुष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अवि-दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था ।

हम पहिले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है । यहांपर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है । आङ्गुष्य सामकी महिमा यहां व्यक्त हो रही है । अङ्गिरस् पितर किन पितरोंके नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे ।

आङ्गूष्यं साम–आङ्गूषका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आघोष । आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज ॥ देखो-निरुक्त आङ्गूषः स्तोमः आघोषः । नि० अ. ११ पा० ११ खं. १२ । श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा । अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है। क्योंकि सामसे दुख दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है । स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत् साम । पदज्ञ–परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला । आत्मज्ञ । आत्मा वै पदं । कौ० २।३६।

वः- प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है । गाः- सूर्यकिरणें ।

ऊपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन कर रहा है ।

> य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम् । दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० १०।६।२२॥

(ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) परिवत्सरमें (बलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ या सत्यद्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो ! (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवे । (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो ।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मन्त्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथ ही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्य-जातिपर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है ।

> द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो
> अनु मा रभध्वम् । अङ्गिरसः सोम्यासः
> पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।१२।५॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवें । (विश्वे देवासः) हे सब देवो ! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो। (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवे ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ताकि आगेसे वह पापकामनायें करना भूल जावे ।

> अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो
> भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञिया-
> नामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥
>
> अ० १८।१।५८॥ यजु० १९।५०॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं । (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषणविशिष्ट पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्याम) स्थित होवें ।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ संकल्पमें रहनेका निर्देश किया गया है ।

' नवग्व ' शब्दपर थोडासा निर्देश हम कर आए है। इसपर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः—'अथर्वाणोऽथर्वन्तः ' थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ '

निरु० ११।२।१८ ॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वणवाले यानि स्थिर निश्चलप्रकृतिवाले होते हैं । चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जो निश्चल हो वह अथ-

भृगवा— अर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे। नि० ३।३ ॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था। भृगुका अ० है जो आगमें भुना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती।

यज्ञियः— यज्ञके योग्य पूजा, दान सत्कारादिके योग्य अथवा यज्ञमें बैठने लायक।

पितरोंकी उत्पत्ति।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अबतक के विभागोंमें नहीं आ सके हैं। यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए गए मंत्रोंका सा ही महत्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रोंके विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकट्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे यहाँपर दिया गया है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिसंबन्धी निर्देश मिलता है।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्
यजु० १४।२९ ॥

(नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए। [अदितिः अधिपत्नी आसीत्] प्रजापतिकी अखण्ड शक्ति पालन करनेवाली थी।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।४।३।७ में है। शतपथ के अनुसार यह अध्याय सृष्टि-उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा ज्ञात होता है। इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ ब्राह्मणने लिखा है कि ' अथ सृष्टीरुपदधाति । एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति ' इत्यादि।

' नवभिरस्तुवत ' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है— नवभिरस्तुवतेति। नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत।'

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र आदि अन्योंकी तरह पितरोंकी भी खास ढंग से उत्पत्ति होती होगी, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे पितरोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

> वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
> वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
> पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १०।१०।२६ ॥

[वशां एव अमृतं आहुः] वशाको ही अमृत कहते हैं और [वशां मृत्युं उपासते] वशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। [देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः] देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण [इदं सर्वं] यह सब [वशा अभवत्] वशा ही हुई हुई है।

इस मंत्रसे हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशा से उत्पन्न होते हैं।

> देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
> उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥
> अ० ११।७।२७ ॥

[देवाः पितरः मनुष्याः] देव, पितर, मनुष्य [ये च] और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे तथ [दिवि श्रिताः] द्युलोक के आश्रयमें स्थित [देवाः] सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [सर्वे] ये सब [उच्छिष्टात्] उच्छिष्ट से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए हैं।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा उत् अर्थात् सबको उत्क्रमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है।

यहाँपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन मिलता है।

दक्षिणा व पितर।

> एवममर्त् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सु-
> दुघा वयोधाः । यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा
> पितृभ्यः उप संपराणयादिमान् ॥
> अथर्व० १८।४।५० ॥

[सुदुघा] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः

नः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीवोंको वृद्धावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवोंको [पितृभ्यः] पितरों के लिए भली प्रकार [उप संपराणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुंचावे।

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ऐसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरने पर पितरों में गणना।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु॥ अथर्व० १८।४।४८॥

(पृथिवीं त्वा पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष! तुमको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैतः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) धन करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश मिलता है। यह मानव देह पार्थिव तत्वों के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव यहांपर मृत देहको पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावको निम्न लिखित दोहे में कहा गया है—

अश्विनौ तथा पितर।

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्यः आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यन् दिवोदासाय महि चेति वामवः॥ ऋ० १।११९।४॥

(वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले अश्विनो! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्यं) भोगलायक और जो कि (विभिः गतं) घोडों द्वारा लादकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ। (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है।

दिवोदासः--प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं ऐसा उद्देश है।

सरस्वती और पितर।

सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे॥ ऋ० १०।१७।८॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है-

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्व० १८।१।४२॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो। (मादये)

इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भाग] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोष] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे। इस मन्त्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

> सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
> सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
> ऋ० १०।१७।९॥

अथर्ववेदमें यह मन्त्र थोडेसे पाठभेदके साथ है-

> सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
> आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे॥
> अथर्व० १८।१।४२॥

[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणा पितर] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती! तू [अत्र] यहां इस यज्ञमें [यजमानेषु] यजमानोंमें [सहस्रार्घं इडः भाग] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमन्त्र दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ [आगत्य] आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मन्त्रमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

> इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
> इमानि ते उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥
> अथर्व० ७।६८।२॥

[सरस्वति] हे सरस्वती ! [इदं ते घृतवत् हव्यं] यह तेरे लिए घृतवाला यानि घीसे मिश्रित हव्य है। [यत् इदं हविः पितॄणां आस्यं] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है। [इमानि ते शंतमानि उदितानि] ये तेरे लिए कल्याणकारी वचन हैं। [तेभिः] इनसे [वयं] हम [मधुमन्तः स्याम] मधुयुक्त बनें।

आस्य-असु क्षेपणे से बना है। शब्दार्थ फेंका जानेवाला है, भावार्थ दिया जानेवाला है।

इस मन्त्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ■ में सरस्वतीको हव्यादि देनेका लाभ दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मन्त्रोंसे सरस्वती व पितरोंका सम्बन्ध विशेष है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर।

> देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
> ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥
> अथर्व० १०।९।९॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव पितर, मनुष्य (च च) और जो (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे, (सा) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्रमें आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।

> प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
> शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥
> ऋ० १०।१६९।४॥

[प्रजापतिः] प्रजापति [विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः] सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे [मह्य] मेरे लिए [एताः] ये गायें [रराणः] देता है। वह प्रजापति [शिवाः सतीः] कल्याणकारिणी होती हुईं उन गौओंको [नः] हमारे [उपगोष्ठं आ अकः] गोष्ठके समीप कर अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौवें स्थित होवें। और ■ प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर [वयं] हम [तासां प्रजया सं सदेम] उन गौओंकी सन्तानसे सङ्गत होवें अर्थात् उन गौओंकी सन्तान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ— जहांपर गौवें बांधी जाती हैं, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मन्त्रमें उत्तम गौवें पितरोंकी सहायतासे हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है।

इन्द्र व पितर।

> स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारु-
> धायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद्
> बभूथ सुहव एष्टौ ॥   ऋ० ६।२१।८॥

हे वीर इन्द्र! [स] वह [कारुधायः] स्तोताओं या शिल्पियों का धारक तू [नूतनस्य ब्रह्मण्यतः] नवीन धनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेकी अथवा

नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले थे (शुचि) प्रार्थनाको सुन (हि) क्योंकि (आ इष्टौ) आयजन करनेपर अथवा कामनाके होनेपर (सुः हवः) सुखसे बुलाने योग्य (त्वं) तू (पितृणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (शश्वत्) सदा (आपिः) बन्धु व्याप्त रहनेवाला (बभूथ) होता है।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है। क्योंकि वह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

> जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ। यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ऋ० ७।३३।४ ॥

(वसिष्ठाः) हे उत्तम वास करानेवालो! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओंके अर्थात् ऋचाओंमें गानमें (बृहता रवेण) बडे भारी शब्दसे यानि ऋचाओंके ऊंचे स्वरमें गानेसे (इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो, अतः हे (नरः) नेतागणो! (जुष्टी) प्रसन्नता या सेवाके और [ब्रह्मणा] ज्ञानसे तुम [वः पितॄणां] तुम्हारे पितरोंका [अव्ययं अक्षं] न नष्ट होनेवाले अक्षको [किल] निश्चयसे [न रिषाथ] नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्रमें ऋषियोंके लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है।

नवग्व पितर।

> अधु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः। नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ ऋ० ६।२२।२॥ अथर्व० २०।३६।२॥

मतयो नवनीतगतयो वा '। अर्थात् नवप्रकारकी गतिवाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले शुद्धाचरणवाले।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने ' नवीन गतिवाले ' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं—नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठन्तः '। अर्थात् जो नवमासवाले सत्र [यज्ञविशेष] को करनेवाले हैं।

इस मंत्रमें आत्माका वर्णन व ' सप्त विप्रासः ' से ५ प्राण, मन व बुद्धिका अभिप्राय है। और इस प्रकार मंत्रमें प्राणोंसे पितरसे कहा गया जान पडता है।

काम और पितर।

> कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ९।२।१९

[कामः प्रथमः जज्ञे] काम प्रथम पैदा हुआ। [एनं] इसको [न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः] न तो देवोंने पाया, न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने। (ततः) इस कारणसे हे काम! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम! (तस्मै ते) उस तेरे लिए (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है।

मणि और पितर।

> ये देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा। स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ अथर्व० १०।६।११ ॥

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ अथर्व० ११।१।१९॥

हे ब्रह्मौदन ! [सहस्रपृष्ठः] हजारों पीठोंवाला अर्थात् अत्यंत फैला हुआ तू [सुकृतस्य लोके] सुकृतके लोकमें [महता महिम्ना] अपनी बडी भारी महिमासे [उरुः] विस्तीर्ण होता हुआ [प्रथस्व] फैल। [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा] पितामहोंका समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और [पंचदशः अहं] पंचदश मैं [ते पक्ता अस्मि] तेरा पकानेवाला हूं।

पंचदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्रमें पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् ये सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारी व पितर।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ अ० ११।५।२॥

[पितरः देवजनः देवाः]पितर, देवजन तथा देव [सर्वे] ये सब [पृथक्] अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे [ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति] ब्रह्मचारीकी रक्षार्थ अनुगमन करते हैं। [गन्धर्वाः एनं अनुआयन्] गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिशताः त्रयः त्रिंशत्)छे हजार तीन सौ तेंतीस (६३३३) (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंको (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है-पालन करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारीको रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा चलते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारीको किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण।

मा छेद्म रश्मीँरिति नाधमानाः पितॄणां शक्तीरनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥ अ० ११।१०।१८॥

(रश्मीन् मा छेद्म इति नाधमानाः) संततिरूपी रश्मियोंको हम मत काटें, इस प्रकार याचना करते हुए, तथा (पितॄणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरोंकी शक्तियोंको नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्ययुक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से [तौ] वे इन्द्राग्नी [अद्री] न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरोंकी शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना चाहिए, जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथर्व० १।३०।२॥

[देवाः] हे देवो ! [ये वः पितरः ये च पुत्राः] जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [सचेतसः] सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथनको (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके लिए मैं (एतं) इस मनुष्यको (परिददामि) सौंपता हूं, (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचा दो अर्थात् यह वृद्धावस्था- आनेके पूर्व ही अल्पायुमें मरने न पावे।

परिददामि रक्षाके लिए सौंपता हूं। परि उपसर्गपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षार्थ देना है। इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि। अथर्व० ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

सायणाचार्यने इस मंत्रका तात्पर्य इस प्रकार दिया है- जो देव यज्ञकर्म करते हैं वे पितर होते हैं और ...

हमारे पितर हैं वे वसुरुद्रादि रूप हैं। इस प्रकार परस्परके व्यतिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है। [य. अस्मि] जिसका मैं हू उसका ही मैं हू। अर्थात् एक ही पिताका हू। क्योंकि स्त्रिया सभाविता व्यतिक्रम होती हैं अत. मैं निश्चयसे कहता हू कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हू। अपने इस अभिप्राय की पुष्टिके लिए सायणाचार्यने मीमासा सूत्रका प्रमाण दिया है- 'स्वपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्'।

अस्तु,इस मन्त्रका अभिप्राय हमें इतना देखना है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मन्त्रके अभिप्रायवाले और मन्त्र पहिले आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार।

नमो व पितर. ऊर्जे नमो व. पितरो रसाय ॥
अथर्व० १८।४।८०॥

[पितर.] हे पितरो ! [व ऊर्जे नम] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। [पितर] हे पितरो ! [व रसाय नम] तुम्हारे रस-अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है।

नमो व पितरो भामाय नमो व पितरो मन्यवे ॥
अथर्व० १८।४।८२॥

[पितरः] हे पितरो ! [व] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नम] नमस्कार हो। [पितर] हे पितरो ! [व] तुम्हारे [मन्यवे] मन्युके लिए [नम] नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम सात्त्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो व पितरो यद् घोर तस्मै नमो व. पितरो यत् क्रूर तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८३॥

[पितर] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् घोर] जो कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नम] नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [व] तुम्हारा [यत् क्रूर] जो क्रूर कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नम] नमस्कार है।

स्योनं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए नमस्कार है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

पितरोंका इष्टापूर्त।

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभि.। इष्टापूर्तं अवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथर्व० २।१२।४॥

[तिसृभि अशीतिभि.] तीन अशीतियोंके साथ, [सामगेभिः] साम गायकोंके साथ, [आदित्येभि] आदित्योंके साथ, [वसुभि.] वसुओंके साथ तथा [अङ्गिरोभि] अङ्गिरसोंके साथ मिलकर [पितॄणा] पितरोंका [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्त [नः अवतु] हमारी रक्षा करे। [दैव्येन हरसा] दिव्य तेजद्वारा [अमु] इस दुष्ट पुरुषको (आददे) ग्रहण करता हू अर्थात् उसका नाश करता हू।

इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है-
अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामा पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मन्त्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीद मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः
पुत्राच्चेतस एन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः
सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥
अथर्व० ६।११६।३॥

[यदि यत् इद एन] यदि यह जो पाप [नः मातुः, पितुः, भ्रातुः, पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पापसे, पिताके पापसे, भाईके पापसे, पुत्रके पापसे अथवा मनके पापसे [परि आगन्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है, तो [यावन्तः पितर अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

[redacted] मंत्रमें पापके कारणसे रुष्ट पितरोंके क्रोधको शांत करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्ते नु
यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ अ० १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्रस्थ] यहांपर हो, [ते] वे अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल होवें और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ] उनमें श्रेष्ठ होवो।

य [redacted] पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्मांस्तेऽनु
वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ अ० १८।४।८७॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहां हैं उनके अनुग्रहसे [वयं] हम [इह] यहां [जीवाः स्मः] जीवित हैं, (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

[redacted] मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका संकेत है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

वसूनां देवः सविता वाय्वो दधद् रत्नं दक्ष
पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे
परि क्ष्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥

क्ष्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। क्ष्मा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं
ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिल्लोके
श्रद्दधानेन दत्तः॥ अथर्व० ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनंअजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धाका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म
एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु
यः स्वर्गः॥ अथर्व. ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अमरकर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे प्राप्त यह (पक्वं)

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्था पितृषु यः स्वर्गः ॥ अथर्व० ११।१।३१ ॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! (बभ्रे:) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुखको अर्थात् उसके ऊपर के छिलकेको (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान्! (आज्याय लोकं कृणुहि) उन चावलों में घी डालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ब्रह्मौदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (य.) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है।

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुख पूर्वक विचरण करना हो तो खूब घीमिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये।।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मानुगा मा पूर्वाननुगाः।
पितृनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ अथर्व० ५।३०।१॥

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः)तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्य प्रमदो मानु गाः पितॄन् विश्वे देवा अभिरक्षन्तु त्वेह ॥ अथर्व० ८।१।७॥

हे आयुकी कामना करनेवाले मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोकमें मत जाए। (मा तिरः भूत्) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः) तू जीवोंके लिए अर्थात् जीवन रहनेके लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरोंके पीछे मत जा। (विश्वे देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् सब देव तुझे यहां पर बचाए रखें, मारने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रों में मृत पितरोंके अनुगमन करनेका अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। और दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् आपो मा प्रापन् मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥ अथर्व० १४।२।६९॥

(अस्या अङ्गात् अङ्गात्) इसके प्रत्येक अंगसे (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्युलोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अन्तरिक्षं मा) विशाल अन्तरिक्षको भी मत प्राप्त होवे (एतत् मलं) यह यक्ष्मरूपी मैल (आपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि ! (यमं मा प्रापत्) यमको भी मत प्राप्त होवे। (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मन्त्रमें यक्ष्म रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही, पर यहां एक बात विशेष लक्ष्यमें रखने जैसी है और वह यह कि यम व पितरोंको यक्ष्मके न प्राप्त होनेकी प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए हैं कि अग्नि यमलोकमें पितरोंके पास जाती है। अतः अग्नि द्वारा ही यक्ष्मरोगके वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरोंको यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर ।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ अथर्व० १४।२।७३॥

[ये] जो [वधूदर्शः] वधू को देखने के इच्छुक [पितरः] पितृगण [इमं वहतुं] इस दहेज [आगमन्] प्राप्त हुए हैं, [ते] वे पितर (अस्यै वध्वै संपत्न्यै) इस पतिसहित वधू पत्नी के लिए (प्रजावत् शर्म) संतानयुक्त सुख [यच्छन्तु] देवें। अर्थात् इसे संतानयुक्त सुख देवें।

अब कन्या विवाहके समय पतिगृहको जाने लगती है तब रथमें या अन्य वाहन में बैठकर हो जाती है और पितर देखते

आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो।

कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥
अथर्व० १।१४।१॥

(वृक्षात् स्रजं इव) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माला ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (भगं वर्चः) ऐश्वर्यशाली तेजको मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता हूं। यह वधू (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे मूलवाले पर्वत की तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात् अपने (कन्याके) श्वशुर कुलमें स्थिर रहे, जिस प्रकार बडी मूलवाला पर्वत क्योंकि खूब जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है, उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥
अथर्व० १।१४।२॥

इस मंत्रमें वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति उक्ति है। कन्याका पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्) हे राजमान वर! (एषा) यह वधू [ते कुलपा] तेरे कुलकी रक्षण करनेवाली है [तां] इस प्रकारकी इस वधू को [ते परिदद्मसि] तुझे हम सौंपते हैं। यह कन्या [ज्योक्] सर्वदा उस रक्षाको चाहते हैं (येन) जिससे कि तू (पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता है।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम्॥
अथर्व० ५।१९।५॥

[अस्याः] इस ब्रह्मगौका [आशसनं] मारना [क्रूरं] क्रूरता का काम है। यदि [पिशितं अस्यते] उसका मांस खाया जावे तो वह [तृष्टं] प्यास लगानेवाला होता है। [अस्याः यत् क्षीरं पीयते] इसका जो दूध पिया जाता है [तद्] वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिष) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है।

संपूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म-गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन, वाणी किंवा गाय प्रतीत होता है। यदि राजा ब्राह्मण को जमीन को छीन ले या उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका यहांपर वर्णन है। इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्मचारियोंका ग्रहण है।

पालक अर्थमें पितर।

अन्वग्नाहं संमसाइ सव्ये चतुरि।
सर्वे चतुष्पं पितरो मदथा मम इच्छत॥

ज्ञानसे उत्पन्न आनन्दतृप्तिसे आनन्दित होओ । (पितर.) हे इन्द्रियगणो ! तुम (मन इच्छत) मनके साथ संगत होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ, ताकि ब्रह्मज्ञान का लाभ होसके । ' सुष्वस्वाः—कण्व आत्मान स्वनतीति सुष्वसा । स्वनार छोदस । सेमस्वाः—सै स्थैर्ये मन् प्रत्यय । जो स्थिरता उत्पन्न करे । तुरी—तत् ब्रह्म इयर्तीति तुरी ।'

मेधाके उपासक पितर ।

या मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।
यजु० ३२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं, हे अग्ने ! [तया मेधया] उस मेधासे [अद्य] आज [मा] मुझे [मेधाविनं] मेधावी [कुरु] कर । [स्वाहा] ।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं ।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्चन नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् । सम विव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ऋ० १०।५६।४ ॥

[एषां महिम्नः पितरः च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए । और इस प्रकार [देवाः] देव हुए हुए [देवेषु अपि क्रतुं अदधुः] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो [उत] और (यानि अत्विषुः) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विव्यचुः) एकत्रित हुए । तथा (पुनः) फिर [एषां] इन पितरोंके [तनूषु] शरीरोंमें (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये । पितरोंके देवत्व लाभको इस मंत्रसे पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यान् अन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ यजु० ८।६० ॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युको गया है । (ततः) इस कारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले ।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे ।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यही हमें मन्त्रसे पता चल रहा है । इस मन्त्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है ।

जनक अर्थमें पितर ।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः । देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ यजु० ६।२० ॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासम्बन्धी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवें । (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीतः) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें । (देव त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करें या एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यन्तं त्वा देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशिनी ॥ अथर्व० ६।४४।३ ॥

इस मन्त्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है । हे ओषधे ! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगको दूर करनेवाली है । अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन होजाता है । तू (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी जननी है । तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है । तू (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मन्त्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे व उत्पन्न होते हुई हुई बताया गया है । पितरोंके मूल व उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है, तथा वे पितर कौन हैं, जिनके कि मूलसे यह ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि बातोंके खोज करना

विषय है। संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्गवर्णन।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ अथर्व० ६।१२०।३॥

[यत्र] जहांपर [सुहार्दः सुकृतः] साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [स्वायाः तन्वः रोगं विहाय] अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए [मदन्ति] आनन्द भोगते हैं, [तत्र स्वर्गे] वहांपर स्वर्गमें [अश्लोणाः] अपङ्ग न होते हुए [अङ्गैः अह्रुताः] शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अङ्गादिके टेढे न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ] माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है। जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

पितरोंका धन आदि देना।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ अथर्व० ६।७१।२॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोडा, सोना आदि धन [हुत] दिया हुआ अथवा [अहुतं] किसीसे न दिया हुआ, स्वयं कमाया हुआ और जो [पितृभि. दत्तं] पितरोंसे दिया हुआ जिसकी कि [मनुष्यैः अनुमतं] मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो सधिकार न्यायसे [मा] मुझे [आजगाम] प्राप्त हुआ है, और [यस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उद् इव रारजीति] मेरा मन उदयको प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत शोभायमान हो रहा है, [तत्] उस धनको [होता अग्निः] दाता अग्नि [सुहुतं] उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं सन्मार्गमें लगाऊं ऐसी मुझे सन्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता, पितामह आदि।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत्॥
अथर्व० १५।६।२४॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन्॥ अथर्व० १५।६।२५।
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥
अथर्व० १५।६।२६॥

(सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया॥ १५।६।२४॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेष्ठी यानि ऊंचेपदवाले विद्वान् वा सन्यासी पिता तथा पितामह विचरने लगे॥ १५।६।२५॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५।६।२५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है, वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात् अतिथिका महत्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत्॥ अथर्व० १५।७।१॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त॥
अथर्व० १५।७।२॥

(सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ॥ १५।७।१॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, (आपः) जल कर्म, (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्षा बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए या वर्तने करने लगे। यहां व्रात्यकी महिमा गाई गई है।

पितरोंका अग्निके विषयमें अज्ञान।

नैतां विदुः पितरो नोत देवा. येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः॥
अथर्व. १९।५६।४॥

(येषां) जिन ३३ देवोंकी (जल्पिः) दुःस्वप्नकी कारण-भूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस जगतके बीचमें (चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुण द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (आदित्यासः नरः) आदित्य नरोंने (स्वप्नं) स्वप्नको (आप्त्ये त्रिते) आप्त्य त्रितमें (अवपुः) स्थापित किया।

इस मंत्रसे प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर जल्पिको नहीं जानते।

नाराशंस पितर।

···पितरो नाराशंसाः ॥ यजुः। ८। ५ ॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता-पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे। ऋ० १०।४०।१० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

जीवं रुदन्ति विमयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ अथर्व. १४।१।४६ ॥

(नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवनके उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंकी बहुत परवाह करते हैं, उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे विमयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते हैं, अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लंबा लंबा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं, और (ये) जो (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (वामं) सुन्दर संतानको (समीरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे [पतिभ्यः] पतियोंके लिए [जनयः) पत्नियां [परिष्वजे] आलिंगन के लिए [मयः] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियोंको ही वास्तव में पत्नीसुख मिलता है।

इस मंत्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किनको मिलता है, यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरोंके लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठानेका भी यहां निर्देश है।

—:0:—

(२) यम ।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है । अब हम आगे के प्रकरणोंमें यम पर विचार करेंगे । यमविषयक मंत्रोंके हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभागमें विशेषणविशिष्ट यम होगा । विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयोंमें कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभागके शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है ।

प्राणापहारी यम ।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है । प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है । मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा । प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है ।

> यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति । यस्य दूतः प्रहितः एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ऋ० १०।१६५।४ ॥

[उलूकः यत् वदति] उल्लू जो अशुभ बोलता है [एतत्] यह उसका बोला हुआ [मोघं] निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे । [कपोतः] और कबूतर [अग्नौ यत् पदं कृणोति] अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि फेंकता है, वह भी निष्फल हो । इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो । [एषः] यह उल्लू या कबूतर [यस्य प्रहितः दूतः] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [मृत्यवे यमाय] मारनेवाले यम के लिए [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे ।

इस मंत्र में उल्लू के बोलने या कबूतर के पैर से अग्नि फेंकने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की प्रार्थना है । अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है । पाठक वहां देख सकते हैं। ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा ज्ञात पडता है ।

अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है । शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको लक्ष्यमें रखना चाहिए । अस्तु, यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है ।

> यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
> योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० ६।२८।३ ॥

[यः] जिस यमने [अनुपस्पशानः] खोज करते हुए [बहुभ्यः प्रथमः] बहुतोंसे पहिले होकर [प्रवतं पन्थां आससाद] प्रकृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [यः] जो [अस्य द्विपदः] इस दो पैरोंवाले मनुष्यजगत्का व [अस्य चतुष्पदः) इस चारपैरोंवाले पशुजगत्का (ईशे) स्वामी है, (तस्मै) उस [मृत्यवे यमाय] मृत्यु करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे ।

यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

> नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० ६।६३।२

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज नष्ट करनेवाली निर्ऋति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार है । [अयस्मयान् बन्धपाशान्] लोहेकी बनी हुई बेडियोंको (विचृत) खोलदे, काटदे । (यमः) यमने (त्वां) तुझ (मह्यं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है । (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे ।

तिग्मतेज— ' तिज़ निशाने ' से तिग्म शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेजका नाश करे वह तिग्मतेज ।

निर्ऋतिका अर्थ है कष्ट, दुःख, आपत्ति ।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एवोऽप्यस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व० ६।८४।३॥

(निर्ऋते) हे निर्ऋति ! (त्वं) तू (अनेहा) न मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एव) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय लोहके बने हुए (बन्धपाशान्) बेडियोंको (विचृत) खोलदे काट दे। (यम त्वा पुन इत्) यमने तुझको फिर भी (मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नम अस्तु) नमस्कार होवे।

> मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥ ऋ० १।३८।५॥

हे मरुतो ! [यवसे मृग न] जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् स्वेच्छासे उसे जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतन्त्रतासे मिलते रहते हैं, उसी प्रकार (व जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्य) अप्रीतिकर अथवा असवनीय अर्थात् उपभोगसामग्री की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी पशुकी तरह स्वतन्त्रतासे उपभोगसामग्री प्राप्त होती रहे। और वह उपासक (यमस्य पथा) यमके मार्ग से (मा उपगात्) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे।

इस मन्त्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका ही उल्लेख है।

> देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्॥ ऋ० १०।१३।४॥

इस मन्त्रका उत्तरार्ध थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में इस प्रकार से आया है—

> बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच॥ अथर्व० १८।३।४१॥

[देवेभ्य.] देवोंके लिए [क मृत्यु] किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु कौनसी है ? [प्रजायै] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि संततिके लिए [किं अमृत न अवृणात] क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया ? मनुष्योंने [बृहस्पति ऋषिं] बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए [यज्ञं अकृण्वत] यज्ञ बनाया, तोभी [यम] यमने उनके [प्रियां तनुं] प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें अमरताका लाभ न हुआ। अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है–

(देवेभ्यः क मृत्यु न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पति ऋषि यज्ञ अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृत न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यम) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्व) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहांपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरताका वर्णन किया गया है।

> ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि दासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि॥ अथर्व० ४।४०।२॥

[जातवेदः] हे जातवेद ! ये जो शत्रु [दक्षिणत] दाहिनी ओरसे [जुह्वति] यज्ञ करके [illegible] पर आक्रमण करते हैं और जो [दक्षिणायाः दिश] दक्षिण दिशासे [अस्मान् अभिदासन्ति] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं [ते] वे शत्रु [यम ऋत्वा] यमको प्राप्त करके [पराञ्च] पीठ मोड कर भागते हुए [व्यथन्तां] व्यथित होवें अर्थात् उनका दुर्दशापूर्वक नाश होवे। [एनान्] इन शत्रुओंको मैं [प्रतिसरेण] प्रति सरसे [हन्मि] मारता हूं।

प्रतिसर सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि जिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो।

> यद्वो ग्रीवा अबध्नात् पिशाचाः पृष्टीरपि यमेव समस्तीगमम्॥ अथर्व० ५।२९।९॥

[पिशाचा] हे पिशाचो ! [वः यद्] तुम्हारी गर्दनोंको [यमः] यमने [अबध्नात्] बांध डाला है। [पृष्टीः] हे

पीड़ा देनेवाली । [वः पृष्टीः अपि] तुम्हारी पसलियां भी वह दृढ (शृणातु) काट डाले । [विश्वतः वीर्या वीरुद् ।] सम्पूर्ण तथा वीर्यसे युक्त औषधि । [वः] तुम्हें [यमेन सं अजीगमत्] यमके साथ भली भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थ जहरीली औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है । यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

> यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः । देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथर्व० ६।९३।१ ॥

(यमः) यम, (मृत्युः) मृत्यु, (अघमारः) पापसे वा पापके कारण मारनेवाला, (निर्ऋथः) निरन्तर पीड़ा देनेवाला (बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) उठाकर फेंक देनेवाला, (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (ते) उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्) हमारे वीर सैनिकों को (परिवृञ्जन्तु) छोड देवें अर्थात् लड़ाई में हमारे सैनिकोंका विनाश न हो, अपितु उपरोक्त सब शत्रुसैनिकोंका विनाश करें । यहांपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें की गई है।

> ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व० ६।११०।२॥

(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत् में पैदा हुए हुए इस कुमारको (यमस्य मूलबर्हणात्) यमके मूलोच्छेदनसे हे अग्नि ! (परि पाहि) रक्षा कर । इसे मरनेसे बचा । (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व पापों विघ्नोंसे (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिए (नेषत्) ले चल । इसे सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घायु प्राप्त होवे ।

ज्येष्ठघ्नी—ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान ज्येष्ठका नाश करती है । इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका निम्न वचन है— ' ज्येष्ठं एवा अवधिष्मेति तज्ज्येष्ठघ्नी ' ।

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

विचृत्—विचृत स्वभाववाले, मूल नक्षत्रका नाम है । इसमें पैदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है । इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है— ' मूलं एवा अवृक्षामेति तन्मूलबर्हणी ' ॥

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

यहांपर यमका जो संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश करना है, उससे बचानेकी प्रार्थना है । एवं यम यहांपर विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है ।

> विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः ॥ अथर्व० १८।३।६२ ॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर भाग जाय । (अमृतं नः एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे । (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आ) बुढ़ापे तक रक्षा करे । (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण यमको मत जावें ।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चलकर दिखायेंगे, पर इसके साथ साथ यम नाश करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूं भी कह सकते हैं कि प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके अधिकारीका नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी बाकायदा प्रजा है, इसका लोक है, इसके दूत हैं, इत्यादि ।

अश्विनौ व यम ।

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना । तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ ऋ० १।११६।२॥

हे (शाशदाना) वीरताकी करनेवाले (नासत्या) अश्विनो (वीळुपत्मभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशुहेमभिः) शीघ्रगामी घोड़ोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तद् रासभः) वह रासभ अर्थात् गर्दभने जो कि तुम्हारे अश्विनोंको (सवारी है) (यमस्य) यमको (प्रधने आजौ) जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राम में (सहस्रे) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनो व यमकी लडाईका आलंकारिक वर्णन है । यम मारनेवाला है, और अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जिलाने वाले हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनोंके रासभकी जयका वर्णन है ।

शाशदाना—शद् धातुसे यह शब्द बना है। इसका अर्थ घोरताकी करनेवाला है ।

रासभ-गर्दभ, गधा। यह अश्विनौकी सवारी है देखो निघण्टु १।१५॥

अमुत्र भूयादध यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः यजुः २७।९; अथर्व० ७।५३।१॥

[बृहस्पते] हे बृहस्पति! [यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः] इस परलोकमें यमके कष्टसे [अमुंचः] हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने न पावे। [अग्ने] हे अग्नि! [देवानां भिषजा अश्विना] देवके वैद्य अश्विनौ [शचीभिः] अपनी शक्तियों से सामर्थ्योंसे [अस्मत् मृत्युं] हमारी मृत्युको [प्रत्यौहतां] दूर करें।

अश्विनौ मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं, ऐसा यहां पर व्यक्त होता है। यमकी हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अश्विनौका जिस यमसे मुकाबला पडता है वह भी यम वही है, जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यमकी ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम।

विष्टारिणं ओदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यम उपयाति देवान्तसं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथर्व० ४।३४।३

[ये] जो [विष्टारिणं ओदनं] विस्तारवाले अर्थात् फैले हुए ओदनको [पचन्ति]पकाते हैं [एनान्] उनको [अवर्तिः] दरिद्रता [कदाचन] कभी भी [न सचते] प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी गरीब नहीं होते। वह ओदन पाचक [यमे आस्ते] यममें स्थित होता है, [देवान् उपयाति] देवों को प्राप्त होता है और [सोम्येभिः गन्धर्वैः] सोम्य गधर्वों के साथ [संमदते] आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदन पाचक की यममें स्थिति होती है, ऐसा यहां दर्शाया गया है।

एवं [redacted] मंत्रमें विष्टारी ओदनकी महिमाका वर्णन किया गया है। यहां यमका अर्थ योगशास्त्रोक्त अहिंसादि पञ्चयम प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अर्थात् ४।३४।४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है–

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः। रथीह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ अथर्व० ४।३४।४॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदनको पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता। (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचरण करता है। अर्थात् वह रथादि यानों से संपन्न हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है। (पक्षी भूत्वा) पक्ष-पंखोंवाला होकर अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है। वह आकाश, भूमि आदि सर्व स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है। उसके जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं।

यम जो सबका सामर्थ्य हरण कर लेता है, वह भी इसका वीर्य नहीं हरता। इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदनकी महिमा गाई गई है। यमको भी इसके पाचकके साम ने हार माननी पडती है ऐसा इस सारे का अभिप्राय व्यक्त होता है।

विष्टारी ओदन- विष्टारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिमाण बडा विस्तृत है। ओदन शब्द यहांपर यज्ञ का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है। इस अन्नदानयज्ञकी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है।

यमका कर्ता अग्नि।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ० १०।५२।३॥

(अयं यः होता) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि है (स) वह (यमस्य किः) यमकी कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) अन्नका भी वहन करती है (यत्) जिस अन्न को (देवाः समञ्जन्ति) देव लोक खाते हैं। वह अग्नि (अहः अहः जायते), प्रतिदिन हवनके समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है। और यह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें वा प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है। (अथ) और (देवाः) देवगण

(हव्यवाहं) हव्यका वहन करनेवाली इस अग्निको (दधिरे) स्थापित करते हैं।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है। यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु को शुद्ध करती है। प्रचण्ड अग्नि के उद्दीप्त होनेपर हवा खूब जोर से चलने लगती है। इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये।

क्ष= अन्न। मास=मास तथा पक्ष।

यमकी वेडी।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥
॥ ऋ० १०।९७।१६॥ यजुः१२।९०॥
अथर्व. ६।९६।२॥ तथा ७।११२।२॥

(मा)मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवालेपापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें। (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबन्धी किए गए पापसे छुडावें। [अथ] और [यमस्य] यमकी [पड्वीशात्] पैरोंकी बेडियोंसे छुडावें। [सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्] सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें। पड्वीश= पादबंधन, शृंखला=पैरों की बेडी।

यत् त्वाहार्षं पञ्च शलादयो दशशलादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्॥
अथर्व० ८।७।२८॥

[त्वा] तुझे [पंचशलात्] पंचभूतमें होनेवाले पापसे [अथ उत] और [दशशलात्] दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे [अथ] और [यमस्य पड्वीशात्] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [विश्वस्मात्] सारे [देवकिल्बिषात्] देवोंके प्रति किए गए पापोंसे [उत् आहार्षं] बचाकर ऊपर ले गया हूं।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है। यहांपर भी यम मारनेवाला ही है, यह स्पष्ट पता चल रहा है। आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पड्वीश आदिका खुलासा स्वयमेव हो जाएगा।

वैवस्वत यम।

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० १०।५८।१॥

[ते] तेरा [यत् मनः] जो मन [दूरकं] बहुत दूर [वैवस्वतं यमं] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [जगाम] चला गया है, [ते तत्] तेरा वह मन पुनः [इह] इस लोकमें [क्षयाय] निवास करनेके लिए व [जीवसे] जीवन धारण करनेके लिए हम [आवर्तयामसि] लौटाते हैं।

यहांपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है। यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है। वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान् की संतान। इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लडका है। इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे।

क्षयाय=निवास करनेके लिए,रहनेके लिये। 'क्षि निवासगत्योः

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥
ऋ० १०।६०।१०

[अहं] मैं [वैवस्वतात् यमात्] विवस्वान् के पुत्र यमसे [सुबन्धोः मनः आभरम्] सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूं। किस लिए? [जीवातवे] इस लोकमें जीनेके लिए [मृत्यवे न] मरनेके लिए नहीं। [अथ] और [अरिष्टतातये] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है। यहांपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है। निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है। विवस्वान् कौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा। मंत्र इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
ऋ० १०।१७।१; अथर्व० १८।१।५३॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और वह का त्वष्टा विवस्वान् के साथ

विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-की पुत्री सरण्यू यमकी माता है व विवस्वान्‌की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम-का पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मन्त्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि 'यमस्यमाता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।' अर्थात् यमकी माता ब्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान्‌की जाया है नष्ट हो गई। 'आगे जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि 'रात्रि सूर्यकी जाया, सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है।'

इस प्रकार विवस्वान्‌का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुचते हैं– यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है। अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमन्त्रोंमें वैवस्वत'के नामसे पुकारा गया है। वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्यका नहीं, अत एव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उसीका ग्रहण होता है।

निम्न लिखित मन्त्रोंमें अकेले 'वैवस्वत' शब्दकाही प्रयोग है।

> भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्। भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥
>
> ऋ० १०।१६४।२॥

इस मंत्रमें दुष्ट स्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है। अर्थ इस प्रकार है–

सब लोग [वै] निश्चयसे [भद्रं वरं वृणते] कल्याणकारी वरको ही चाहते हैं। [दक्षिणं भद्रं] बढे हुए कल्याणसे ही अपना [युञ्जन्ति] योग रखना चाहते हैं [वैवस्वते भद्रं चक्षुः] विवस्वान्‌के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुसे अर्थात् उसकी कृपादृष्टिको चाहता हूं, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुचावे। क्योंकि [बहुत्रा] बहुतसे विषयोंमें [जीवतः] जीते हुए अर्थात् जागते हुए मेरा [मनः] मन उनमें विचरण करता रहता है, अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व आचरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आ सकता। दुःस्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है, यह उपरोक्त विवेचनसे सिद्ध हो ही रहा है, पर आगे चलकर 'यम व स्वप्न' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना सबन्ध है। दुःस्वप्न यमका साधन है अर्थात् दुःस्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु। यहांपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

> वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति। मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे॥ अथर्व० ६।११६।२॥

(वैवस्वतः) विवस्वान्‌का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे। [मधुभागः] उत्तम भाग करनेवाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हम भी उत्तम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वप्रिय बनें। (यद् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) माताके हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह (यद् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त शान्त होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हम यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है–

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अपहरण करनेवाला है।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है, अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका रहनेका कोई स्थान है या नहीं, वह प्राणियोंको मारकर कहां-पर लेजाता है, इत्यादि।

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके सम्बन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहांपर है, इसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है–

> उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ अथर्व० ६।११८।२॥

हे [उर्वरस्ये] उत्तमदृष्टिवाली तथा हे [राष्ट्रभृत्] राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाली अप्सराओ ! [किल्बिषाणि] सर्व पाप व (यत् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकारसे दो, उस पापको दूर करो । और (ऋणात् ऋणं एधमानः) ऋणसे ब्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (अधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । मरनेवाला यदि ऋण बिना चुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पड़ेगा । उत्तमर्ण वहांपर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा । ऋण लेना कितना कष्टप्रद है यह इससे पता चलता है ।

यथापाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥
अथर्व० १२।११।३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें लेना चाहिए । पूर्व मंत्र इस प्रकार है--

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह ॥
अथर्व० १२।११।२॥

हे [अघ्न्ये] अहिंसा करनेके अयोग्य ! हे देवी अघ्न्ये ! [ब्रह्मज्यं] ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घातकको [आमूलात्] जड़से लेकर ऊपरतक [अनुसंदह] संपूर्ण जला दे ॥ १२।११।२ ॥ (यथा] जिससे कि वह ब्रह्मघातक [यमस्य सादनात्] यमके सदनसे भी [परावतः] दूर स्थित (पापलोकान्) पापियोंके लोकको [अयात्] जावे ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंको यमलोकमें स्थान नहीं मिलता, वे उस यमलोकसे भी परे स्थित पापलोक में जाते हैं । इससे तथा यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त जन हैं । अतः यमलोक निकृष्ट स्थान नहीं है ।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
ऋ० १०।१३५।७ ॥

(इदं यमस्य सादनं) यह यमका घर है । (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार कहा जाता है । (अस्य इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है । (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुतियुक्त वाणियोंसे (परिष्कृतः) शोभित होवे ।

इन मंत्रोंसे हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है । निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहांका राजा है । उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पड़ा है । अतएव वह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे प्रसिद्ध है ।

पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते । यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥ अथर्व० १२।३।१ ॥

(पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष ! पुरुषोंका अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर । (चर्म) सुखको (इहि) प्राप्त कर । (तत्र) उस सुखमें (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे (ह्वयस्व) बुला । (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरनेसे पूर्व की आयु में(समेयथुः)प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अब का आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो ।

इस मंत्रमें बड़े महत्त्वका उपदेश है । सबसे पूर्व मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है । तदनन्तर गृह प्रवेश करके अपने अनुसार [illegible] चुननेके लिए कहा गया है । इसीसे स्वर्गतक जा सकते हैं । इस प्रकारके विचारके बाद पत्नी स्वीकृत करके अपने भविष्यको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करें । जिससे वे [illegible] यमलोकमें मिलेगा यह " तद् वां वयः यमराज्ये समानं " से दर्शाया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्री भी पतिके साथ यमलोकमें जाती है । अर्थात् जिनका यहां स्त्रियोंके प्रति इतना कर्तव्य है, उनका ही [illegible] और पारलौकिक [illegible] है ।

[illegible] ॥
अथर्व० [illegible] ॥

(अस्मिन् लोके) इस लोकमें (सं) अच्छी तरह या साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण करो। (उ) और (देवयाने) देवोंके मार्गमें (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यमराज्योंमें (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यत् यत् रेतः) जो वीर्य (त्वां अधि संबभूव) तुम दोनोंमें उत्पन्न हुआ है, (तत्) उस वीर्यको (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उपह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्यका उपयोग करो, व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मंत्रमें वीर्यके सदुपयोगके लिए गृहस्थ दंपतीको उपदेश दिया गया है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात यह दर्शाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिये कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोकमें या अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सकें। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्वका है। इसका मनन करना चाहिए।

> सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
> अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥
> अथर्व० १२।४।३६ ॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यमके राज्य में (प्रददुषे) प्रकृष्ट दानीके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामनाओंको (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई को (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशाको मांगे और उसको यदि न दी जावे तो न देनेवालेका (लोकं) लोकको (नारकं) महाकष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मन्त्रमें वशा गौकी महिमाका वर्णन है। वशा गौको दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती है और इसके प्रतिकूल मांगने पर न देनेवालेको नरक मिलता है।

> एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
> तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥
> अथर्व० १८।४।३१ ॥

हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्यमें (चर) विचरण कर।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है, उसको वस्त्र देनेका विधान है।

निम्न लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुषको तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है, तथा यमराजासे इनको इस पुरुषके देनेके लिए अनुमति मांगी गई है–

> यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
> तास्ते सन्तूद्भ्वीःप्रभ्वीः तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥
> अथर्व० १८।४।४३ ॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भ्वीः) उदय करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रामें (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देनेके लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्रमें यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है। ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है–

> धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
> तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥
> अथर्व० १८।४।३२

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों से बनी हुई कामधेनु ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किस रूप में परिणत हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है। इस देवेके अनुसार धान व तिल यमलोकमें पहुंचे हुए के लिए देने चाहिए

क्योंकि उसके जीनेके ये एकमात्र आधार हैं ।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है । यमराज्यसे भी यमलोकका ही ग्रहण है । वहीं पर यम मृतोंको ले जाकर रखता है ।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

> ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह । यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उपतिष्ठतामिह ॥ अथर्व० १८।२।३७॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं । क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यमलोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं, अपने राज्यसे नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग के अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ।

द्युलोकमें यमलोक ।

> नराशंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा । सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ऋ० १०।६४।३॥

(नरा शंस, पूषणं, अगोह्य, देवेद्ध अग्नि) नरोंसे प्रशंसा करनेयोग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसी अग्निकी (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुतियुक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है । (सूर्यामासा चन्द्रमसो) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यमकी, (त्रितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उषसं) उषाकी, (अक्तुं) रात्रिकी व (अश्विनी) देवोंके वैद्य अश्विनौ की भी स्तुति कर।

यहां पर इतना बताया गया है कि यमकी द्युलोकमें स्थिति है । पूर्व मंत्रमें यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है । इसका मतलब यह हुआ की द्युमें दक्षिणकी ओर कहीं पर यमलोक है ।

हमें पितृलोकके प्रकरणमें ' उदन्वती द्यौरवमा ' इत्यादि मंत्रसे पता चला था कि तीन द्यु हैं । उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं ।

पच गई वह यमलोकमें है, यह मानना पड़ेगा। तीसरी द्युमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं इस परिणामको निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥

यजुः १९।४५ ॥

(यम राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एक संकल्पवाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञः) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पताम्) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विफल न हों।

इस मंत्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी द्यु है। अतः वह द्यु यमके राज्यमें ही है, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसके साथ द्युलोक संबद्ध हो रहा है यह निम्नलिखित मंत्र बता रहा है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्र सूर्यस्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

उस विराट् बैलको (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्गस्थानीय हैं। (इन्द्रः शिरः) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र शिरः स्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका ललाट (माथा) है और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गर्दनका भाग है।

यमको विराट्की रचनामें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकरणसे हमें यमलोक, यमराज्य तथा उसकी स्थिति का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत ।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान्॥

अथर्व० ८।२।११

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपानको (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुको तथा

मर्त्य) भवकी मुट्ठी अर्थात् घूँसा (तृळेढु) चूर चूर कर डाले।

इस मन्त्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंसे कहा गया है। मारना यमदूतोंका कार्य है, यह यहां पर स्पष्ट हो रहा है। [redacted] प्रकार इन मन्त्रोंमें यमदूतोंका उद्देश व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत—श्वान (कुत्ते)

> अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ इस प्रकार है—

> अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ अथर्व० १८।२।११॥

(सारमेयौ) सारमेय, (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले, (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर (साधुना पथा) उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान या धन से उपेत—युक्त पितरोंके (उप इहि) समीप जा। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं।

सारमेयौ-सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है, उसके बच्चे। सरमा शब्द सृ गती धातुसे बाहुलकसे अम करने पर बनता है। जिसका अर्थ है 'बहुत दौडनेवाली'। उसका पुत्र सारमेय। लौकिक साहित्यमें सारमेयका अर्थ कुत्ता प्रचलित है। अस्तु। तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौडनेवाला ऐसा कर सकते हैं।

[redacted] मन्त्र में प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जा' जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं। यद्यपि इस मन्त्रमें यमके कुत्तोंको यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आनेवाले मन्त्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है। यहां पर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहां है।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥ अथर्व० १८।२।१२॥

(यम) हे यम! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिरक्षी) यमलोक में जानेके रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्या) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुचावें ऐसा कर। (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता—रोगरहितता दे। इसे कभी रोग न सतावें।

इस मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अकल्याण न होने देवे, सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे।

> उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ ऋ० १०।१४।१२॥ अथर्व० १८।२।१३॥

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणों के भक्षणसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत- उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं। ताकि अवसर मिलनेही उनके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करें। (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्य) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीनेके लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असु) कल्याणकारी प्राणको (पुन) फिर (दातॉ) देवें। वे हमारे प्राणोंको छीनकर हमें मार न डालें, अपितु उलटा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें।

इस मंत्रमें पूर्व पत्रोक्त यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है। वे लम्बी लम्बी नाकवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं। उनसे प्राणोंकी भिक्षा उत्तरार्ध में मांगी गई है।

> श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठ. पराङ् मनाः ॥ अथर्व० ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रंगबिरंगी (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा प्रापितौ) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानेकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं, उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है। इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा करके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है, वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्ता रात है और शबल कुत्ता दिन है। वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करनेके लिये लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर की कल्पनाको और भी दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णनका महत्व प्रतीत होने लगता है। श्वानका अर्थ है (श्वा = श्वः = कल, न = नहीं) जो आनेवाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न रहेगा। जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते। अब पाठक श्वान शब्द के महत्वको समझ गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको श्वानके नामसे कहा गया है और उससे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जावे तबतक निश्चयसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है। उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके भावको अंत्य मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीवपुरा इहि ॥
अथर्व० ५।३०।६॥

हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसारमें रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतोंके [मा अनुगाः] पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा। [जीवपुराः] जीवोंके पुरोंको अर्थात् शरीरोंको [अधि इहि] प्राप्त कर शरीर को छोडकर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपोषण किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

(१) यमके दूत दो कुत्ते हैं।

(२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले हैं।

(३) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है।

(४) उनकी तृप्ति प्राणोंके भक्षण से होती है। वे मनुष्यों के पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत ' मृत्यु '।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां-
चकार ॥ अथर्व० १८।२।२७ ॥

प्राणधारी लोगोंने इस शवको घरोंसे बाहर कर दिया है। उसको तुम लोग इस ग्रामसे बाहर अंत्येष्टि संस्कारके लिए श्मशानभूमिमें ले जाओ। यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणोंको पितरोंके पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि यह निगतप्राण हो चुका है, इस वास्ते इसके घरसे दूर बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, वह मृतके प्राणोंको पितरोंके पास पहुंचाता है। इसका आशय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्र भी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है, क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है।

पाठकगण यमके दूतों सम्बन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं। और भी अनेक दूत हैं। पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है। हम इस प्रकरणके प्रारम्भमें ही एक ऐसा मन्त्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं। उनका निर्देश मात्र है। विशयों का मात्र विगतवार वर्णन है। उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मन्त्रका मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं-

> नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्राः हन्यन्तां तृणढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
>
> अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें यमके अनेक दूत होनेका उल्लेख है।

यमका पितृयाणमार्ग जानना।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥
>
> ऋ० १०।१४।२॥
>
> अथर्व० १८।१।५०॥

(प्रथम यम) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है। (एषा गव्यूतिः) यह मार्ग किसीसे भी (अपभर्तवै न) अपहरण नहीं किया जा सकता। (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) गए हुए हैं। (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी मात्र (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति।

> नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्। यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥
>
> यजु० १२।६३॥

हे [निर्ऋते] निर्ऋति! [ते नमः] तेरे लिए नमस्कार है। [तिग्मतेज] उत्कट तेजवाली तू [अयस्मयं एतं बन्धं] लोहेके इस बन्धनको [विचृत] काट डाल। [त्वं] तू [यमेन यम्या संविदाना] यम व यमीके साथ मिलकर [एनं] इसको [उत्तमे नाके] उत्तम स्वर्गमें [अधिरोहय] पहुंचा।

इस मन्त्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है। अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए।

यमका दीर्घायु देना।

> कर्मो भागोऽय इम जजानाश्माऽन्नानामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥
>
> अथर्व १८।४।५४॥

[यः] जिस [कर्म भाग] अन्नके विभाग करनेवालेने [इम] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे [विश्वमित्राः] सबके मित्रो! [हविर्भिः] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो। [सः] वह [यमः] यम [नः] हमें [प्रतरं जीवसे धात्] बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु दवे।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा।

> सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥
>
> अथर्व० १६।४।४॥

[सूर्यः] सूर्य [अह्नः] दिवस अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टसे [मा पातु] मेरा रक्षा करे। [अग्निः] अग्नि [पृथिव्याः] पृथिवीसे, [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अंतरिक्षसे, [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्यों से तथा [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे।

यमकी मृत्युसे रक्षा।

> अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः ॥
>
> अथर्व० १९।२०।११॥

[यं पौरुषेयं वधं] जिस पुरुषसे की वधका अर्थात् पुरुष के खूनको शत्रुओंने [अपन्यधुः] छिपाकर किया है, उस वध के कारण होनेवाली [मृत्योः] मृत्युसे [इन्द्राग्नी]

इन्द्र और अग्नि, [धाता] धारण करनेवाला, [सविता] प्रेरणा करनेवाला,[बृहस्पतिः]वाणियोंका अधिपति,[सोम- राजा] सौम्य स्वभाववाला राजा, [वरुणः] वरुण, [अश्विना] देवों के वैद्य अश्विनौ, [यम-] यम तथा [पूषा] पोषक देव [अस्मान्] हमारी [परि पातु] रक्षा करें।

मंत्रोक्त प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिये कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यमके प्रकरणसे पता चलेगा। यहां पर सिर्फ थोडेसे मंत्रों का जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है, दर्शाए गए हैं।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋ० १०।१४।१॥

[प्रवतः] प्रकृष्ट, उत्तम तथा निकृष्ट योनिगत प्राणियोंका [अनु] लक्ष्य करे [महीः परेयिवांसं] पृथिवीपर आए हुए तथा [बहुभ्यः] बहुतोंके लिए [पन्थां] यमलोकके मार्ग को [अनुपस्पशानं] दर्शाते हुए [जनानां संगमनं] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [वैवस्वतं] विवस्वान् के पुत्र [यमं राजानं] यम राजा को [हविषा दुवस्य] हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्योंके पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। यहांपर उसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोकका मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥

ऋ० १०।१४।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥

अथर्व० १८।२।१॥

[यमाय सोमं सुनुत] यमके लिये यज्ञमें सोम को निचोड़ो। [यमाय हविः जुहुत] यमके लिये यज्ञ में हवि दो। [ह] निश्चयसे [अरङ्कृतः अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति] शोभित करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यमको जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥

ऋ० १०।१४।१४॥

अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है-

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥

अथर्व० १८।२।३॥

(यमाय) यमके लिये (घृतवत् हविः) घीसे परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो। और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ। (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घायुः आयमत्) दीर्घायुष्यको देवे।

इस मंत्रमें यमके लिये घीसे परिपूर्ण हविके देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है।

यमके लिये अन्नकी हवि

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्

अथर्व० ६।११६।१॥

(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् भूकृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्न की प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यद् यामं चक्रुः) जो यमसंबंधी अपराध किया अथवा [अन्नविदः न] अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह [यद् यामं चक्रुः] जो कृषिसंबन्धी नियमसमूह बनाया [तद्] उस अपराध अथवा नियमसमूहको [वैवस्वते राजनि] वैवस्वत राजा यमके [जुहोमि] देता हूं [अथ] और तब [नः] हमारा [यज्ञियं अन्नं मधुमद् अस्तु] यज्ञके योग्य जो अन्न है, वह मधुरतावाला होवे।

इस मन्त्रमें नवीन उत्पन्न अन्नका अंश यमके लिये देनेका निर्देश है।

यमकी पूजा।

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥ ऋ० १०।९२।११॥

(ते भूरिरेतसा द्यावापृथिवी) वे बहुत जलवाली द्यु और पृथिवी, (यम) यम, (अदितिः) अदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव, (द्रविणोदा) अग्नि, (ऋभुक्षण) ज्ञानी वा कारीगर गण, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (मरुत) देवगण तथा (विष्णु) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्गः) नराशंस चतुरंग यज्ञमें (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यमकी भी पूजाका उल्लेख है।

यमके लिये घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्चमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥
अथर्व० १८।४।५५॥

(यथा) जिस प्रकार (पञ्चमानवा) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्य) घरको (अवपन्) बनाया है, (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्य वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरय) बहुतसे घर (असत) हो जावें।

पञ्चमानवाः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देवमनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है– 'सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानां उक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च। एतेषां वा एतत् पञ्चजनानां उक्थम्' इति। ऐ ब्रा ३।३१॥

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बनावे। पञ्च मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा नमः।

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।४।७४॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधाका निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंकी चर्चा होगी।

स्वप्नका पिता यम।

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि
स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥
अथर्व० ६।४६।१॥

हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरा (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है।

देवानां—यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बना हुआ है। क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे यह उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृतगर्भसे कहा गया है।

अररु – पीडा देनेवाला, हिंसक। 'ऋगतिहिंसनयो' से बना है। तै ब्रा ३।२।९।४ के अनुसार अररु नामवाला असुर।

वरुणानी–वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मन्त्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाता है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्
प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्
त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥
अथर्व० १९।५६।१॥

हे स्वप्न ! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (आ अधि बभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ तू (प्रमदा) बडे अभिमानसे (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्योंको (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है- अर्थात् अपने

प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (असुरस्य योनौ) आत्माके उपलब्धि के स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्युके साथ [सरथं] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [यासि] विचरण करता है।

पूर्व मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

स्वप्न, यम का करण।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि
यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं
त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्व-
प्न्यात् पाहि॥ अथर्व० ६।४६।२॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [देवजामीनां पुत्रोऽसि] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [यमस्य करणः] यमके कार्योंका साधक है। तू [अन्तकः असि] अंत करनेवाला है। [मृत्युः असि] तू मारनेवाला है। हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझको [तथा] वैसा उपरोक्त जैसा [सं विद्म] हम जानते हैं। [सः] वह तू स्वप्न! [नः दुष्वप्न्यात्] बुरे स्वप्न से हमारी [पाहि] रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में ' देवजामीनां पुत्रः असि ' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं। स्वप्न उनका पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— ' साधकतमं ' (अ०१।४।४२) अर्थात् जो कार्यसाधनमें समीपतम साधन है, वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विशेषण से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भावको [illegible] नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्रहिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥ अथर्व० १९।५७।३॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी-अनिष्टकारी अंश है [तत्] उस अंशको [द्विषते] द्वेष करनेवालेके प्रति [प्रहिण्मः] हम भेजते हैं। [तृष्टानां] तृषितों-लोभियों-क्रूरोंके बीचमें [कृष्णशकुनेः] काले पक्षीके [कौएके] [मुखं] मुखकी तरह तू [मा असि] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः॥ अथर्व० १६।५।१॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [ग्राह्याः पुत्रः असि] ग्राही का पुत्र है और [यमस्य करणः] यम के कार्योंका साधक है।

इस मंत्र में स्वप्नको ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया [illegible] आदि शरीरके जकडनेवाले रोग ' ग्राही ' कहलाते हैं। उन रोगोंके कारण शरीर में पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नवाली अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा गया है। यमका करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ अथर्व० १६।५।१;
१६।५।३

हे स्वप्न! तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥

अथर्व० १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। वहां पर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है। निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्रा-का अभाव होता है। और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋति-का पुत्र कहा है। शेष मंत्रकी व्याख्या पूर्ववत् ही है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करण । अन्तकोऽसि० इत्यादि अथर्व. १६।५।४ वत्॥

अथर्व० १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य दारिद्र्य का पुत्र कहा है। दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्य-को निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न (वास्तविक निद्राके न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करण. । अन्तकोऽसि० । इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व० १६।५।६ ॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है। निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निकल जाना, नष्ट हो जाना। संपत्तिशाली की संपत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करण. । अन्तकोऽसि० । इत्यादि ॥

अथर्व० १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कार को प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कारसे मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिये निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होता है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करण. ॥

अथर्व० १६।५।८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं। देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस प्रकार है, यह वहां विशदरूपसे दर्शा आए हैं।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्नका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। स्वप्न यमलोकमें रहता है, वहांसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ है, उसका पिता यम है, वरुणानी उसकी माता है। वह अपने पिता यमके कार्यका निकटतम साधक है। इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है। इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं। यमविषयक पूर्व स्थापना को ये मंत्र भी पुष्ट कर रहे हैं, यह पाठक विवेचना से समझ सके होंगे।

अब यहां यम विषयक वे मंत्र दिए जायगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शामील नहीं किए जा सके हैं। इस प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यमसे ही सम्बन्ध रखते हैं, यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए। और यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद यम अन्य अर्थोंवाला हो। अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे अंतमें 'भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम' नामक शीर्षकमें देंगे।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

अथर्व० १८।३।१३

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्रेयाय) इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्‌के पुत्र यमराजाको (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो।

इस मन्त्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता है वह इस कल्पमें यम बनता है।

सङ्गमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजाकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिये।

यम व विवस्वान्।

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥
अथर्व० १८।२।३२॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं या नहीं समझता हूं। (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है। (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इषुमान् यम।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥
अथर्व० १२।३।५५॥

[दक्षिणायै दिशे अधिपतये] दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए [तिरश्चिराजये रक्षित्रे] कीट पतङ्गादि तिर्यङ् गमन करनेवालोंसे रक्षा करनेवाले [इषुमते इन्द्राय यमाय] बाण धारक ऐश्वर्यशाली यमके लिए [एतं त्वा] इस तुझको [परिदद्मः] सौंपते हैं। [अस्माकं ऐतोः] हमारी गतिके [तं] उसकी तथा [नः] हमारी [गोपयत] रक्षा कर। (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेषत्) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् नसीब हमें यहां बुढापे तक पहुंचावे। (नः) हमें (जरा) बुढापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको सौंपे अर्थात् वृद्धावस्थासे पूर्व हमारी मृत्यु न हो। (अथ) मरनेके बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें।

यमका अग्निको स्थिर करना।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥
अथर्व० १२।२।५४॥

[इन्द्रः] इन्द्रने [जरतीं इषीकां]-जरती इषीकासे [इष्ट्वा] याग करके और [तिल्पिञ्जं] तिल्पिञ्ज, [दण्डनं] दण्डन व [नडं] नडको [इध्मं] समिधा बना करके [यमस्य] यमकी [तं अग्निं] उस अग्निको [निः आदधौ] निश्चयसे स्थापित किया।

जरती इषीका = बूढे अर्थात् सूखे हुए काने।

तिल्पिञ्ज- तिलोंके गुच्छे। दण्डन- यह भी एक प्रकारकी कानेकी जातकी वनस्पति है। नडनके जिसकी कलमें बनती हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन चीजोंसे याग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवी वर्चो
अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय
सादये ॥ अथर्व० १०।५।१२ ॥

हे जलो! तुम [यमस्य भाग स्थ] यमके भाग हो। [देवीः आपः] हे दिव्य जलो! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [वः] तुम्हें [प्रजापतेः धाम्ना] प्रजापतिके तेजसे [अस्मै लोकाय सादये] इस लोकके लिए स्थित करता हूं।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज मांगनेकी प्रार्थना की गई है।

...यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः
स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३५ ॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है, ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशा में बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

... .. ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः
स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३६ ॥

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता है ऐसे तथा (दक्षिणसदः) दक्षिण दिशामें बैठने-वाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

... यमस्य त्रयोदशी... ॥ यजु० २५।४ ॥
यमकी त्रयोदशी है।

...यमाय कृष्णः यजुः २४।३० ॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है; यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम् ॥

[तस्याः] उस विराड्रूपी गौका [यमः राजा] यम-राजा [वत्सः आसीत्] बछडा था व दूध दोहने के लिए [पात्रं] बरतन [रजतपात्रं] चान्दीका बरतन था।

यहांपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहां दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर व्यक्त नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अवतक के विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकोंके ध्यानमें सहज आगया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। उसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन्
ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठा-

यामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व० ५।२४।१४॥

[सः पितृणां अधिपतिः] वह पितरोंका स्वामी [राजा] [यमः] यम [मा अवतु] निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा करे । (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें । (अस्मिन् कर्मणि] इस श्रेष्ठ कर्ममें । [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहिताईके काम में । (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्य में । [अस्यां चित्यां] इस चेतनायुक्त कार्योंमें । [अस्यां आकूत्यां] इस संकल्पमें । [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वादके कार्यमें । [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आवाहनके कार्योंमें ।

इस मंत्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है । पितरोंके ऊपर यमके अधिकारको यहां पर स्पष्ट किया गया है । यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है, यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है-

स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽ-
नुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥
अथर्व० १५।१४।१३॥

(सः) वह व्रात्य (यत्) जब [पितॄन् अनुव्यचलत्] पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब [यमः राजा भूत्वा] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के लिए [स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा] स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ [अनुव्यचलत्] वह व्रात्यके पीछे पीछे पितरों में आया ।

व्रात्य नाम अतिथि का है । यहांपर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है, यह दर्शाया गया है ।

पितरोंका यम राजा है, इस बातकी निम्न मंत्रभी पुष्टि कर रहे हैं ।

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥
अथर्व० १८।२।२५ ॥

[त्वा वृक्षः] मा संबाधिष्ट] तुझे वृक्ष अर्थात् वनस्पतियां बाधा मत पहुंचाव । वृक्ष यहां वनस्पतियोंका उपलक्षण है । [देवी मही पृथिवी मा] और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे बाधा मत पहुंचाए । [यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके [एधस्व] वृद्धिको प्राप्त हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया गया है । पितर यमकी प्रजा हैं । यमराज्यमें भी पितर रहते हैं, इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है । यह मंत्र प्रेतको लक्ष्य करके कहा गया है । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी उपरोक्त मंत्रके भावको पुष्ट किया गया है ।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥
अथर्व० १८।२।४६ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे प्रेत ! तू [अपरिपरेण पथा] अकुटिल मार्ग द्वारा [यमराज्ञः पितॄन्] यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको (गच्छ) को, प्राप्त हो ।

अपरिपरः - परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः=अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता या शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर ।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है, वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है ।

यम--श्रेष्ठ पितर ।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व० ११।६।२३ ॥

[सप्त ऋषीन्] सात ऋषियोंको [इदं ब्रूमः] यह कहते हैं । (देवीः अपः) दिव्य जलोंको हम कहते हैं । [प्रजापतिं] प्रजापतिको हम कहते हैं और [यमश्रेष्ठान् पितॄन्] यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] उपरोक्त सब [नः] हमें [अंहसः मुञ्चन्तु] पापसे छुडावें ।

यहांपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है । यहांपर यमका अर्थ योगमें कहे गए अहिंसा, अस्तेय आदि भी हो सकता है । जो इन पट् यमोंके पालनेसे श्रेष्ठ हुए हैं । वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है । अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसा भी होगा ।

अस्तु। उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं।

यम व पितरोंके सहकार्य।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं।

यमके साथ हवि खाना।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं
वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः
प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० १०।१५।८॥ यजु० १९। १५१॥

(ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानको (अनु ऊहिरे) किया था, (तेभि') उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे
सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्यु-
शन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८।३।४६ ॥

इस मन्त्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ० १०।१५।८ के साथ सर्वथा मिलता है।

(नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-संपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनुजहिरे) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ० इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मन्त्रमें भी प्रथम मंत्रोक्त बातको ही पुनः कहा गया है। इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि लेनेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं।

यम व पितरोंके साथ जाना।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण
एहि। सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योना-
स्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥
अथर्व० १८।२।२१ ॥

(ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूं। (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरोंसे (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ। तू (पितृभिः)पितरोंके साथ [सं गच्छस्व] विचरण कर। (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर। [स्योनाः] सुखदायक, [शग्माः] शक्तिशाली [वाताः] वायु [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहें।

यहांपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं।

पितर व यमका मिलकर सुख देना।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि
पात्रमेतत्। तस्मिन् वां यमः पितृभिः संवि-
दानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात्
अथर्व० १२।३।८ ॥

[दक्षिणा दिशं] दक्षिण दिशाकी [अभिनक्षमाणौ] ओर जाते हुए तुम दोनों [एतत् पात्रं अभि] इस पात्रकी ओर [परि आवर्तेथाम्] लौट आओ। [तस्मिन्] उस पात्रमें [पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनोंको (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नियच्छात्) देवे।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है। यहां पात्र शब्दसे किसका अभिप्राय है, यह व्यक्त नहीं होता।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधिरोहये-
मम् ॥ अथर्व० ६।६३।३ ॥
६।८४।४॥

(१६) यहां [अभिहितः] बन्धनमें स्थित हुई हुई हे निऋति! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकड़ी की बनी हुई बेड़ीमें (बेधिषे) बांधती है। (त्वं) तू [यमेन पितृभिः सं विदानः] यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमतिसे

[इम] इसको [उत्तम नाक अधिरोहय] उत्तम स्वर्गमें पहुंचा।

निर्ऋतिसे यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोंसे मिलकर स्वर्गमें पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किस प्रकार स्वर्गको पहुंचाती है, उसका स्वर्गसे क्या तात्लुक है यह विचारणीय है।

पितरोंका स्थूणा धारण करना व यमका स्थान देना।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ ऋ० १०।१८।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ अथर्व० १८।३।५२॥

(ते) तेरे लिये (पृथिवी) पृथिवीको (उत् स्तभ्नामि) ऊपरको उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर उस (लोगं) मिट्टीके ढेलोंको जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खम्बेको तेरे लिये (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) और उस आधारस्तम्भपर (ते) तेरे लिये (यमः) यम (सादना घरोंको (मिनोतु) बनावे।

आङ्गिरस् पितर व यम।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।३॥

यह मंत्र पाठान्तरसे अथर्ववेदमें है—

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य खानेवाले पितरोंसे, (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) आङ्गिरस् पितरोंसे तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं, (अन्ये) उनमेंसे अन्य मातली, यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) वषट्कारसे दी हुई हविसे प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इनसे भिन्न दूसरे कव्य आङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकारसे प्रसन्न होते हैं।

अथर्ववेदमें जो थोडासा पाठभेद है वह इस मंत्रके अर्थको अधिक-स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

- इन्द्र कव्य पितरोंसे, यम आङ्गिरस् पितरोंसे तथा बृहस्पति ऋचाओंसे स्तुति करनेवाले पितरोंसे बढता है। जिन पितरोंको वे उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको वे उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम आङ्गिरस् पितरोंसे बढता है यानि यशस्वी होता है।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१४।४
अथर्व० १८।१।६०॥

हे यम! (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) आङ्गिरस् पितरोंसे मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वा कविशस्ता मन्त्राः) तुझे कविशस्त मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्त मन्त्र- कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोगोंसे जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र, प्रशंसनीय मंत्र। इस मंत्र में प्रशंसापरक मंत्रोंद्वारा यमके आङ्गिरस् पितर के साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना।

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है—

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ अथर्व० १८।१।५९॥

हे यम! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियेभिः) पूजनीय यज्ञके योग्य (अङ्गिरोभिः) अंगिरस् पितरोंके साथ (इह आगहि) इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व प्रसन्न) हो। (विवस्वन्तं हुवे)

मैं विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करें।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

अबतक के इन मंत्रोंसे अंगिरस् पितर व यमके संबन्धका व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करें। अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

१ नियमन अर्थ में यम।

इस विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु
> मनसे हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि
> श्रवो देवभक्तं दधानाः ॥ ऋ० १।७३।१० ॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ! (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न वा धन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्र्यका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। श्रवः=अन्न। निघण्टुः—२। ७॥ श्रवः धन। निघ० २।१०

> यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा
> वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः सचा
> यमस्य जातममृतं यजामहे ऋ० १।८३।५॥

(अथर्वा) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक चमकीला सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविको पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणोंको फेंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदयका वर्णन है। सचा—सह। निघ० ४।२॥

> यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो
> अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्
> सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० १।१६३।२ ॥
> यजु० २९। १३ ॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे को बनाया यानि उत्पन्न किया। फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोडेको (त्रित॰) तीनों कोशोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा (इन्द्रः एणं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ। (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात) गन्धर्वने उस घोडेको लगाम पकडी। रशना = घोडे बाधनेके रस्सी।

२ जीवात्मा अर्थ में यम।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥
> ऋ० १०।१३५।१ ॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोंपेत इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) सांसारिक सुखदुःखों का उपभोग करता है, (अत्र) उस संसाररूपी वृक्षपर [विश्पतिः] मनुष्य प्रजाका रक्षक [पिता] उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भक्ति करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलतासे कामना करता है।

३ ज्ञानेन्द्रियां—यम।

> इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः।
> तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥
> अथर्व० १०।८।५ ॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) इस बातको तू भली प्रकार समझ कि (षट् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषां यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मामें ये छः मनसहित ज्ञानेन्द्रियां (ह) निश्चयसे (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

४ आचार्य यम।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ अथर्व० ६।१३३।३ ॥

(यत्) क्योंकि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं, अतः (भूतात् पुरुष) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) मांगता हुआ आया हूं। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा, श्रमेण श्रमद्वारा तथा(अनया मेखलया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

५ वायु-यम।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा।
स्वाहा घर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ यजु ३८।९॥

इस मंत्रकी शतपथ १४।२।२।११ में व्याख्या है। वहां पर यमका अर्थ निम्नलिखित किया गया है-'यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति। अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमत इति.. ॥' तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ (पितृमते आङ्गिरस्वते यमाय त्वा स्वाहा) पितृमान् अंगिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा करके दी गई आहुति हो। (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा। (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा।

६ सूर्य-यम।

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे।
देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सँ स्पृशस्पाहि
अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि यजु. ३७।११॥

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है-'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति॥ श० १४।१।३।४॥ शतपथके इस वचनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-(यमाय त्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय त्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे। तू (पृथिव्याः सस्पृशः पाहि) पृथिवीके संस्पृश् अर्थात् उपद्रवजन्य संस्पर्शोंसे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान(असि)है। (शोचिः असि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है। (तपः असि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितरविषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेंगे इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे,जिससे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोंके सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त।

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहिले विचार किया जा चुका है, तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इसीलिए पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुएं मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मन्त्रोंके अर्थोंकी कसौटीके लिए हम यहां साधन उपस्थित नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहां विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ क्रमानुसार इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद मं० १० । सू० १४

१-१६ यम ऋषिः। देवताः—१-५, १३-१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ता। ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०-१२ श्वानौ।

> परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
> वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥
>
> ऋ० १०।१४।१

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको, उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः) भूमिप्रदेशोंको (अनुपरेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्‌के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाको (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर। " प्रवतः महीः अनुपरेयिवांसं " इसका अभिप्राय यह है कि सबको उनके कर्मानुसार उचित स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मन्त्रभागका अर्थ यूं भी किया जा सकता है— (प्रवतः अनु महीः परेयिवांसं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्यसे पृथिवी पर आए हुए यमको इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमनं' कह कर रहा है।

" बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम् " इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है, तब उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥
>
> ऋ० १०।१४।२॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं— (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोक्त 'जनानां सङ्गमनं यमं राजानं'का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिये जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि

वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही। इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और जात प्राणिमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' अनाना संगमनं ' कहा है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है।

अगले तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरु होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व आङ्गिरस् पितरोंकी चर्चा है।

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ऋ० १०।१४।३॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्योंसे, (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पति ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचासंबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवोंने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं, उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) वषट्कार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और अन्ये दूसरे कव्य, आङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पादसे भिन्न है। अथर्ववेदके पाठानुसार कव्य, अङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है- 'ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु।' अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, आङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य— पितरोंको प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम ' कव्य ' है। देवोंके लिये दी जाती हवि ' हव्य ' के नामसे कही जाती है। दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए पितरोंकी हविको कव्यके नामसे कहा गया है तथापि कई स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरोंका ग्रहण है।

> इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व॥ ऋ० १०।१४।४॥

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्तदर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्रमें यमका अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजानेका वर्णन है। उसको मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रोंसे उनका व यमका संबन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्रके भावको अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है-

> अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० १०।१४।५॥

हे यम ! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] आङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे विवस्वान(सूर्य)को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञमें यम व अंगिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् [सूर्य] है, उसे भी यज्ञमें यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।१।५९] में भी आया है।

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अंगिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अंगिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह आंगिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभसंकल्पों में (स्याम) होवें

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवग्व शब्दोंके निर्वचन निम्न लिखित किए हैं-

नवग्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा ।

नि० ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं- 'नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रम नुतिष्ठवन्तः।' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इसका नाम नवग्व है।

अथर्वा- अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः। निरु० ११।२।१८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है। अस्थिर - चलायमान। इससे उलटा अथर्वा निश्चल।

भृगुः- अर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। निरु० ३।३॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओंमें पैदा हुआ था भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः--सोमसंपादिनः। निरु० ॥ जो यज्ञमें सोमरस तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मंत्रोक्त ' वैरूपैरिह मादयस्व' में अङ्गिरस् पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि आङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकारसे हैं। मंत्रके उत्तरार्धमें उनकी नेक सलाहमें रहने को कहा गया है। यह मंत्र अथर्व (१८।१।५८) में तथा यजुर्वेद (१९।५०) में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मंत्र से अङ्गिरस् पितरका जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त होता है।

अब अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरणका निर्देश करते हुए मृत पुरुषकी आत्माको यमलोकमें जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन करनेके लिए कहा गया है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ० १०।१४।७॥

हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यम वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावको बिलकुल व्यक्त कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्योंकि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है, यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रोंके भावको जिस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है, वह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः

ऋ० १०।१४।८॥

हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्यागकर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्तिसे युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके

संसारमें विचरण कर।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातको पूर्णरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यमलोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्तके साथ जानेका कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

> अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
> आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
> वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
> अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥

(अप इत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान दिया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है।

अवसान = समाप्ति। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।५५] में भी है।

अब यमके दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है।

> अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय, चार आखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा। [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंको [उप इहि] प्राप्त हो। [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय— सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे अच करनेपर बनता है, जिसका अर्थ है बहुत दौडनेवाली। उसका पुत्र सारमेय। सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। यमके कुत्तोंका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं, तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्रमें यम व पितरोंका संबन्ध भी स्पष्ट हो रहा है। अगले मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वे इस जीवको उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करें।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥

हे यम! [ते] तेरे [यौ] जो [रक्षितारौ] रक्षा करनेवाले [चतुरक्षौ] चार आंखोंवाले [पथिरक्षी] यमलोक में जानेके मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन्! [ताभ्यां] उन दोनों कुत्तों द्वारा [एनं] इस जीवको [स्वस्ति] कल्याण [देहि] प्रदान कर। [च] और [अस्मै] इस जीवके लिए [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [धेहि] धारण कर। इसे नीरोगी बना।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥
ऋ० १०।१४।१२

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातां) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।१२) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व० ८।१।९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वानविषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी
श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥
अथर्व० ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानेकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थिर हो। अर्थात् संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२ वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें जो यमके श्वानोंके लिए विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रात का वर्णन इन मंत्रोंमें है। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायेंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन व रात सारमेय भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। ये शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है, व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। ये नृचक्षस अर्थात् मनुष्योंको देखने वाले भी हैं। ये असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात-उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे वे प्राण मिले कि उस मनुष्यका दिन रातसे पीछा छूटा। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं? परंतु पाठकोंको यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पनाको विशेष दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंकाका तो उत्तर मिलही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वानका अर्थ है-(श्वा = श्वः = कल न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज है वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आयंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके श्वानविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने, यज्ञ करने आदिका निर्देश है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥

ऋ० १०।१४।१३॥

(यमाय सोमं सुनुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो। (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलङ्कृत किया हुआ, (अग्निदूतः अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है।

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए। यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है।

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।२।१] में है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥

ऋ० १०।१४।१४॥

[यमाय] यमके लिए [घृतवत् हविः] घीवाली हवि [जुहोत] प्रदान करो। और हवि देकर [प्रतिष्ठत] प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनका लाभ करो। [सः] वह यम [प्रजीवसे] अच्छी प्रकारसे जीनेके लिए [देवेषु] देवोंमें [नः] हमें [दीर्घायुः] लम्बी आयुष्य [आ यमत्] देवे।

यमके लिए घीसे मिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा वा दीर्घ जीवन प्राप्त करो। यमको हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है। यह मंत्र भी अथर्व० [१८।२।३] में कुछ पाठभेदके साथ आया है।

[*टिप्पणी*— ' प्रतिष्ठत ' — ऐसा प्रतीत होता है कि यमके लिए घीवाली हवि देनेसे मनुष्यकी सांसारिक व पारलौकिक स्थिति सुदृढ हो सकती है।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥

ऋ० १०।१४।१५॥

[यमाय राज्ञे] यम राजाके लिए [मधुमत्तमं हव्यं] अत्यन्त मधुर हव्यको [जुहोतन] प्रदान करो। [पथिकृद्भ्यः] रास्ता बनानेवाले मार्ग प्रदर्शक [पूर्वजेभ्यः] जो सब से पूर्व उत्पन्न हुए हैं व [पूर्वेभ्यः] हमसे पूर्वके हैं ऐसे [ऋषिभ्यः] ऋषियोंके लिए [इदं नमः] यह नमस्कार है।

इस मन्त्रमें यम राजाके लिए मधुरतम हवि देनेका व प्राचीन ऋषियोंके लिये नमस्कार का विधान है। इस प्रकार इस प्रशंसापरक यमका वर्णन करनेके बाद अन्तिम मंत्रमें उपसंहार करते हैं। इस उपसंहारके मंत्रमें उस यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] का वर्णन है।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥

ऋ० १०।१४।१६॥

[एक इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुकोंसे [षट् उर्वीः] छहों उर्वियों को [पतति] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप् गायत्री आदि [ता सर्वा छंदांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्ता परमात्मामें [आहिता] स्थित हैं।

षट् उर्वी– द्यु, पृथिवी, आप, ओषधी, दिन व रात ये छः उर्वियां हैं। सायणाचार्यने त्रिकद्रुका अर्थ यागविशेष करके लिया है। छहों उर्वियोंमें वह यम व्याप्त है, इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम [नियामक परमात्मा]में स्थित हैं।

संसारमें हम देख रहे हैं कि परमात्माकी भिन्न भिन्न शक्तियां अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियां यद्यपि अन्तमें परमात्मामें ही समाविष्ट होती हैं, तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये परमात्माकी शक्तियां होती हुई भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती [illegible] संसार में कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्माकी ही भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् इनके नामसे परमात्माकी ही सत्ता व महत्ताका बोध होता है, जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मंत्र ४६ दर्शा रहा है

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १।१६४।४६

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि की सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंसे इनकार करना है। उपर्युक्त मंत्रमें मित्र इंद्र आदि परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंके रूप ही गिनाए गए हैं। यमका सर्वत्र अर्थ वायु करनेका यह मंत्र निषेध करता है। इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह

परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है। यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है। कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियोंसे भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्तके अंतमें इस शंका के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार करते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है। इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है, पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है। हमारे ख्यालमें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्तके साथ संगति है। यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है,सूक्ष्म पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

प्रथम मंत्र।

१ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं।

द्वितीय मंत्र।

४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना।
५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकता। अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पड़ता है।
६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं।

तृतीय मंत्र।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढ़ता है।

चतुर्थ व पंचम मंत्र।

८ यमको अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है।
९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं।

१० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है।

षष्ठ मंत्र।

११ अङ्गिरस् पितरोंके नाना रूप नवग्व, अथर्वन्, भृगु आदि हैं।

सप्तम मंत्र।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है।
१३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं।

अष्टम मंत्र।

१५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं। वह अपने इष्टापूर्त को साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है।
१६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है।

नवम मंत्र।

१७ श्मशानभूमिसे विघ्नकारियों को भगाया जाता है।
१८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते।

दशम मंत्र।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वयं चितकबरे हैं।
२० मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है।
२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं।

एकादश मंत्र।

२२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं।
२३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं।

द्वादश मंत्र।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं।
२५ प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं।
२६ ये श्वान यमके दूत हैं।
२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं।
२८ यमके दोनों श्वानोंमेंसे एक काला व दूसरा चितकबरा है।
२९ संभवतः ये यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं।

त्रयोदश मंत्र।

३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोड़ा जाता है व हवि दी जाती है।

३१ अग्निको अपना दूत बनाकर [illegible] यमके पास पहुंचता है।

चतुर्दश मंत्र।

३२ यमके लिए घीमिश्रित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

३३ यम देवोंमें जीनेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

३४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिये।

३५ पूर्वज सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

३६ छहों उर्वियोंको अकेले ही उस महान् ब्रह्मने व्याप्त कर रखा है।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम (सर्व नियामक-परमात्मा) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं।

२ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मन्त्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मन्त्र स्वयं करता है।

> उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यामाः पितरः सोम्यासः।
> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
> ऋ० १०।१५।१॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो ! [उदीरताम्] उन्नतिको प्राप्त होओ। [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं [ते] वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अनमित्राः—शत्रुरहित।

उदीरताम्= उत् ईरताम्। उत् उपसर्गपूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

'असुं य ईयुः' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है। यह मन्त्र अथर्ववेद(१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९।४९) में भी आया है।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥
> ऋ० १०।१५।२।

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [इदं नमः अस्तु] यह नमस्कार हो। किन पितरों के लिए ? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [उपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि पितर [आ] [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चय से [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल या धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं।

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य सम्पन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टुमें मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २।३ वृजनका अर्थ निघण्टुमें बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २। ९॥ इस मन्त्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित,मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस वक्त मृत ही हैं। जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे [illegible] जीवितोंमें गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है ।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अविक्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अविक्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें ।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं। स्वधाके साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्रः—सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० अ० ६। पा० २। खं० १४। सुविदत्रका अर्थ निघण्टुमें धन भी है। निघ० ७।१०॥ पित्वः = पितु+अस् = पित्वः = अन्नका। नपात = न पातयति = जो न गिरावे ।

' आहं सुविदत्रान् पितॄन् अविक्सि ' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।४५] में तथा यजुर्वेद [१९। ५६] में आया है ।

> बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषद् पितरो ! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं, उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुखवियोग (दधात) दो ।

बर्हिषद् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। व हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ।

बर्हिषदः— बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है। अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पड गया ऐसा प्रतीत होता है। बर्हिष् = अंतरिक्ष। निघण्टु १।३॥ बर्हिष् = जल। निघण्टु– १।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार ' बर्हिषदः ' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु–३।३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशा-घास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषद् पितरोंके विषयमें विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे ।

शंयोः— शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ अरपः – रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥निरुक्त० ४।३।२४॥ न रपः = अरपः— पापरहित। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है ।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु । त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ० १०।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें (उपहूता) बुलाए गए हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य— बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी। सोम्यासः– यास्काचार्यने निरुक्तमें ' सोम्यासः ' का अर्थ ' सोम का संपादन करनेवाले ' ऐसा किया

है। निधिः — निधिः शेवधिरिति । निह० अ० ४। पा० ३। खं० ४। अर्थात् सुख का भण्डार।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।३।४५) में है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ० १०।१५।६॥

(विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दांई ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

हे पितरो ! दांई ओर दायां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य- इसका अर्थ हमने 'दायां घुटना टेककर' ऐसा किया है, जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है— 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्यो-पासीदंस्तानब्रवीत् ..' इत्यादि। शतपथ २।४।२।२ ॥

इस मंत्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा 'आच्याजानु' से प्रतीत होता है। मृत पितर देहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है।

> आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ० १०।१५।७ ॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञ में प्रदत्त की गई आमकी गाढ लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी- यद्यपि निघण्टु १।१५ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहांपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसे ही अभिप्राय है। ऊर्ज — अन्न। निघण्टु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८। ३। ४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

> ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० १०।१५।८ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यज्ञके साथ सोमपान करने या हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मणोंके वचन हैं—

(१) यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठ ॥ श०८।१।१।६ (२) येन वै श्रेष्ठः तेन वसिष्ठ ॥ गो. उ. ३।९ (३) एष (प्रजापति) वै वसिष्ठ ॥ श० १४।९।२।२ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः॥ श० ८।१।१।६ (५) स ह वागुवाच (हे प्राण !) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥ श० १४।९।२।१४ (६) आसरं दवानो वसिष्ठ ॥ ऐ० १।२८ यह वचन ऋ० ३।६।१ पर है। (७) वार्षं वसिष्ठा ॥ श० १४।९।२।२॥

इस वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थभी किया जा सकता है । वसु नाम धनका भी है । तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है ।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते ।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है । यह मंत्र यजुर्वेद (१९ । ५१) में आया है ।

निम्न दो मंत्रों (११।१२) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है—

> ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः । आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।९॥

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमतष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृपुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः, कव्यैः घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी [कव्यैः] कव्यनाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविका, उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ ।

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ।

घर्म–यज्ञ । निघण्टु ३।१७॥

अर्क– मंत्र, स्तोत्र । अर्कके अनेक अर्थ हैं– ' अर्को देवो भवति, यदेनमर्चंति । अर्को मंत्रो भवति यदनेनार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति, संवृतः कटुकिम्ना । निरुक्त ५।१।५ ॥ सुविदत्रः– सुविदत्रः कल्याणविद्यः । निरुक्त ६।३।१४ ॥ इसका अर्थ धन भी है । निरुक्त ७।३।९ ॥

इस मंत्रके ' देवत्रा जेहमानाः ' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंका ही आवाहन किया गया है ।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः । आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।१० ॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं, ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ ।

देवोंके साथ एकरथाल्य अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है ।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते । इसके सिवाय यहां एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते । दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है । वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं । उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए, ऐसा इसका अभिप्राय हुआ । इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है ।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः । अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ० १०।१५।११ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले [अग्निष्वात्ताः पितरः] अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] इस यज्ञमें [आगच्छत] आओ । [सदः सदः सदत] घर घरमें स्थित होओ । [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ और हमें [सर्ववीरं रयिं दधातन] सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ।

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे

उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ, तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो।

सुप्रणीति- जिसकी नीति उत्तम है अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है। यह मंत्र यजुर्वेद [१९।५९] में तथा अथर्ववेद [१८।३।४४] में भी आया हुआ है।

> त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ऋ० १०।१५।१२॥

हे [जातवेदः अग्ने] जातवेदस् अग्नि! [ईळितः त्वं] स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको [सुरभीणि कृत्वी] सुगंधित बनाकर [अवाट्] वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिए [प्रादाः] दे। [ते] वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती, अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें दी गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है। इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा दी गई सूक्ष्मरूप हविसे तृप्त नहीं हो सकता, यह बात निर्विवाद ही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है, पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है। स्थूल शरीरको खोराकमेंसे सूक्ष्म शरीरको थोडा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग हो जानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खोराक उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है। अन्नके बिना देहकी स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको खोराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए उनको हवि खानेके लिये ले आए, इत्यादि। हमारी समझमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे। मृत पितरोंको स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनेका उद्देश है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४२)में तथा यजुर्वेद(१९।६६)में भी आया हुआ है।

> ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३ ॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान् उ च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं, तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहिले इस लोकसे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविकी आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है। अतएव यही एक ऐसी है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि

कारण अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निसंबन्धी विशेष विवेचन हम पहिले अग्नि व पितरमें कर आए हैं, वहांसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६७) में है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते। तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१४॥

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावश) कामनाके अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जानेवाले शरीरको बना।

जिनका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे द्युलोकमें रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है।

असुनीति— जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। यह शरीर असुनीति है, क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध।

['ये निखाता ये परोप्ताः' इत्यादि अथर्व. १८।२।३४ में जो प्रेतके अंत्येष्टिसंस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं उनमेंसे दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् गाडना, बहाना और हवामें खुला छोडना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टिसंस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं, तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्निसे हुई है, वे अग्निदग्ध हैं।

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त।

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१५। १४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है। वहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके अर्थ-निर्णय को स्वयमेव कर देता है। ऋग्वेदका पाठ ऊपर हम दे आए हैं। यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है—

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६० ॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकता है। ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहां पर यजुर्वेदस्थ मंत्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है। और इसी प्रकार ऋग्वेदके मंत्र में जहां 'अनग्निदग्धाः' है, वहां-पर यजुर्वेदके मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सर्वथा समान है। थोडासा अक्षर व पुरुषभेद अंतिम पदमें है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें 'कल्पयाति' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें 'कल्पयस्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्नि-ष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही, अनग्नि-ष्वात्तका। अग्निदग्धका अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो। अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो।

'अग्निष्वात्ताः' का विग्रह इस प्रकार है— 'अग्निना ष्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः।' अर्थात् जिनको अग्निने स्वाद लिया है, जिनको अग्निने चखा है अर्थात् जिनको अग्निने जलाया है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्तके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

> यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः।
> श० २।६।१७ ॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टि संस्कार के बिना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्नि से हुआ है और

अनग्निष्वात्तका अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निसे नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्रमें मृत पितरों का ही उल्लेख है, यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संग्राममें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषद् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषद् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषद् पितर हमारे रोग, भयादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में दांया घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उसके पुत्रोंको धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवत्वको प्राप्त किए हुए यज्ञादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं, हवियां खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हव्योंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यहां है व जो यहां नहीं हैं, जिन पितरों को हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इत्यादि सर्व प्रकारके पितरोंको अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ द्युलोकके मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तकी देवता अग्नि है।

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं
चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो
जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥

ऋ० १०।१६।१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकयुक्त मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फेंक। इस के शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेत को परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्माको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे।

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारसे प्रार्थना करनी

चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देहके आसपासही मंडलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे शीघ्र मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहनके सिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चल रहा है कि मृत आत्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ है। (अथर्व० १८।२।४)

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
> यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
> ऋ० १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयनको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृत-शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।५) में भी आया है। इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। आत्मासे युक्त शरीरके, जिस समय आत्मा शरीरसे पृथक् होती है जिसे कि हम लौकिक भाषामें मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं यह बात इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, यह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है-

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमो-
> षधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१६।३ ॥

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि प्रकारसे (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोकको जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोकमें जा मिले। जहां जहांसे जो जो अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहांका कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें द्वितीय मंत्रके चतुर्थ पाद 'अथा देवानां वशनीर्भवाति' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।७) में भी आया हुआ है।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥
> ऋ० १०।१६।४ ॥

हे अग्नि! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात्

न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अज भागको (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भागको (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें (वह) प्राप्त कर।

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नानागुणविशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं कि मरनेपर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीरको क्या करना चाहिए तथा अग्निदाहके अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है, यह तृतीय मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन या स्पष्टीकरण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।८) में पाया जाता है।

> अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
> आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥
> ऋ० १०।१६।५ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए छोड़ दे अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा ' पितृभ्यः ' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड़। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अपना संतान (उपवेतु) दीर्घायुको प्राप्त करे, तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह अपने शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है।

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड़। क्योंकि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है, अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे। इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतानका है। ' शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति '। निरुक्त ३।२॥ इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्यका पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्निका ही है। यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१८।२।१०) में भी आया हुआ है।

> यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥
> ऋ० १०।१६।६॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीड़ा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) चींटी आदिके जन्तुओंने या, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीड़ा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

काले अनिष्टकारी पक्षी या चींटी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए दर्दको अग्नि व सोम दूर करें। जिनसे मृत्यु शरीर संयोग प्राणियोंसे होता है उनको अंदेशेसे इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है,

मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं। इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है,इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वह उन प्राणियोंके विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवको भस्ममें इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते। इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंसक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसे भी नीरोग की जा सकती है ऐसा कहा गया है।

> अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते॥ ऋ० १०।१६।७॥

हे प्रेत! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा।

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावें।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संपूर्णतया इसे जला दे। यहां पर उसी संपूर्ण दहनको लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वालारूपी कवचको पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले, जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जला दे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए। गो = घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंके नामभी गो शब्दसे कहे गये हैं। देखो, निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। नि० अ० २। पा० २॥

> इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते॥ ऋ० १०।१६।८॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीरकी दुर्दशा मत कर।

चमस— चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

हम इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है। अथर्ववेद १० काण्ड,सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अबतकके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबंधी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अंत्येष्टि संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसभक्षक अग्नि। और यह मांसभक्षण अंत्येष्टिमें शवदहनद्वारा अग्निको करना पडता है। जैसा कि अबतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके खानेसे मांसभक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस अग्निका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं।

> क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥
> ऋ० १०।१६।९॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करनेवाली यह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है, उन प्रदे-

शोंको चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्योंका वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

यह शव दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (क्रव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं, वह यमलोकमें चली जावे। यहांके कार्य संपादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है। वही- देवोंके लिए हव्योंका वहन करती रहे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनान्तर वह क्रव्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है। प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, शवदाहके अनन्तर यह क्रव्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है। एकवार जिस अग्निसे शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके वहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्म के लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। क्रव्यात्-क्रव्य=मांस, उसका भक्षक क्रव्यात्। निरुक्त अ. ६। पा. ३। खं. ११॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरुक्त अ० ५। पा. ३। खं. २१॥ यह मंत्र यजुर्वेद (३५। १९) में तथा अथर्ववेद (१२। २। ८) में भी आया हुआ है।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ ऋ० १०।१६।१०॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घरमें घुस गई है, (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं, हटाता हूं। (सः) वह क्रव्यात् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो क्रव्यात् अग्नि घुस गई है, उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करनेके लिए उस क्रव्यात् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् यह क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनुपयुक्त है। वह तो परम सधस्थ जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने भागको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति की जा सकती है। क्रव्यात् अग्निका घरोंमेंसे निकालनेका व उसे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनतामेंसे मृत्यु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है। 'परमे सधस्थ' – वह बड़ा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहांपर पूर्व मंत्रके साहचर्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोक भी परम सधस्थ है ही। यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२।२।७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर क्रव्यात् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मंत्रोंमें अग्निके प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है।

> यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
> प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥
> ऋ० १०।१६।११॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्यका अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ या सत्यसे बढनेवाले (पितॄन्) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्योंका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि 'मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं'।

अग्नि पितरोंका कव्यसे सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियोंका वहन करती है।

कव्य—उस हव्यका नाम है जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है। ऋतावृधः-ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका। जो यज्ञ व सत्यके बढानेवाले अथवा जो सत्य व यज्ञसे बढनेवाले हों। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६५) में भी है।

> उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
> उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
> ऋ० १०।१६।१२॥

हे अग्नि ! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू [हविषे अत्तवे] हविके खानेके लिए [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ।

हे अग्नि ! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद [१८।१।५६] में भी आया हुआ है। अगले दो मंत्रोंमें श्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥

ऋ० १०।१६।१३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यं) जिस प्रेतको तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुरेंके जलनेके स्थानपर (कियाम्बु) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास [रोहतु] उगे।

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे।

इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्या सु सं गम इमं स्व१ग्निं हर्षय ॥

ऋ० १०।१६।१४

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्यगुण-संपन्न ओषधियोंवाली ! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूलयुक्त वृक्षोंवाली पृथिवी ! [मण्डूक्या] मेंडकीके साथ [सु सङ्गम] अच्छी तरह संगत हो अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेण्डक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें। मेंडक पानीवाली जमीनमें रहता है। अतः मेण्डकीके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो। [इमं अग्निं सुहर्षय] इस अग्निको आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिडकनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्रमें दर्शाया गया है। इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्येष्टिपर विचार किया गया है, यह पाठक स्वयं जान सके होंगे

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में भेजती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्मा भी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके पटक अपने अपने

मंत्र ६

६ काले पक्षीसे, चींटीमकोडे आदि छोटे छोटे जन्तुओंसे, सर्पादिसे तथा जंगली हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कार्य करता है।

मंत्र ७

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृतकी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निकी बडी ज्वालाएं निकलें व शवको शीघ्र ही भस्मावशेष कर डालें।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका रसपान करनेका चमस है। इसीमें ये देव अपने अपने अंशसे आकर बसते हैं।

मंत्र ९

१० क्रव्यात् अग्नि पापका वहन करनेवाली है। उसका वासस्थान यमलोक है।

११ वह यज्ञादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०

१२ क्रव्यात् अग्निको घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। उसे घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिये।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। वह देवों व पितरोंकी हविद्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले आती है।

मंत्र १३

१५ शवके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको बुझा डालना चाहिये।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना-शाखाओंवाली दूर्वाघास उग आवे।

१७ और इसके लिए जहांपर एक शवका दहन किया गया हो वहांपर दूसरेका नहीं करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थान पर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भके अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

---

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्यने निरुक्तमें [illegible] मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। निरुक्त १२।२९ ॥ परन्तु इस व्याख्याके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। यहां सायणाचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥
>
> ऋ० १०।१३५।१ ॥

(वृक्षे) यह दृष्टोपमा है। इसी तरह (सुपलाशे) पांचव पत्तोंसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें। इस प्रकारके वृक्षमूल जिस प्रकार गर्मी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः) परिजनभूत देवोंके साथ (यमः) नियंता वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझे नचिकेताका जनक वाजश्रवस् (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) वहांपर चिरकालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप [illegible] नचिकेता रहे इस प्रकारसे मेरे लिए कामना करता है। 'नः' यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है। नचिकेता नामके पुत्रको वाजश्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है। अथवा इस यमस्थान नचिकेतासे भिन्न दूसरा कोई जाता था। उसने यह (यदृच्छया यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस प्रकार स्तुति की — उत्तम पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुंदर स्थानमें

(यम) आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियोंके साथ गमन करता है। उपसर्गके साथ आनेसे ' पिबति ' यहांपर गत्यर्थक है। व्यत्ययसे आत्मने पद हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थानमें स्थित [विश्पति] प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि दानसे पालक और प्राणरूपसे सबका जनक वह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनवाले हम लोकोंकी (अनुवनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी [अनुवेनति] अनुक्रमसे कामना करता है।

सूक्ष = जहांपर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मोंकी थकान्दको दूर करनेके लिए विश्रान्ति लती है।

पिता = यम।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥

ऋ० १०।१३५।२ ॥

(पुराणान् अनुवेनन्त) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरों का अनुगमन करूं यानि यमलोकमें जाऊं इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्त) इस पापपूर्ण निकृष्ट बुद्धिके साथ वर्तमान पिता वाजश्रवसको (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने ' मृत्युके पास जा ' इस प्रकार कहा अतः) (असूयन्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकताने) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था ऐसी हालत में जब पिताने मुझे यह कहा कि ' मृत्युके पास जा ' तो मैंने बडी दुःखभरी निगाहसे उसकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की। [आदित्यके पक्षमें] अथवा [पुराणान्] पुरातन स्तुति करने-

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥

ऋ० १०।१३५।३ ॥

नचिकता नामवाले कुमार को यम इन ऋचाओंसे व अगली ऋचाओंसे ललचानेका प्रयत्न करता है— हे कुमार ! [नव] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहले तूने कभी नहीं देखा और जो [अचक्र] पहियोंसे रहित व [एकेष] एकप है तो भी [विश्वतः प्राञ्च] सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे [यं रथ] मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथको तूने [मनसा अकृणोः] मन से बनाया और बनाकर [अपश्यन्] कर्तव्य अकर्तव्य विभाग को न जानता हुआ उस रथपर तू [अधितिष्ठसि] सवार हुआ हुआ है। आदित्यके पक्षमें अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिका आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेष) एक प्राण ईषास्थानीय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है, उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है संकल्पात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक या अपुण्यात्मक कर्म किये जाते हैं। और उन कर्मोंद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरंभ होता है। इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिष्पादकत्व है।

एकेष—एक है ईषा जिसकी। ईषा—धुरा।

इस मन्त्रमें कुमारके प्रति यमकी उक्ति है एसा म० ग्रिफिथ का कथन है।

प्रावर्तत) अनुगमन किया है। अर्थात् जब तू भूलोकसे संकल्प रूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनाने किया।

आदित्य के पक्षमें--अथवा हे कुमार ऋषि! तूने जिस शरीररूपी रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेधावियोंके बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व [नावि] नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करते हैं।

> कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
> कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥
>
> ऋ० १०।१३५।५॥

[कः कुमारं अजनयत्] किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया? निन्दा अर्थमें किं शब्द है। इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है? अच्छा, यह बात जाने दो। [कः] किस पुरुषने इस बालक-को यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको [निरवर्तयत्] प्रवृत्त किया? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है। [यथा] जिस प्रकारसे यह कुमार [अनुदेयी अभवत्] अनुदेयी होता है [तत्] इस बातके कथनको [अद्य] इस कालमें [नः] हमें [कः स्वित् ब्रूयात्] भला कौन कहेगा? पहिले यमके पास जाकर फिर वहासे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है। [आदित्यके पक्षमें] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताकी असंभवता को निन्दावाची किं शब्दसे दिखलाता है-- इस कुमारको किस पिताने पैदा किया? किसीने भी नहीं। 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति श्रुत्युक्तरूप मैं हूं। और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया? मेरे सिवाय दूसरा संचालक नहीं है और वैसेही अन्यनिर्वर्त्य (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है। इस समय सर्वात्म्यानुभव दशामें उस प्रकारको कौन भला मुझे कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे? यह प्रकार भी दुर्वचनीय है ऐसा इसका अर्थ है।

> यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥ ऋ० १०।१३५।६॥

(अनुदेयी) पिताको पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस वाजश्रवस् पितासे [अग्रं] यमके पास जा इस प्रकारके वचनके आगे वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए 'तं वै प्रवसंतं गन्तासीति होवाच' इत्यादि [तै० ब्रा० ३।११।८] ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उक्त अग्रका मूलभूत 'यमके घरको जा' यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था। अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोडकर (निरयणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया। (आदित्यपक्षमें) अथवा [अनुदेयी] अपनेको अनुदातव्यआत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार (ततः) उस मायाविशिष्ट आत्माका [अग्रं] सङ्कल्पविकारका आद्य मनस्तत्त्व उत्पन्न करनेकी इच्छारूप कारण उत्पन्न हुआ। [पुरस्तात्] सृष्टिसे पहिली अवस्थामें [बुध्नः] मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था। [पश्चात्] तमस् की उत्पत्तिके बाद [निरयणं] तद्भूत कार्योंका उस कारणसे निर्गमन अर्थात् घटपटादिभेदसे स्वरूपका आलंभन ब्रह्माने किया। अर्थात् कारण-जगत्को कार्य जगत्के स्वरूपमें लाया। तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्य के अनुग्रहसे ब्रह्मभावको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारसे व्यतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है।

> इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
> इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥
>
> ऋ० १०।१३५।७॥

यह [यमस्य] नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रका [सदनं] स्थान है। जो कि सदन [देवमानं उच्यते] देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-साधन कहा जाता है। इस यमकी प्रीत्यर्थ [इयं नाळीः] यह वाद्यविशेष वंश-बजाया जाता है। अथवा नाळी यह वाणीका नाम है। यह स्तुतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है। इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है। 'परिष्कृतः सपर्युपेभ्यः' इत्यादिसे सुडागम होता है। 'परिनिविभ्यः' इत्यादिसे षत्व हुआ है। 'गतिरनंतर' इत्यादिसे गतिका प्रकृतिस्वरत्व।

—•—

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। म्रियमाण यजमानादियोंका वर्णन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
ऋ० १०।१५४।१॥

[एकेभ्यः] कईयोंके लिए [सोमः पवते] सोम रस बहता है। और [एके] कई [घृतं उपासते] आज्यका उपभोग करते हैं। इनको व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिए मधु धाराछपसे बहता है, [तान् चित् अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्यका उपभोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत ! तू प्राप्त हो।

शवदहनादि अंत्येष्टिक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदियोंका कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचान्द्रायणादि नानाविध तप करनेके कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्गको गए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे। दिखलाकर तपस्वियोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत ! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामोंमें (युध्यंते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो उन संग्रामोंमें (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जो शूर वीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोगोंको हे प्रेतात्मा ! तू प्राप्त हो- तेरे लिये सद्गति होवे।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीता में ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' आदि युद्ध में मरनेसे सद्गति होती है, ऐसे द्योतक वाक्योंको यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरता से युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोगोंका बड़ा पुराना दृढ विश्वास चला आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥

ऋ० १०।१५४।५ ॥

(ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तपसे युक्त ऋषीयोंकी जो कि (तपोजान्) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहासे जाकर प्राप्त हो।

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा ! तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो। निकृष्ट लोकोंमें मत जा।

इस सूक्तके मनोयोग दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक या उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पाचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोगोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मासे कहा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर। अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो। इनसे हीन इतरोंको प्राप्त मत हो। ये पांच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु परलोकके हैं, ऐसा मंत्रों से पता चलता है। अतः 'तान् चित् अपि गच्छतात्' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले। सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना, लडाईमें पराक्रमके साथ शरीर-त्याग करना, नानाविध दान करना, सत्याचरण इत्यादि साधन बताए गए हैं। यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद (काण्ड १८ सूक्त २ मंत्र १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१-यज्ञ करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है।

मंत्र २

२-तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३

३-जो संग्रामोंमें युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

मंत्र ४

५-तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करते हैं।

मंत्र ५

६-हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

उपसंहार।

पितृलोक।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- [१] पृथिवी [२] अंतरिक्ष [३] द्युलोक [४] पिताका कुल या घर [५] पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चले आए हैं वह देश। इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है।

पितृयाण।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयाण है। इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है [देखो ऋ० १०।२।७] और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदिकोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है। जो मनुष्य देवहिंसक है वह कभी भी पितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता। यह पितृयाणमार्ग 'सूर्य-किरणें' भी हैं ऐसा ऋ० ११।०।१७ से पता चलता है। अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पडता है। ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शाए गए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृयाणमार्गको जानती है। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सब प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों या अदृश्य हों, किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है; उनके लिए हवि पहुंचाती है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयाणमार्ग है, वह

पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है।

पितरों के कार्य।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं-[१] शत्रुओंसे, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, [२] सूर्यप्रकाश देना, [३] पापसे छुडाना, [४] सुख देना व कल्याण करना, [५]गर्भ धारण करना, [६] मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना, [७] नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना, [८] दीर्घायु देना, [९] मृतका पुनरुज्जीवित करना, [देखो अथर्व० १८।२।२६] इत्यादि।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरोंके प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं- [१] नित्य प्रति पितरोंको सम्मानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। [२] उनको स्वधा देनी चाहिए। [३] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए। किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वय निर्णय करता है। मंत्र इस प्रकार है-

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। [४] पितरोंके शर्म का विस्तार करना। हमें चाहिए कि इस हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्यमें लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं।

प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए। इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व० ८।१२।३ व ४ से पता चलता है।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणसे देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है-[१] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है। [२] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहन भी है। पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है। [३] अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती है इतनाही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नही हैं और जिनको हम जानते हैं या नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है। [४] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है। [५] अग्नि प्रेत प्राणको पितरोंके पास पहुंचाती है। [देखो ऋ० १०।१७।३ और १०।१६।१) [६] अग्नि उषा देती है, जीवितोंकी आयु बढाती है और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं। [अथर्व० १२।२।४५] [७] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्युओंको यज्ञसे भगाती है। [८] अग्नि अपने द्वारासे पितरोंमें प्रवेश करती है।

क्रव्याद् अग्नि।

संभवतः जिस अग्निका अंत्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है—

क्रव्याद् अग्निको यमके राज्यमें भेज दिया जाता है, क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है। क्रव्याद् अग्निका संबंध यम-लोकसे है। उसका उपादान अंत्येष्टिमें प्रयोग होता है। क्रव्याद् अग्निद्वारा दाहन करनेसे पितरोंको भाग मिलता है। पितर क्रव्याद् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जाते हैं। पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है।

देश करते हैं। उनको यज्ञमें सोमपान करनेके लिए बुलाया जाता है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं-- (१) मरनेसे पूर्व मरणासन्नके दांये हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है। (२) प्राण निकलनेपर शवको जलस्नान कराया जाता है। (३) स्नानके बाद श्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है। (४) श्मशान ग्रामसे बाहिर होना चाहिए। (५) शवको बैलगाडीसे लेजाया जाता है। (६) श्मशान—भूमिसे विघ्न-कारियोंको दूर भगाना चाहिए। (७) प्रेतको जलाया जाता है। (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है। (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है। (१०) हवामें खुला छोड दिया जाता है। (११) अंत्येष्टि के समयपर प्रार्थनायें की जाती हैं।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर।

उत्पन्न करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमें भी बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है- (१) पिता अर्थमें, (२) ज्ञानी अर्थमें, (३) राजसभाके सभासद के अर्थमें, (४) सैनिक अर्थमें, (५) प्राण अर्थमें, (६) पालक रक्षक आदि अर्थोंमें, (७) ऋतु अर्थमें, (८) ऋतु अर्थमें।

प्रकारका कष्ट नहीं होता। (४) यमलोकस्थके लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८।४।३१ व १८।४।४३ से पता चलता है। (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है। (६) पितरोंकी तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है।

द्युलोकमें यमलोक।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है। (१) अथर्व० १८।२।१० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमलोक द्युलोकमें दक्षिणकी ओर है। [३] पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है। (४) पितृलोक यमके राज्यमें है। [५] यमलोक दक्षिणकी ओर द्युलोककी समाप्तिपर है।

यमदूत।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुत्ते मुख्य हैं। वे दोनों कुत्ते लम्बी लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले तथा लोकके मार्गरक्षक हैं। इनमेंसे एक कुत्ता काला है व दूसरा चितकबरा। वे दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगे हुए हैं। वे मार्गके सुख होनेवाले हैं। संभवतः इस प्रकारके वे दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। आलंकारिक वर्णनसे दिन व रातका यह वर्णन है। यमके कुत्तोंके प्राणः बहुतसे विशेषण दिन व रातमें चार और ...

(ऋ० १०।१४।१३) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४।५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणको पढनेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय है—

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहांसे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।१)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी रूप है।

यम कौन है ?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर यहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। वहांपर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है—

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व यह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्यद्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उसके साथही यत्र तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमतिसे स्वर्ग मिलता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोडकर निम्न-लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है- [१] युगल अर्थमें। [२] नियम अर्थमें। [३] जीवात्मा अर्थमें। [४] ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। [५] आचार्य अर्थमें। [६] वायु अर्थमें और [७] सूर्य अर्थमें।

॥ समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची ।

